TEXT CUT WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182916

UNIVERSAL
LIBRARY

हिन्दी साहित्य
समस्याएं और समाधान

प्रकाशक
जगदीशचन्द्र गुप्त
अशोक प्रकाशन
नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण १९६१

मूल्य : ५.००

मुद्रक

समर्पित

श्रद्धेय डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी

को

जो न केवल साहित्यकार, आलोचक एवं शोधकर्ता के रूप में अपितु मनुष्य के रूप में भी महान् हैं; जिनकी महानता का रहस्य इन पंक्तियों में निहित है—"जो व्यक्ति सहज होता है वही महान् होता है। मनुष्य का सहज औदार्य, उसका सहज आनन्दन रूप और उसका सहज सारस्य उसकी बहुत बड़ी सम्पत्ति है। वह उसे तो महान् बनाती ही है, उसके सम्पर्क में आने वाले को भी महान् बनाती है।....."

(हिन्दी-साहित्य : उद्भव और विकास; पृष्ठ ३६६)

●

यह भी एक समस्या है !

सचमुच अपनी पुस्तक की भूमिका लिखना भी एक समस्या है। लिखी यह सबसे अन्त में जाती है, किन्तु दी जाती है सबसे आरम्भ में; अतः एक तो यह अपने आप में स्वतोव्याघात दोष से युक्त होती है। दूसरे, लेखक की स्फूर्ति इस समय अपने अन्तिम क्षणों में होती है जबकि पाठक की उत्सुकता का अभी आरम्भ मात्र हो पाता है—दोनों के अन्तर की इस गम्भीर खाई को पाटने का यह दुःसाध्य कार्य भूमिका से सम्पन्न होना चाहिए—ऐसी भूमिका-लेखक से आशा की जाती है !

फिर इतना ही नहीं—भूमिका में क्या लिखें और क्या नहीं; कितना लिखें और कितना नहीं—सुसम्बद्ध लिखा तो मूल विषय की ही पुनरावृत्ति हो गई और असम्बद्ध लिखा तो लिखने का प्रयोजन ही क्या ! थोड़ा लिखा तो विद्वानों की उत्सुकता ही जाग्रत नहीं होती और यदि अधिक लिखा तो भय है तो कहीं पाठक की प्रयत्न-लाघवता मूल पुस्तक का काम भूमिका से ही न चला ले। और इतना ही नहीं—भूमिका में यदि 'मैं पंडितन्ह केर पिछ लग्गा' कहकर अपनी हीनता प्रकट कीजिए तो स्पष्ट ही अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारना है और यदि अपनी रचना की विशेषता बताएँ तो समझ लीजिए कि अपने मुंह मियाँमिट्ठू बनकर अपना दम्भ प्रकट करना है ! ये अनन्त कठिनाइयाँ हैं, फिर भी भूमिका लिखे बिना छुटकारा नहीं !

हां, यदि भूमिका का लक्ष्य पुस्तक के आधारभूत विषय का संक्षेप में दिग्दर्शन कराना है तो मैं कहूँगा कि प्रस्तुत रचना में इतिहास और आलोचना सम्बन्धी कुछ ऐसे पक्षों को लिया गया है जो पर्याप्त विवादास्पद हैं—जिनकी विवादास्पदता अपने आप में एक समस्या बन गई है। इतिहास सम्बन्धी विषयों में सर्व-प्रथम आदिकाल ही है जिसे श्रद्धेय आचार्य हजारीप्रसाद जी ने अत्यन्त 'विरोधों और स्वतोव्याघातों' का युग बताते हुए स्वीकार किया है कि 'इस काल की कहानी को स्पष्ट करने का प्रयत्न बहुत दिनों से किया जा रहा है तथापि उसका चेहरा अब भी अस्पष्ट रह गया है।' और यही बात आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी विवशता प्रकट करते हुए कही थी—"इसी संदिग्ध सामग्री को लेकर जो थोड़ा-बहुत विचार हो सकता है उसी पर हमें सन्तोष करना पड़ता है।" कहने का तात्पर्य यह है कि शुक्ल जी के अनन्तर लगभग २५ वर्षों में इस काल की समस्या सुलझने की अपेक्षा और अधिक जटिल हुई है। ऐसा क्यों ?

इतिहास-लेखन के समय ऐसी समस्याएँ तब उपस्थित होती हैं जबकि हम तथ्यों की उपेक्षा करके कल्पना के आधार पर उसका भवन खड़ा करना चाहते हैं। यह हिन्दी का सौभाग्य है कि उसे एक-से-एक बढ़कर विद्वान् प्रतिभाशाली इतिहास-लेखकों का योग-दान मिलता रहा है; किन्तु एक प्रश्न ऐसा है जिसका समाधान करते समय हमारे ये विद्वान् विद्वत्ता की अपेक्षा प्रतिभा का तथा तथ्य की अपेक्षा कल्पना का अधिक आश्रय ग्रहण करने लगते हैं। वह प्रश्न हिन्दी साहित्य के आदिकाल का ही है। तथ्य यह है कि हिन्दी साहित्य के तथाकथित आदिकाल के पास हिन्दी की कोई रचना नहीं है (कारण उसका चाहे जो कुछ हो) किन्तु हमारे विद्वान् कुछ काल्पनिक रचनाओं के आधार पर इसका भवन खड़ा करना चाहते हैं। प्रारम्भ में मिश्र-बन्धुओं ने आदिकाल के नाम पर पुस्तकों की ऐसी नामावली प्रस्तुत की जो शुक्ल जी के शब्दों में 'नोटिसमात्र' हैं; किन्तु मिश्रबन्धुओं की जिस भूल का संशोधन शुक्ल जी ने किया था वही भूल वे स्वयं कर गये। शुक्ल जी की भूल का संशोधन करते हुए द्विवेदी जी ने उनके वीरगाथा-काल को 'नोटिस मात्र' रचनाओं के आधार पर स्थित सिद्ध किया—किन्तु

स्वयं द्विवेदी जी भी पूर्व परम्परा का निर्वाह करते हुए अपने आदिकाल का अस्तित्व उन रचनाओं की पुण्य-स्मृति में बनाये रखना चाहते हैं जो तत्कालीन गाहड़वाल नरेशों की उपेक्षा के कारण विलुप्त हो गईं। अन्यथा आचार्य श्री द्विवेदी जी स्पष्ट रूप में घोषित करते हैं--"इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का काल, जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है।" सम्भवतः यहाँ पाठक को यह भ्रान्ति हो सकती है कि भाषा को छोड़कर बाकी दृष्टिकोणों से यह साहित्य हिन्दी का ही होगा, किन्तु वास्तविक बात यह नहीं है। 'भाषा की दृष्टि' ही यहाँ प्रमुख दृष्टि है --अन्यथा कालिदास और रवीन्द्रनाथ ठाकुर को हिन्दी का कवि कहने में क्या अड़चन है ? भाषा की दृष्टि से ही तो हम ऐसा नहीं कर पाते। आचार्य जी ने अपने 'हिन्दी साहित्य' ग्रंथ में 'भक्तिकाल' शीर्षक के साथ "वास्तविक हिन्दी साहित्य का आरम्भ" विशेषण का प्रयोग करके भी यह जता दिया है कि इससे पहले का साहित्य हिन्दी का अवास्तविक साहित्य है। निःसन्देह हमारा हिन्दी-प्रेम हिन्दी साहित्य के आरम्भकाल की सीमाओं को दो-तीन शताब्दियों आगे ले जाने का विरोध करता है; इससे हिन्दी साहित्य की प्राचीनता को ठेस लगती है—किन्तु इस कटु सत्य को स्वीकार किये बिना भी कोई चारा नहीं है।

हिन्दी साहित्य का तथाकथित 'भक्ति-काल' भी कम समस्यापूर्ण नहीं है। किन्तु इसकी समस्याएँ आदिकाल से थोड़ी भिन्न हैं। आदिकाल के सम्बन्ध में हमें पता था कि उसका रोग क्या है और साथ ही यह भी पता था कि उसका उपचार क्या है। किन्तु फिर उसमें विलम्ब इसलिए हुआ कि वह उपचार पी जाने वाली औषधि के रूप में न होकर उस शल्य चिकित्सा के तुल्य था जिसमें शरीर के किसी अवयव को काट फेंकना अनिवार्य हो जाता है। अतः झिझक और बिलम्ब का होना स्वाभाविक था। भक्तिकाल की स्थिति यह है कि अनेक संक्रामक कीटाणु इसमें प्रविष्ट हो गये हैं किन्तु उनका परिणाम अभी तक उभर कर ऊपर नहीं आया जिन रासो काव्यों तथा अन्य रचनाओं को पहले हम वीरगाथा काल के खाते में रखकर निश्चिन्त हो गये थे, वे अब कहाँ रक्खी जायँगी ? रचना-का

की दृष्टि से उनमें से अधिकांश भक्ति-काल की सीमा में पड़ती हैं—अतः वीरगाथाकाल को भक्तिकाल का पूर्ववर्ती मानने के स्थान पर उसका समकालीन मानना होगा, या यों कहिए कि एक ही काल में दो धाराएँ एक साथ बह रही थीं; जहाँ धर्माश्रय में भक्ति की मंदाकिनी बह रही थी वहां राज्याश्रय में वीरता की तरंगिनी उद्वेलित हो रही थी। ऐसी स्थिति में 'भक्तिकाल' नाम अपने युग का आंशिक प्रतिनिधित्व ही कर पाता है, उसकी की गई समस्त व्याख्याएँ उसके एक ही पक्ष को प्रस्तुत कर पाती हैं। वैसे देखा जाय तो भक्तिकाल का परंपरागत वर्गीकरण भी असंगतियों से मुक्त नहीं है। भक्ति का सम्बन्ध सगुण से बताया जाता है जबकि उसकी दो प्रमुख धाराएँ निर्गुण को मानती हैं। फिर सन्तों की उस धारा को जिसमें 'प्रेम के ढाई अच्छरों' के सम्मुख समस्त ज्ञान की उपेक्षा की जाती है—'ज्ञानमार्गी' विशेषण से विभूषित करना कहाँ तक न्याय है! कहने का तात्पर्य यह है कि भक्तिकाल के जिस रूप से हम परिचित हैं, वह उसका एक ही पक्ष है, तत्सम्बन्धी ज्ञान भी एक ही दृष्टिकोण की उपलब्धि है, किन्तु जब हम उसके अन्य पक्षों और अन्य दृष्टिकोणों से उस पर विचार करेंगे तो पता चलेगा कि उसमें कितने संशोधन एवं परिवर्तन की संभावनाएँ निहित हैं।

यही स्थिति रीतिकाल की है। रीतिकाल का आरम्भ स्पष्टतः ही केशवदास से होता है, जिनका रचनाकाल सामान्यतः १६५० वि० के आस-पास माना जाता है। किन्तु फिर भी रीतिकाल का आरम्भ उनके ५० वर्ष पश्चात् सं० १७०० वि० से माना जाता है, जिससे केशव, बिहारी, जसवन्तसिंह जैसे अनेक रीतिबद्ध शृङ्गारी कवि भक्तिकाल की सीमा में आ पड़ते हैं। यदि तथ्यों को ध्यान में रख कर विचार किया जाय तो प्रत्येक दृष्टि से केशवदास ही नये युग के प्रवर्त्तक सिद्ध होते हैं। केशवदास की प्रत्येक रचना ने एक विशिष्ट काव्य-परम्परा को जन्म दिया है। उनकी 'कवि-प्रिया' ने अलंकार-ग्रन्थों की परम्परा को, 'रसिक-प्रिया' ने रस-नायिका-भेद की परम्परा को, 'नख-शिख' ने नख-शिख-वर्णन की परम्परा को, 'रामचंद्रिका' ने पौराणिक प्रबन्ध काव्यों की परम्परा को, वीरसिंह जू चरित, रतन-बावनी और जहांगीर-

जस-चंद्रिका ने ऐतिहासिक चरित काव्यों की परम्परा को तथा विज्ञान-गीता ने नीति और वैराग्य सम्बन्धी ग्रन्थों की परम्परा को जन्म दिया। इन परम्पराओं में न केवल केशव द्वारा प्रयुक्त विषय-वस्तु का प्रयोग हुआ, अपितु उनकी शैली और छन्द-योजना का भी प्रायः अनुगमन हुआ है। जिस काल को अब तक 'रीतिकाल' कहते हैं, उसमें केवल एक ही काव्य-परम्परा नहीं—अनेक काव्य-धाराएँ साथ-साथ प्रवहमान हैं—उनमें प्रमुख और गौण का सापेक्ष क्रम निर्धारित किया जा सकता है, किन्तु किसी एक परम्परा को इतना अधिक महत्त्व देना कि शेष का अस्तित्व ही धूमिल हो जाय—यह एकांगी दृष्टिकोण की विशेषता है। आचार्य शुक्ल ने रीतिकाल के 'फुटकल खाते' में इन सब परम्पराओं को छः वर्गों के खानों में जो स्थान दिया है, वह अपर्याप्त है। जब इतिहास का विभाजन 'धाराओं' के आधार पर किया गया है तो यह 'वर्ग' किस बात का नाम है ? वस्तुतः ये 'वर्ग' मात्र नहीं—धाराएँ हैं, किन्तु यदि थोड़ी देर के लिए हम 'वर्ग' ही मान लें तो भी इन्हें रीतिकाल से पृथक नहीं कर सकते। प्रश्न है, इन सब धाराओं और वर्गों का प्रेरक कौन है—चिन्तामणि या केशव ? स्पष्ट ही जिस प्रकार भारतेन्दु युग के अनेक साहित्य-रूपों और धाराओं—निबन्ध, नाटक, कविता, इतिहास आदि-आदि—के प्रवर्तक भारतेन्दु हैं ठीक उसी प्रकार तथाकथित रीतिकाल के प्रायः विविध काव्य-रूपों, काव्य-वर्गों एवं काव्य-धाराओं के प्रवर्त्तन का रहस्य केशव-साहित्य में निहित है। इस मूल उद्गम-स्रोत को पहचाने बिना रीतिकाल को समझने का प्रयास सफल नहीं हो सकता।

केशवदास को रीतिकाल का प्रवर्तक न मानने के पक्ष में आचार्य शुक्ल ने तीन तर्क दिये हैं। एक तो यह कि केशवदास जी भामह-दंडी की परम्परा को मानने वाले अलंकारवादी थे, जबकि परवर्ती हिन्दी कवि मम्मट, विश्वनाथ आदि के अनुयायी थे—या यों कहिए कि अलंकारवादी नहीं थे। दूसरे, केशव और परवर्ती कवियों की प्रतिपादन-शैली में अन्तर है। तीसरे, रीति-ग्रन्थों की परम्परा केशव के पचास वर्ष पश्चात् चिन्तामणि से चली। यदि हम पूर्व पोषित धारणाओं से मुक्त होकर निष्पक्ष रूप से इन तर्कों पर विचार करें तो इनकी अशक्तता स्पष्ट रूप में प्रकट हो जायगी। सबसे पहले केशव के

अलंकारवादी होने की बात ही लीजिए। केशवदास ने अलंकार को उतना ही आवश्यक माना है, जितने कि नारी के लिए आभूषण आवश्यक हैं—"भूषण बिनु न विराजई, कविता बनिता मित्त !" यह धारणा भामह-दंडी की धारणा के प्रतिकूल है। भामह-दंडी आदि अलंकारवादी अलंकार को काव्य का स्थायी, नित्य और अविभाज्य तत्त्व मानते हुए उसे काव्य की आत्मा मानते हैं, जब कि आभूषणों का सम्बन्ध नारी के व्यक्तित्व से गहरा होते हुए भी अस्थायी, अनित्य और विभाज्य होता है। अतः अलंकार को आभूषणों के तुल्य मानने का तात्पर्य यह नहीं है कि वे उसे काव्य की आत्मा मानते थे। किन्तु यदि आभूषणों के तुल्य अलंकारों का महत्व स्वीकार करने का तात्पर्य अलंकारवादी होना माना जाय तो फिर आचार्य विश्वनाथ तथा केशव परवर्ती अधिकांश रीति कवि—चिन्तामणि, देव, श्रीपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रताप साहि आदि सब अलंकारवादी माने जायेंगे क्योंकि इन सबने अलंकारों को आभूषणों के तुल्य महत्वपूर्ण माना है; देखिये—

विश्वनाथ—'**रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत्**' १०।१

अर्थात् अंगद (बाजूबंदादि आभूषण) की तरह अलंकार रस के उपकारक होते हैं।

चिन्तामणि—'**अलंकारहारादि उपमादि मन आनि।**'

देव—'**अलंकार भूषण सुरस जीव छन्द तन भाख।**'

श्रीपति—'**तदपि न भूषण बिनु लसै बनिता कविता रूप।**'

सोमनाथ—'**भूषण जुत कवि कर्म जो सो कवित्त कहि सुद्ध।**'

भिखारीदास—'**रस कविता को अंग, भूषन हैं भूषन सकल।**'

प्रताप साहि—'**शब्द अर्थ कहि देह पुनि भूषण भूषण जानि।**'

स्पष्ट है कि क्या विश्वनाथ, क्या केशव और क्या परवर्ती रीति कवि—सब एक स्वर से अलंकार को आभूषणों के तुल्य मानते हैं। अतः केशव को विश्वनाथ की लीक पर या परवर्ती कवियों को केशव की लीक पर न मानने में क्या संगति है ? फिर हमें यह भी न भूल जाना चाहिए कि केशव ने 'रसिक प्रिया' में नव रसों का विवेचन विशुद्ध रस-सिद्धान्त के आधार पर करते हुए रस को काव्य का आवश्यक तत्त्व माना है—

"तातें रुचि सों सोचि पोचि कीजै सरस कबित"

यह पंक्ति ठीक नव-रस प्रतिपादन के आरम्भ में कही गई है, अतः यहां 'सरस' का अर्थ निश्चित रूप से ही 'रस सहित' है। यदि केशव भामह और दंडी के संप्रदाय के होते तो नव-रस का विधान क्यों करते ?

केशव ने 'कवि-प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' में दो शैलियों का अनुगमन किया है—कहीं दोहे में ही लक्षण और उदाहरण दोनों का निर्देश कर दिया है, जैसा कि उन्होंने 'कवि-प्रिया' के दोष-वर्णन प्रसंग में किया है और कहीं दोहे में लक्षण और कवित्त-सवैये में उदाहरण दिया है—रसिक-प्रिया में मुख्यतः ऐसा ही किया गया है। इन्हीं दो शैलियों का प्रयोग परवर्ती रीतिबद्ध कवियों ने किया है जबकि शुक्ल जी ने इनमें से एक शैली को ही केशव की देन माना है। केशव और चिन्तामणि के बीच की काल-सीमा को मिलाने वाले बीसों रीति कवियों का नाम इतिहास में प्राप्त है—जिनमें कुछ उल्लेखनीय ये हैं—मोहनदास, बालकृष्ण, व्रजपति, मुबारक, सुन्दर, लीलाधर, तोष, जसवन्तसिंह आदि। इन कवियों का विस्तृत विवरण अन्यत्र देखा जा सकता है। अस्तु, आचार्य शुक्ल के तीनों तर्क निस्सार सिद्ध हो जाते हैं। वस्तुतः केशवदास ही उस नये युग के प्रवर्तक थे—जिसे 'रीतिकाल' कहा जाता है।

आधुनिक युग के अधिक समीप होने के कारण ऐतिहासिक दृष्टि से तो अधिक समस्याएँ नहीं हैं, किन्तु मूल्यांकन एवं तत्त्व-विश्लेषण की दृष्टि से अनेक विषय विवादास्पद हैं। इनमें से कुछ को हमने अपने दृष्टिकोण से सुलझाने का प्रयत्न किया है। अपवाद स्वरूप कुछ लेख ऐसे भी आ गये हैं जिनमें विवादास्पद विषयों के स्थान पर सामान्य विषयों को लिया गया है—ऐसा पुस्तक के क्षेत्र को कुछ अधिक व्यापकता प्रदान करने के लिए ही किया गया है—इसमें यदि 'औचित्य' की अपेक्षा 'मोह' ही अधिक दिखाई दे तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।

अंत में मैं उन श्रद्धेय विद्वानों से क्षमा चाहता हूँ जिनकी मान्यताओं के विपरीत कुछ लिखने के लिए यहाँ विवश हुआ हूँ। मुझे उनकी सत्य-प्रियता और

उदारता में विश्वास है और इसी विश्वास ने मुझे ऐसा करने का साहस प्रदान किया है। पुस्तक में मेरी अपनी बुद्धि की न्यूनता या टाइपिस्ट की शीघ्रता अथवा मुद्रक की असावधानी के कारण जो भी दोष आ गये हों, उनके लिए सहृदय पाठकों से क्षमा चाहता हूँ—इतना ही नहीं, उनके सम्बन्ध में मुझे अवगत कराने की प्रार्थना भी करता हूँ ताकि भविष्य में अपेक्षित सुधार हो सके। अस्तु, अनेक आशाओं, आशंकाओं और आकांक्षाओं के साथ पुस्तक पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करता हूँ।

हिन्दी-विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चंडीगढ़

गणपतिचन्द्र गुप्त
१०-१२-६०

१. आदिकाल का अस्तित्व कहाँ है ?

हमारे इतिहास-लेखकों ने काल-विभाजन करते हुए संवत् १०५० से १३७५ तक के समय को हिन्दी-साहित्य का आदिकाल माना है। इस काल की रचनाओं में वीरगाथात्मक साहित्य की प्रमुखता बताते हुए आचार्य शुक्लजी ने इसे 'वीरगाथा-काल' नाम दिया है। किन्तु उन्होंने जिस सामग्री के आधार पर इस काल का नामकरण, सीमा-निर्धारण व अन्य विवेचन किया, वह सामग्री ही अप्रामाणिक या बहुत बाद की लिखी हुई है। इस बात का आभास स्वयं शुक्लजी को भी मिल गया था। इसीलिए 'हिन्दी-साहित्य के इतिहास' में उन्होंने अपनी विवशता इन शब्दों में प्रकट की थी—'इसी संदिग्ध सामग्री को लेकर जो थोड़ा-बहुत विचार हो सकता है, उसी पर हमें सन्तोष करना पड़ता है।' वस्तुतः इस संदिग्ध सामग्री के आधार पर किया गया विवेचन कई जगह असंगत व दोषपूर्ण बन गया है, जिस पर अर्वाचीन शोध-कार्य से प्राप्त नवीन तथ्यों के प्रकाश में पुनर्विचार करने की गहरी आवश्यकता है।

जिन बारह रचनाओं के आधार पर आचार्य शुक्लजी ने वीरगाथा-काल के विशाल भवन का निर्माण किया था, उनमें कुछ तो हिन्दी की जननी अपभ्रंश से उधार ली गई हैं, कुछ ऐसी हैं जो असंदिग्ध रूप से १६वीं शताब्दी के भी बाद की लिखी हुई हैं, कुछ का मूल रूप प्राप्य नहीं और कुछ ऐसी हैं जिनका नाममात्र 'राठोडां री ख्यात' आदि पुस्तकों में मिलता है, उनके अस्तित्व का कोई पता नहीं। हिन्दी-साहित्य के 'वीरगाथा-काल' के अस्तित्व निर्माण के लिए अपभ्रंश की रचनाओं को भी सम्मिलित कर लेना उचित नहीं प्रतीत होता। अपभ्रंश से केवल हिन्दी का ही नहीं अन्य प्रान्तीय भाषाओं का भी सम्बन्ध है, अतः उस पर हिन्दी का एकाधिपत्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। अन्यथा, चार रचनाओं को ही क्यों, सातवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक में लिखे गये सारे अपभ्रंश-साहित्य को भी सम्मिलित कर लिया जाता।

वीरगाथा-काल की हिन्दी-रचनाओं में 'बीसलदेव रासो' और 'खुमान रासो' का रचना-काल विभिन्न विद्वानों द्वारा सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी सिद्ध किया जा चुका है जिससे ये वीरगाथा-काल की सीमा से शताब्दियों दूर पड़ जाती हैं। 'जयचन्द-प्रकाश' और 'जयमयङ्कजस-चन्द्रिका' का तो केवल नामोल्लेख मात्र मिलता है, अतः इनके आधार पर 'वीरगाथा-काल' की चर्चा करना ही व्यर्थ है।

विद्यापति को वीरगाथा-काल के अन्तर्गत रखना भी कुछ असङ्गत-सा प्रतीत होता है। जबकि शुक्लजी स्वयं उनका रचना-काल सं० १४६० वि० के आसपास स्वीकार करते हैं तो फिर क्या कारण है कि उन्हें भक्ति-काल की पवित्र भूमि से वंचित करके, ८५ वर्ष पूर्व ही समाप्त हो जाने वाले वीरगाथा-काल के रक्त-रंजित क्षेत्र में स्थान दिया जाता है? शुक्लजी ने इसका कारण उनका अपभ्रंश में काव्य-रचना करना बताया है। पर इसी कारण से उन्हें पीछे धकेल देना ठीक नहीं जँचता। पहले तो 'वीरगाथा-काल' का अर्थ 'अपभ्रंश-रचना-काव्य' नहीं है, दूसरे केवल भाषा-साम्य के कारण किसी कवि को विगत युग में नहीं रक्खा जा सकता, तीसरे विद्यापति ने अपभ्रंश के अतिरिक्त देशीभाषा में भी काव्य-रचना की है। इसके अतिरिक्त विद्यापति की काव्य-प्रवृत्तियाँ वीरगाथा-काल की अपेक्षा भक्ति-काल से अधिक साम्य रखती हैं। उनके काव्य की भावधारा वीररस को नहीं, अपितु भक्ति और शृङ्गार को पुष्ट करती है, विषय उनका राधाकृष्ण है तथा शैली मुक्तक गीति की है। ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि वे चन्दवरदायी के साथ नहीं, सूर, तुलसी की पंक्ति में बैठने योग्य हैं। वस्तुतः विद्यापति को वीरगाथा-काल में रखकर उनके साथ न्याय नहीं किया गया। चारण-काल के रौरव-नाद में उनकी कोमल मधुर रागिनी प्रभाव-शून्य हो जाती है, अतः उनका महत्व पूरी तरह नहीं आंका जा सका। पर यदि विद्यापति या अन्य 'जयचन्द-प्रकाश', 'जयमयङ्कजस-चन्द्रिका' आदि रचनाओं के लेखकों को इधर से उधर से नहीं बुलाया जाता तो यह 'वीरगाथा-काल' का भानुमती का कुनबा कैसे जुड़ता? अतः विद्वानों के सन्तोष के लिए शुक्लजी ने जो कुछ परिश्रम

किया उसकी उपेक्षा न करते हुए भी हम वीरगाथा-काल की उपर्युक्त असङ्गतियों की अवहेलना नहीं कर सकते।

आचार्य शुक्लजी ने वीरगाथा-काव्य का परिचय देते हुए इस बात की ओर संकेत किया था कि इनके रचयिता अधिकांश में चारण लोग थे। सम्भवतः इस बात से प्रभावित होकर ही डा० रामकुमार वर्मा ने 'वीरगाथा-काल' को 'चारण-काल' नाम दिया है। पर आश्चर्य की बात यह है कि स्वयं डा० वर्मा के इतिहास के नवीनतम संस्करण तक में इस काल की सीमाओं के अन्तर्गत लिखी गई एक भी प्रामाणिक चारण-कृति का उल्लेख नहीं है और साथ ही संवत् १७१५ या १८९५ तक की रचनाओं को भी इस काल में सम्मिलित कर लिया गया है जबकि वे इस काल की सीमा संवत् १३७५ ही स्वीकार करते हैं। यदि उन्हें चारणों को साहित्य में विशेषता देनी ही थी तो 'चारण-काल' के स्थान पर 'चारण-काव्य' शीर्षक दे देते तो भी ये असंगतियां नहीं आतीं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी अपने विभिन्न लेखों में 'वीरगाथा-काल' नाम का विरोध किया है और 'आदिकाल' नाम का समर्थन किया है। पर विचारणीय यह है कि क्या इस काल की समस्या केवल नामकरण की ही समस्या है? यदि हम उसे 'आदिकाल' पुकारने लगते हैं तो क्या वे सारी असंगतियां दूर हो जाती हैं जो दूसरे नामों के कारण दिखाई पड़ती हैं? जहां तक हम सोचते हैं ऐसी बात नहीं है। जिस सामग्री के आधार पर इस काल का अस्तित्व निर्मित हुआ था, यदि वह सामग्री ही शताब्दियों बाद की लिखी हुई सिद्ध हो जाती है तो उस काल का अस्तित्व ही कहां रहा? वस्तुतः इस काल की अनेक असंगतियों का मुख्य कारण यह है कि सामग्री के अभाव में भी हम इसे हिन्दी का 'वीरगाथा-काल', 'चारण काल' या 'आदिकाल' सिद्ध करना चाहते हैं। यह बात हमारे विद्वानों के कथन से भी प्रमाणित होती है। आचार्य शुक्ल ने स्पष्ट लिखा है कि "दूसरी बात इस आदिकाल के सम्बन्ध में ध्यान देने की यह है कि इस काल की जो साहित्यिक सामग्री प्राप्त है उसमें कुछ तो असन्दिग्ध है और कुछ सन्दिग्ध है। असन्दिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात्

प्राकृताभास—'प्राकृत की रूढियों से बहुत कुछ बद्ध'—हिन्दी है। शुक्लजी ने अपने इतिहास में सर्वप्रथम सर्वत्र अपभ्रंश को 'प्राकृताभास हिन्दी' या 'पुरानी हिन्दी' माना है। यदि हम अपभ्रंश को हिन्दी से अलग मानें तो स्वयं शुक्लजी के शब्दों में ही आदिकाल के पास हिन्दी की कोई असंदिग्ध सामग्री नहीं रह जाती।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जहाँ एक ओर अपभ्रंश को हिन्दी मानने का विरोध करते हुए लिखा है कि "अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी कहने का विचार भाषा-शास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं है। भाषा-शास्त्र के अर्थ में जिसे हम हिन्दी कहते हैं वह इस साहित्यिक अपभ्रंश से सीधे विकसित नहीं हुई है। अपभ्रंश को अब कोई भी पुरानी हिन्दी नहीं कहता।" वहां दूसरी ओर वे जैन मुनियों व सिद्धों के अपभ्रंश-साहित्य के आधार पर हिन्दी के 'आदिकाल' का नव निर्माण करना चाहते हैं। वे इस काल की सामग्री को दो वर्गों में विभाजित करते हैं—एक वह जो साहित्यिक अपभ्रंश में लिखित हैं, दूसरी वह जो 'लोक-भाषा' या 'अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा' में लिखित है। किन्तु दूसरे वर्ग की रचनाओं के 'मूल रूप' बहुत परिवर्तित और विकृत हो गये हैं। इन्हें हम संदिग्ध ग्रंथ कह सकते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि आदिकाल की प्रामाणिक सामग्री अपभ्रंश में ही लिखित है। अब हमारे सामने दो रास्ते हैं—एक यह है कि अपभ्रंश को 'प्राचीन हिन्दी' मान कर अपभ्रंश रचनाओं के आधार पर 'आदिकाल' का अस्तित्व बनाये रखें या अपभ्रंश को, चाहे वह अपभ्रंश साहित्यिक हो या असाहित्यिक, उसे हिन्दी से भिन्न घोषित करके उसकी रचनाओं के आधार पर हिन्दी के 'आदिकाल' को बनाये रखने का विचार छोड़ दें। यदि हम पहली राह स्वीकार करते हैं तो अपभ्रंश के उस साहित्य को भी सम्मिलित करना पड़ेगा जो सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक लिखा गया था, और इस प्रकार इस काल की आरम्भिक सीमा संवत् ७०० के लगभग माननी होगी। श्री राहुल सांकृत्यायनजी ने भी ऐसा ही किया है। उन्होंने आदिकाल को 'सिद्ध सामन्त युग' नाम देकर अपभ्रंश को पुरानी हिन्दी मानते हुए अपभ्रंश के सभी काव्य-ग्रन्थों को सम्मिलित किया है और इस

काल की सीमा सन् ७६० ई० से १३०० ई० तक मानी है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि सांकृत्यायनजी का यह प्रयत्न उन आलोचकों की अपेक्षा अधिक अच्छा है जो एक साथ दो घोड़ों पर सवार होते हुए एक ओर अपभ्रंश को हिन्दी का पर्यायवाची मानते हैं, दूसरी ओर अपभ्रंश की रचनाओं को सम्मिलित नहीं करते या अपभ्रंश को हिन्दी से भिन्न मानते हैं, पर जैनियों व सिद्धों के अपभ्रंश-साहित्य के आधार पर 'आदिकाल' का ढांचा सुरक्षित रखना चाहते हैं । पर अपभ्रंश को हिन्दी या पुरानी हिन्दी मान लेने से अन्य प्रान्तीय भाषाओं के अधिकारों पर कुठाराघात होता है । इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए राहुलजी ने लिखा है कि "हम जब पुराने कवियों की भाषा को हिन्दी कहते हैं तो इस पर मराठी, उड़िया, बगला, आसामी, गोरखा, पंजाबी, गुजराती भाषा-भाषियों को आपत्ति हो सकती है । उन्हें भी उसे अपना कहने का उतना ही अधिकार है जितना हिन्दी भाषा-भाषियों को । वस्तुतः वे सारी आधुनिक भाषाएँ बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश से अलग होती दीख पड़ती हैं । वस्तुतः ये सिद्ध-सामन्त-युगीन कवियों की रचनाएं उपरोक्त सारी भाषाओं की सम्मिलित निधि हैं ।"

सांकृत्यायनजी के उपर्युक्त कथन में यह आश्चर्यजनक असंगति है कि वे एक ओर तो अपभ्रंश को सभी अन्य भाषाओं की 'सम्मिलित निधि' बताते हैं, दूसरी ओर उस पर हिन्दी का ऐसा एकाधिपत्य स्वीकार करते हैं कि उसे पुरानी हिन्दी तक कह डालते हैं । सांकृत्यायनजी का यह हिन्दी-प्रेम सराहनीय है फिर भी हमें यहाँ दूसरी भाषाओं के अधिकारों को ध्यान में रखते हुए हिन्दी के साहित्य-भंडार को अनुचित रूप में बढ़ाने का लोभ संवरण ही करना पड़ेगा तथा अपभ्रंश को अपभ्रंश कहना ही ज्यादा न्याय-संगत होगा ।

अतः हमारे सामने दूसरी राह ही रह जाती है । जिस काल को हम हिन्दी का 'आदिकाल' कहते हैं, जिसमें अपभ्रंश में लिखित विपुल सामग्री मिलती है जबकि एक भी ऐसी रचना नहीं मिलती जिसे हम असंदिग्ध रूप से हिन्दी की कह सकें, उस काल को हिन्दी का 'आदिकाल' न कहकर अपभ्रंश का 'उत्तर काल' कहना ही अधिक उचित होगा । यदि हम पृथ्वी-

राज रासो को छोड़ दें तो हिन्दी की एक भी असंदिग्ध रचना ऐसी नहीं है जिसे १३०० वि० पूर्व की लिखी हुई कह सकें। पृथ्वीराज रासो का भी, यदि वह प्रामाणिक है तो उसकी रचना मूलतः अपभ्रंश में ही हुई होगी, इस बात का समर्थन श्री मुनि जिनविजय के छन्द व लघुतम संस्करण का डा० दशरथ शर्मा द्वारा किया गया अपभ्रंश अनुवाद आदि के द्वारा होता है। वास्तव में शुक्लजी ने हिन्दी-साहित्य का उदय-काल जो संवत् १०५० के लगभग स्थिर किया था, वह इस मिथ्या धारणा पर आधारित है कि अपभ्रंश हिन्दी से भिन्न नहीं, वह पुरानी हिन्दी ही है। मानने के लिए तो वे सातवीं शताब्दी से ही हमारे साहित्य का प्रारम्भ मान लेते, क्योंकि इसी समय से अपभ्रंश-काव्य-रचना प्रारम्भ हो गई थी, पर इन रचनाओं में उन्हें साहित्यिकता नजर नहीं आई, योग-मार्गियों की साम्प्रदायिकता ही दिखाई पड़ी। अपने इतिहास में उन्होंने स्पष्ट लिखा है—"अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर यिक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लगता है। मुंज और भोज के समय संवत् १०५० के लगभग में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य-रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः हिन्दी-साहित्य का आदिकाल संवत् १०५० से लेकर १३७५ तक माना जा सकता है।"

अतः अपभ्रंश को हिन्दी से भिन्न मानने की स्थिति में हिन्दी-साहित्य का आरम्भ संवत् १३०० के बाद से स्वीकार करना होगा। यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी-भाषा का विकास दसवीं शताब्दी से प्रारंभ हो गया था, किन्तु उसका पूर्ण विकास होने में और साहित्य के द्वार तक पहुँचने में लगभग तीन शताब्दियों का समय लग गया। चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में हिन्दी ने साहित्य का आसन अपभ्रंश से छीनकर पूर्णतः अपने अधिकार में ले लिया। अतः हिन्दी-साहित्य का 'आदिकाल' संवत् १३०० से १७०० माना जा सकता है, जिसे दूसरा नाम 'भक्ति-काल' भी दिया जा सकता है। वीर-गाथात्मक साहित्य को भक्ति-काल की ही एक अन्तर्धारा के रूप में रखा जा सकता है। जिस समय मध्य देश के कुछ भू-भागों में

निर्गुण का उपदेश प्रवाहित हो रहा था, अवध और व्रज में राम-कृष्ण की लीलाओं का गान हो रहा था, उसी काल में राजस्थान के कवि 'बीसलदेव रासो' व अन्य रासो-ग्रन्थों का प्रणयन कर रहे थे। अतः इन वीर-गाथाओं को 'भक्ति-काल' की पूर्ववर्ती मानने के स्थान पर सम-सामयिक रचनाएँ मान कर अध्ययन करना ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक उचित होगा। यदि हम 'भक्ति-काल' को इतना लम्बा न रखना चाहें तो उसे सुविधानुसार दो भागों में भी विभक्त कर सकते हैं। भक्ति-काल की काल-सीमाएँ भी, यदि हम आवश्यकता समझें तो दस-बीस वर्ष आगे-पीछे बढ़ा सकते हैं। किन्तु सबसे महत्त्व की बात यह है कि हमें हिन्दी-साहित्य का आरम्भ १३वीं शताब्दी के बाद से मानना होगा तथा वीरगाथाकाल को भक्तिकाल से भिन्न या पूर्ववर्ती मानने का भारी भ्रम दूर कर देना होगा तथा अपभ्रंश-काव्य की इस दोहरी स्थिति को मिटा देना होगा कि कभी हम उन्हें हिन्दी की निधि घोषित करें और कभी सभी भाषाओं की सम्मिलित निधि। अन्यथा हिन्दी के इस अस्तित्वहीन 'आदिकाल' की ये अनेक असंगतियां ज्यों की त्यों बनी रहगी, जो आज हमारे विद्वानों व विद्यार्थियों के अध्ययन के मार्ग को अवरुद्ध बनाये हुए हैं तथा अन्य भाषा-भाषी विद्वानों के लिए हमारी एकांगिता या काल-विभाजन की अक्षमता के ज्वलन्त प्रमाण के रूप में उपस्थित हैं।

२. हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव-काल

हिन्दी की जननी अपभ्रंश का उदय तो पांचवी, छठी शताब्दी से पूर्व ही हो चुका था किन्तु इसका पूर्ण विकास बारहवीं शताब्दी तक हुआ। प्रारम्भ में दो-तीन शताब्दियों तक केवल जैन और सिद्ध कवि अपना संदेश जन-साधारण तक पहुँचाने के निमित्त ही इसे साहित्य में स्थान देते रहे किन्तु ग्यारहवीं शताब्दी में इसकी प्रतिष्ठा जनता और साहित्य दोनों में एक उच्च स्तरीय भाषा के रूप में हो गई थी। एक ओर नमि साधु, वाग्भट आदि ने इसे लोक-भाषा घोषित किया तो दूसरी ओर बब्बर, अब्दुर्रहमान जैसे सम्प्रदाय निरपेक्ष कवियों ने इसे काव्य-रचना का माध्यम बनाया। आगे चल कर हेमचन्द्र (१०८८–११७२ ई०) ने अपभ्रंश का व्याकरण लिखते हुए इसके दो भेदों–साहित्यिक और ग्राम्य–का उल्लेख किया, इससे अनुमान किया जा सकता है कि लगभग इस समय से अपभ्रंश व्याकरण और साहित्य की रूढ़ियों से बद्ध होकर लोक-भाषा से भिन्न होती जा रही थी। जिस ग्राम्य अपभ्रंश का उल्लेख हेमचन्द्र ने किया है वही एक शताब्दी पश्चात् विकसित होकर साहित्य में प्रविष्ट हुई जिसके कुछ रूपों को 'हिन्दी' कहा जाता है। साहित्यिक अपभ्रंश से भिन्न ग्राम्य या लौकिक अपभ्रंश के उदाहरण प्राकृत व्याकरण, हेमचन्द्र प्रबन्ध चिन्तामणि (१३०४ ई०) प्राकृत पैंगलम् (१४वीं शती) आदि ग्रंथों में मिलते हैं। देखिये—

मुंजु भणई मुणालवइ, जुव्वणु गयउं न झूरि।
जइ सक्कर सय खंड थिय तोइ स मीठी चूरि।

(प्रबन्ध चिन्तामणि)

रे धणि, मत्त मअंगज गामिणि, खंजन लोअणि चन्द मुही।
चंचल जोव्वण जात ण जाणहि, छइल समप्पहि काइ णहि।

(प्राकृत पैंगलम्)

'प्राकृत पैंगलम् का यह छन्द सरलता-पूर्वक हिन्दी में रूपांतरित किया जा सकता है। यथा—

रे धनि, मत्तमतंगज गामिनि, खंजन लोचन चन्द्रमुखी।
चंचल जोबन जात न जानहि, छैल समर्पहि क्यों नहि॥

किन्तु यह सरलता तत्कालीन साहित्यिक अपभ्रंश में नहीं मिलती। उस समय के जैन कवि प्रायः उसी का प्रयोग करते थे। उपर्युक्त अंशों से तुलना के लिए सोमप्रभसूरि (११९५ ई०) की भाषा का एक नमूना द्रष्टव्य है :

सिसिरम्मि निवाय घरग्गिसयडि।
घण घुसिण तेल्ल बहुवत्थ सवडि।
× × ×
चलु जीवड जुव्वणु घणु सरीरू।
× × ×

(कुमारपाल प्रतिबोध)

इन अंशों में वर्णों के द्वित्व, उकार और इकार की बहुलता है, इनकी भाषा का रूप हिन्दी से बहुत भिन्न है। अस्तु, भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी का विकास ग्राम्य या लौकिक अपभ्रंश से तेरहवीं शताब्दी के लगभग निश्चित होता है, इस तथ्य का समर्थन अनेक विद्वानों द्वारा हुआ है —

(क) **सुनीति कुमार**– "यह मालूम नहीं पड़ता कि यह 'हिन्दी' ठीक-ठीक कौनसी बोली थी, परन्तु संभव है कि यह व्रजभाषा या पश्चात्कालीन हिन्दुस्थानी के सदृश न होकर १३वीं शती में प्रचलित सर्वसाधारण की साहित्यिक अपभ्रंश ही रही हो, क्योंकि १३वीं व १४वीं शती ईस्वी तक हमें हिन्दी या हिन्दुस्तानी का दर्शन नहीं होता।"

(भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, प्रथम सस्करण, पृ० १९०)

(ख) **राहुल सांस्कृत्यायन**— "वस्तुतः ये सारी आधुनिक भाषाएँ बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंश से अलग होती दीख पडती हैं।"

(हिन्दी काव्य धारा, पृ० ११-१२)

(ग) **उदयनारायण तिवारी**—"आचार्य हेमचन्द्र के पश्चात् तेरहवीं शती के प्रारम्भ में आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदय के समय पन्द्रहवीं शती के पूर्व तक का काल संक्रांतिकाल था, जिसमें भारतीय आर्य-भाषा धीरे

धीरे अपभ्रंश की स्थिति को छोड़ कर आधुनिक काल की विशेषताओं से युक्त होती जा रही थी।" (हिन्दी भाषा का विकास पृ० १०४,१४१)

(घ) **नामवरसिंह** "यह देशभेद धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि तेरहवीं शताब्दी तक जाते-जाते अपभ्रंश के सहारे ही पूर्व और पश्चिम के देशों ने अपनी-अपनी बोलियों का स्वतन्त्र रूप प्रकट कर दिया।"

हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, द्वितीय सं० पृ० ५४)

आचार्य हजारीप्रसादजी भी हिन्दी का विकास तेरहवीं शताब्दी के लगभग ही स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं —"**हेमचन्द्राचार्य ने दो** प्रकार की अपभ्रंश-भाषाओं की चर्चा की है। दूसरी श्रेणी की भाषा को हेमचन्द्र ने 'ग्राम्य' कहा है। वस्तुतः यही भाषा 'आगे चलकर' आधुनिक देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई।" (हिन्दी-साहित्य, प्रथम संस्करण, पृ० सं० १७) द्विवेदीजी ने यहां 'आगे चलकर' का काल-परिणाम नहीं दिया किन्तु इसका तात्पर्य कम-से-कम एक शताब्दी भी ले तो हिन्दी का विकास द्विवेदीजी की मान्यता के अनुसार हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) के एक सौ वर्ष बाद अर्थात् लगभग १३वीं शती ईस्वी सिद्ध होता है।

पहले किसी भाषा का उदय होता है और फिर उसमें साहित्य-निर्माण होता है। जब हिन्दी भाषा का उदय ही १२-१३वीं शती निश्चित होता है तो इससे पूर्व उसमें साहित्य रचे जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, किन्तु फिर भी एक बड़ी भारी भ्रांति का प्रचलन है—हिन्दी साहित्य का आरम्भ १०५० वि० या ९९३ ईस्वी से हुआ।

इस भ्रान्ति को जन्म देने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है। उन्होंने एक तो हिन्दी और अपभ्रंश को अभिन्न रूप में ग्रहण किया— "अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सब से पुराना पता तान्त्रिक और बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर·····मिलता है। मुंज और भोज के समय, संवत् १०५० के लगभग, में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य-रचनाओं में पाया जाता है।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास) यदि हम अपभ्रंश को प्राकृताभास या पुरानी हिन्दी या पुरानी हिन्दी मानना अस्वीकार कर दें तो शुक्लजी का यह तर्क स्वयं ही

खंडित हो जाता है। दूसरे उन्होंने खुमान रासो, बीसलदेव रासो, आदि ग्रंथों को ९वीं-१०वीं शती में रचित मान लिया। जबकि अब ये पन्द्रहवीं शती के बाद रचित सिद्ध हो चुके है। अतः शुक्लजी के दोनों आधार ही भ्रामक सिद्ध होते हैं। आचार्य हजारीप्रसादजी ने वीरगाथा-काल की आलोचना करते हुये स्पष्ट शब्दों में लिखा है, "अब यह स्पष्ट है कि जिन ग्रन्थों के आधार पर इस काल का नाम वीरगाथा-काल रखा गया है उनमें से कुछ नोटिसमात्र से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं और कुछ या तो पीछे की रचनाएँ हैं या पहले की रचनाओं के विकृत रूप। इनको गलती से प्राचीन मान लिया गया है।" किन्तु द्विवेदीजी ने केवल नाम-करण का ही विरोध किया है, इस काल के अस्तित्व का नहीं। इससे एक बड़ी भारी असंगति उत्पन्न हो जाती है। जो वस्तु है ही नहीं उसका केवल नाम परिवर्तन कर देने से ही समस्या का सामाधान नहीं हो जाता। इस सम्बन्ध में मैं अपने विचार 'आदिकाल का अस्तित्व कहां है ?' लेख में प्रकट कर चुका हूँ। यहां इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि १३वीं शती से पूर्व हिन्दी-साहित्य के अस्तित्व का कोई प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। वस्तुतः १०००-१३०० ई० का काल जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं वह अपभ्रंश का यौवन-काल था। अतः हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव इसके पश्चात् ही मानना उचित है।

३. रासो-काव्य : कुछ पक्ष

'रासो' शब्द का अर्थ

'रासो' शब्द की व्युपत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मत-भेद रहा है। फ्रेंच विद्वान गार्सां द तासी ने रासो का सम्बन्ध 'राजसूय' से माना था जबकि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रसायण' से इसकी व्युपत्ति सिद्ध की है। श्री बैजनाथ खेतान ने रासो का अर्थ प्रचलित राजस्थानी के अनुसार विवाद या झगड़ा (क्यूं रासो मचावै है !) किया, जिसका खंडन करते हुए डा० दशरथ शर्मा ने इसका मूल रूप 'रासक' सिद्ध किया। प्रारम्भ में 'रासक' नृत्य का एक विशेष भेद था। "श्रीमद्भागवत, हरिवंश और विष्णु पुराण' में 'रास' या 'हल्लीसं' शृंगारमय गान से युक्त एक नृत्य विशेष का नाम है।" रासनृत्य के भी अनेक भेद मिलते हैं। जैनाचार्य जिन बल्लभसूरि (मृत्यु संवत् ११६७) ने लगुड़रास और तालरास का खरतर गच्छ मन्दिरों में सर्वथा निषेध किया है। अतः प्रारम्भ में किसी नृत्य विशेष के साथ गाने के लिए जो काव्य लिखे जाते थे, वे 'रासक' कहलाते रहे होंगे, किन्तु आगे चलकर केवल मात्र गीत या काव्य ही शेष रहे, नृत्य-गान की परम्परा सम्भवतः लुप्त हो गई।

'रासो' शब्द की व्याख्या मे सहायता देने वाली कुछ पंक्तियां 'बीसलदेव-रासो' में भी मिलती है—

गावणहार मांडइ अर गाई ।
रास कइ (सम) यह वंसली वाई ॥
ताई कई समचई घूंघरी ।
माँहिली मांडली छोदा होइ ।
बारली मांडली साँधणा ।
रास प्रगास ईणी विधि होइ ॥

—बीसलदेव रासो (सं० सत्यजीवन) १—११

× × ×

बीसलदे रास प्रगासतां
'नाल्ह' कहइ जिणि आबइ हो खोडि । (वही चन्द ५)

× × ×

हियडइ हरषि गायण कइ भाइ ।
खेलां मेलह्या मांडली
वइस सभा माँहि मोहेउ छइ राइ । (वही छन्द १६)

उपर्युक्त पंक्तियों से पता चलता है कि रास की रचना विशेष आयोजन के साथ होती थी जिसे 'रास प्रकाशित करना' कहा जाता था। रास गाने वाले व्यक्ति के साथ-साथ सङ्गीत और वाद्य का भी आयोजन होता था। नरपति ने दो मण्डलियों का उल्लेख किया है जिनमें बाहर की मण्डली चौड़ी होती थी तथा भीतरी सङ्कीर्ण—सम्भवतः यहां मण्डलियों से अभिप्राय नृत्य-मण्डलियों से है। इन उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि रास-गायन के साथ-साथ नृत्य, वादन आदि का भी आयोजन होता था। इस तथ्य की पुष्टि अन्य प्रमाणों से भी होती है। शारदातनय (सं.११२५–१३०० वि.) ने अपने ग्रन्थ 'भाव-प्रकाशन में लास्य के चार भेद किये हैं—शृङ्खला, लता, पिण्डी और भेद्यक। इनमें से लता के भी तीन उपभेद किये हैं—दण्डरासक, मण्डलरासक और नाट्यरासक। सम्भवतः रासक-काव्य इन मण्डलरासक या नाट्यरासक लास्य के साथ गाये जाते रहे होंगे, किन्तु आगे चलकर नृत्य-गान की परम्परा लुप्त हो गई और उनके साथ गाये जाने वाले काव्य ही रासक कहलाने लगे।

इनके अतिरिक्त कुछ विशेष छन्दों वाले काव्य को भी रासक काव्य कहने की परम्परा रही है। विरहाङ्क ने अपने 'वृत्त ज ति समुच्चय' में लिखा है—

अड़िलाहिं दुवहएहिं व मत्तारडुहि तहअ ढोसाहिं ।
बहुएहिं जो रज्जइ सो भण्णइ रासओ णाम ॥ (४,३८)

[redacted]

घत्ता छट्टुणिआहिं पद्घड़िया सु अण्णरूएहिं ।
रासा बंधो कव्वे जणमण अहिरामो होइ ॥ (८.४६)

अर्थात् काव्य में रासाबंध अपने घत्ता, छप्पय, पद्घड़ी, तथा अन्य रूपकों के कारण जन-मन-अभिराम होता है। 'सन्देशरासक' का भी सम्बन्ध इसी परम्परा से है, क्योंकि उसमें स्वयं कवि ने लिखा है—

"कह बहु रूवि णिबद्घउ रासउ भासियउ ॥"

डा० माताप्रसाद गुप्त ने उपर्युक्त भेद के आधार पर हिन्दी के रासो काव्यों को भी दो वर्गों में विभाजित किया है—(१) गीत नृत्य परक रासो परम्परा—उपदेश रसायन, भरतेश्वर बाहुबली रास, बुद्धिरास, कच्छुलिरास, बीसलदेव रास आदि। (२) छन्द वैविध्य-परक रासो परम्परा—मुंजरास, संदेशरासक, पृथ्वीराज रासो, हम्मीर रासो, बुद्धिरासो, परमाल रासो, राणा-रासो, खुमाणरासो आदि।

अस्तु, विभिन्न विद्वानों के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर 'रासो काव्य' के सम्बन्ध में ये निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(क) 'रासो' शब्द का मूल रूप 'रासक' है; रासक से 'रासअ', 'रासा' आदि रूप विकसित हुए। राजस्थानी भाषा में संज्ञाओं के अन्त में 'ओ' आ जाता है, जैसे 'घोड़ा' से 'घोड़ो'—इसी प्रकार 'रासअ' या 'रासा' का भी राजस्थानी में 'रासो' हो गया। हिन्दी में 'रास', 'रासक' कहना उपयुक्त होगा।

(ख) पूर्ववर्ती साहित्य में 'रासक' या 'रासा' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता रहा—एक तो नृत्य के विशेष भेदों के लिए, दूसरे विभिन्न छन्दों युक्त विशेष प्रकार के काव्यों के लिए।

(ग) डा० माताप्रसाद गुप्त के मतानुसार अपभ्रंश और हिन्दी के कुछ रासो काव्य प्रथम वर्ग में आते हैं और कुछ दूसरे में।

हमारे विचार से नृत्य-गानादि वाले रासो काव्यों को छन्द-वैविध्य वाले काव्य से सर्वथा भिन्न मानना तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता। सम्भव है कि नृत्य-गानादि के साथ प्रकाशित होने वाले रासो-काव्यों में ही छन्दों की विविधता की प्रवृत्ति का विकास हो गया हो।

रासो काव्य-परम्परा का विकास

वैसे तो 'रासक' नामधारी एक दो ग्रन्थ संस्कृत में भी मिलते हैं किन्तु रासो काव्य की अखण्ड परम्परा अपभ्रंश के 'सन्देश-रासक' से मिलती है। आगे चलकर अपभ्रंश और हिन्दी में शताधिक रासो काव्य लिखे गये। प्रारम्भिक रासो काव्यों में भरतेश्वर बाहुबली रास, जम्बू स्वामी रास, रेवन्तगिरि रास, समरारास, गयसुकुमाल रास आदि उल्लेखनीय हैं जिनकी भाषा अपभ्रंश मिश्रित है। अपभ्रंश की रासो-काव्य-परम्परा का विकास गुजराती और हिन्दी– दोनों भाषाओं में हुआ। प्रारम्भिक रासो काव्यों की भाषा को पुरानी गुजराती और पुरानी हिन्दी (राजस्थानी) दोनों नामों से पुकारा जाता रहा है क्योंकि इस युग में गुजराती और राजस्थानी का भेद अधिक स्पष्ट नहीं हो पाया था। मध्यकाल के हिन्दी के रासो काव्यों में पहले डिंगल या पुरानी राजस्थानी का प्रयोग होता रहा किन्तु आगे चलकर व्रजभाषा या पिङ्गल का ही प्रयोग होने लगा। दूसरे, प्रारम्भ में जैन कवि ही रासो शैली का व्यवहार अधिक करते थे, किन्तु आगे चलकर विभिन्न राजाश्रित दरबारी कवियों—चारण-भाटादि अन्य वर्ग के कवियों ने भी रासो काव्य लिखे। तीसरे, जहाँ पहले महापुरुषों के चरित का वर्णन किया जाता था वहां आगे चलकर बैल, चूहा, हाथी आदि पशुओं को लेकर हास्य-रस के रासो काव्य भी लिखे जाने लगे। इसके अतिरिक्त मध्यकालीन रासो काव्यों में विस्तार की प्रवृत्ति भी मिलती है।

हिन्दी के महत्त्वपूर्ण रासो काव्यों में पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, बुद्धिरासो, रामरासो, कायम रासो, शत्रुसाल रासो, खुमानरासो, रतनरासो, संगतसिंह रासो, लीलावती रासो, राणारासो, खुमाण, रासो आदि उल्लेखनीय हैं।

पृथ्वीराज रासो

परम्परा के अनुसार पृथ्वीराज रासो के रचयिता महाकवि चन्दवरदायी माने जाते हैं। कहा जाता है कि चन्दवरदायी अन्तिम हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के सखा, मन्त्री, सेनापति और राज-कवि थे। उनका जन्म पृथ्वीराज

के साथ ही संवत् ११५१ में लाहौर में हुआ था तथा वे बाल्यकाल से ही सम्राट् के साथ रहने लग गये थे। उन्होंने षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंद-शास्त्र, ज्योतिष, पुराण आदि की शिक्षा प्राप्त की। जब शहाबुद्दीन गौरी पृथ्वीराज को कैद करके गजनी ले गया तब चन्द भी वहां पहुँचे। अब तक रासो का लेखन वे स्वयं कर रहे थे किन्तु गजनी जाने से पूर्व उन्होंने यह कार्य अपने पुत्र जल्हन को सौंप दिया—

"पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृपकाज"

गजनी पहुँच कर उन्होंने ऐसी योजना बनाई जिससे पृथ्वीराज गौरी का वध करने में सफल हुए तथा उसके पश्चात् दोनों ने आत्म-बलिदान कर दिया। यह इतिवृत्त पृथ्वीराज रासो के ही आधार पर दिया गया है। विद्वानों को इसकी सत्यता में सन्देह है। इतिहास के अनुसार भी पृथ्वीराज के द्वारा गौरी के वध करने की घटना असत्य सिद्ध होती है। अतः सम्भव है कि चंदवरदायी सम्बन्धी अधिकांश विवरण कोरी कल्पना पर आधारित हो।

'पृथ्वीराज रासो' के अनेक संस्करण मिले हैं जिन्हें मुख्यतः चार वर्गों में रखा जा सकता है—(१) वृहत् (२) मध्यम (३) लघु (४) लघुतम। जहाँ वृहत् रूपान्तर ६९ सर्गों में विभाजित है तथा सोलह हजार छन्दों का है वहां लघुतम संस्करण अध्यायों में विभाजित नहीं है तथा इसकी श्लोक-संख्या केवल १३०० है।

रासो की प्रामाणिकता

रासो की प्रामाणिकता को लेकर विद्वानों में पर्याप्त वाद-विवाद हुआ है। कर्नल टाड ने इसे प्रामाणिक ही समझ कर इसके लगभग तीस हजार पद्यों का अनुवाद अंग्रेजी में किया था। बङ्गाल की रायल एशियाटिक सोसायटी ने तो इसका प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया था किन्तु इसी बीच सन् १८७५ ई० में डा० बूलर को काश्मीर में एक संस्कृत का ग्रन्थ "पृथ्वीराज विजय महाकाव्य" उपलब्ध हुआ जो ऐतिहासिकता की दृष्टि से रासो की अपेक्षा बहुत कुछ शुद्ध था। ऐसी स्थिति में डा० बूलर को रासो की प्रामाणिकता पर सन्देह हुआ और उसने इसका प्रकाशन स्थगित करवा

दिया। डा० बूलर के दृष्टिकोण से प्रभावित होकर पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने रासो की ऐतिहासिकता पर अनेक आक्षेप प्रस्तुत किये, जिनमें कुछ ये हैं—

(क) रासो में चौहानों की उत्पत्ति, उनके कुल एवं वंश-परम्परा का वर्णन अशुद्ध रूप में किया गया है।

(ख) पृथ्वीराज के माता-पिता व अन्य सम्बन्धियों का परिचय इतिहास-विरुद्ध है।

(ग) रासो में गुजरात के राजा भीम के हाथों पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के वध की बात कही गई है जबकि इतिहास के अनुसार भीमदेव अभी बालक ही था।

(घ) रासो में पृथ्वीराज के ग्यारह वर्ष से लेकर छत्तीस वर्ष की आयु तक चौदह विवाहों का वर्णन है जबकि इतिहास के अनुसार पृथ्वीराज की मृत्यु तीस वर्ष की अवस्था से पूर्व ही हो गई थी तथा उन्होंने इतने विवाह नहीं किये।

(ङ) रासो में दिये गये सभी संवत् अशुद्ध हैं।

(च) रासो के अनुसार पृथ्वीराज को दिल्ली का राज्य अपने नाना अनंगपाल के द्वारा प्राप्त हुआ जबकि इतिहास के अनुसार बीसलदेव ने बहुत पूर्व ही दिल्ली को अपने राज्य में मिला लिया था।

(छ) रासो में दी हुई संयोगिता-स्वयम्वर की कथा भी अनैतिहासिक है।

(ज) शहाबुद्दीन गौरी की मृत्यु सम्बन्धी इतिवृत्त भी कोरी कल्पना पर आधारित है क्योंकि गौरी की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथों नहीं, गक्खरों के द्वारा हुई थी।

उपर्युक्त आक्षेपों के आधार पर रासो को अप्रामाणिक सिद्ध करते हुए श्री गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने इसे संवत् १६०० के आस-पास रचित माना है। श्री मोहनलाल पंड्या ने 'अनंद' संवत् की कल्पना करके रासो के सन्-संवतों को शुद्ध प्रमाणित करने का प्रयत्न किया किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। इसी बीच मुनि जिनविजय जी ने 'पुरातन प्रबन्ध-संग्रह' की वि० सं० १५२८ की प्रति में से एक प्रबन्ध (निबन्ध) की खोज की जिसमें रासो के

इतिवृत्त का सारांश दिया गया है तथा इसमें चार ऐसे छन्द भी दिये गये हैं जो रासो से उद्धृत हैं। मुनि जिनविजय जी ने इस प्रबन्ध को मूलतः सं० १२९० में रचित सिद्ध किया है; अतः रासो का रचना-काल भी इससे पूर्व ही होना चाहिए।

रासो की प्रामाणिकता के पक्ष में सर्वाधिक स्तुत्य प्रयत्न करने का श्रेय डा० दशरथ शर्मा को है। आपने सिद्ध किया है कि लघुतम संस्करण ही रासो के मूल-रूप के अधिक समीप है। श्री गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने जो आक्षेप वृहत् संस्करण पर लगाये हैं उनमें से अधिकांश लघुतम संस्करण पर लागू नहीं होते, क्योंकि तथाकथित अनैतिहासिक बातें इसमें वर्णित ही नहीं हैं। हाँ, संयोगिता-स्वयम्वर, गौरी-वध आदि की घटनाएँ अवश्य लघुतम संस्करण में भी विद्यमान हैं किन्तु डा० शर्मा ने इनको इतिहास-सम्मत ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। साथ ही शर्मा जी ने यह भी प्रमाणित किया है कि मूल रासो अपभ्रंश में ही लिखा गया था। उन्होंने लघुतम-संस्करण के कुछ अंशों को बिना छन्द परिवर्तित किये अपभ्रंश में रूपान्तरित करके दिखाया है।

इधर कुछ वर्षों पूर्व डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रासो की प्रामाणिकता के प्रश्न को पुनः उठाया है। उनके विचार से रासो की रचना शुक-शुकी संवाद के रूप में हुई थी, अतः जिन सर्गों का आरम्भ शुक-शुकी सम्वाद से होता है उन्हीं को प्रामाणिक माना जाना चाहिए, जो ये हैं—(१) आरम्भिक सर्ग (२) इछिनी का विवाह (३) शशिव्रता का विवाह (४) तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना (५) संयोगिता का विवाह (६) कैमास वध (७) गौरी वध। डा० द्विवेदी के मतानुसार इन प्रसंगों से सम्बन्धित सर्गों की भाषा-शैली में भी एकरूपता, व्यवस्था एवं सहज प्रवाह मिलता है। किन्तु डा० माताप्रसाद गुप्त ने द्विवेदी जी के मत का खण्डन करते हुए इसे अस्वीकार्य बताया है। उनका तर्क है कि प्रक्षेपकारों ने भी शुक-शुकी सम्वाद से नये सर्गों की रचना न की होगी, इसका क्या प्रमाण है ?

हमारे विचार से लघुतम संस्करण ही मूल रासो के अधिक समीप है। हमारे कविगण जान-बूझकर चरित-नायक के गौरव की रक्षा के लिए

ऐतिहासिक तथ्यों में परिवर्तन करते रहे हैं, अतः चन्द का भी ऐसा कर देना कोई आश्चर्य की बात नहीं। रसराज शृंगार को स्थान देने के लिए विभिन्न राजकुमारियों के प्रेम और विवाह की घटनाओं की आयोजना भी कल्पना के आधार पर करना स्वाभाविक है। साथ ही यह भी मानना होगा कि बारहवीं शती में काव्य की भाषा अपभ्रंश ही थी, हिन्दी का विकास और प्रचार काव्य के क्षेत्र में नहीं हो पाया था, अतः इसका अपभ्रंश में ही रचा जाना अधिक सम्भव है। उस युग के रासो ग्रन्थों की प्रवृत्ति भी लघु आकार की ही रही है, अतः रासो का भी लघुरूप में ही रचा जाना अधिक तर्क-संगत प्रतीत होता है। इधर डा० वेणीप्रसाद ने रासो का सम्पादन करके पंजाब-विश्वविद्यालय से पी. एच-डी. की उपाधि प्राप्त की है। उनका प्रबन्ध प्रकाशित होने पर इस प्रश्न को सुलझाने में और अधिक सहायता मिलने की सम्भावना है।

पृथ्वीराज रासो का काव्य-सौन्दर्य

रासो में कवि की कल्पना-शक्ति एवं वर्णनात्मकता का अच्छा परिचय मिलता है। इसमें नगर, वन, उपवन, सरोवर, दुर्ग, सेना, युद्ध, आदि का वर्णन बड़ा प्रभावशाली शैली में किया गया है। वीर, शृंगार, रौद्र, भयानक आदि रसों की भी नियोजना इसमें सफलता-पूर्वक की गई है। वीर रस के स्थायीभाव उत्साह की अभिव्यक्ति ओज-पूर्ण शैली में हुई है—

वज्जिय घोर निसाँन रान चौहान चहुँ दिसि।
सकल सूर सामन्त समर बल जंत्र मंत्र तिसि॥
उट्ठिराज पृथ्वीराज बाग लग्ग मनो वीर नट।
कढत तेग मनोवेग लगत बीज झट्ट घट्ट॥

युद्ध के दृश्यों का चित्रण सजीव रूप में किया गया है—

न को हार नह जित्त, रहे रहहि सूर बर।
धर उप्पर भर परत करत, अति जुद्ध महा भर॥
कहौं कमध, कहौं मथ्थ, कहौं कर चरन अन्तरुरि।
कहौं कंध वह तेग, कहौं सिर जुट्टि फुट्टि उर॥

यहाँ केवल स्थिर दृश्य का अङ्कन हुआ है, किन्तु रासो में गतिशील चित्रों का भी अभाव नहीं है—

मचै कूह कूहं बहै सार-सारं ।
चमक्कं चमक्कं करार सुधारं ॥
भभक्कं भभक्कं बहै रत्त धारं ।
सनक्कं सनक्कं बहै बान भारं ॥
हबक्कं हबक्कं बहै सेल भेलं ।
हलक्कं हलक्कं मची ठेल ठेलं ॥

चन्दवरदायी स्वयं योद्धा थे, अतः उन्हें युद्ध के दृश्यों की प्रत्यक्ष अनुभूति थी जिससे वे वीररस के चित्रण में मार्मिकता एवं सजीवता ला सके ।

रासो में वीररस के अनन्तर सर्वाधिक स्थान शृङ्गार को प्राप्त हुआ है । नायिका के सौन्दर्य, उसकी चेष्टाओं व अनुभूतियों की व्यंजना अत्यन्त सरसता-पूर्ण शब्दों में हुई है । यहाँ नायिका की वियोग-दशा का अनुभव उसी के शब्दों में सुनिये—

वेई आवास जुग्गनि पुरह,
वेई सहचरि मंडलिय ।
संजोग पयंपति कंत बिन
मुहि न कछू लग्गत रलिय ॥

"वे ही महल हैं, वे ही योगिनीपुर हैं, वे ही सहचरियों के झुण्ड हैं, किन्तु एक प्रिय पति के संयोग के अभाव में मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता ।"

वीर और शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रसों की भी व्यंजना इसमें प्रसंगानुसार हुई है । इस प्रकार यह रचना भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से एक प्रौढ़ रचना है । कला-पक्ष की दृष्टि से भी इसमें अलङ्कारों का प्रयोग, भावानुरूपिणी भाषा, छन्दों की विविधता आदि गुण मिलते हैं । प्रक्षिप्त अंशों के कारण इसकी भाषा में एकरूपता नहीं मिलती । कुछ अन्य दोष भी रासो में खटकने वाले हैं । एक तो कवि ने वीर रस के मूल भाव को व्यक्तिगत राग-द्वेष पर ही आधारित किया है, अतः उसमें महाकाव्य की सी व्यापकता नहीं आ पाई । इसी प्रकार शृंगार में भी प्रेमभाव की गम्भीरता नहीं आ पाई । नित्य नये

विवाह रचाने वाले सामन्तों से इसकी आशा भी नहीं की जा सकती। अस्तु, इन सब दोषों के होते हुए भी 'पृथ्वीराज रासो' एक महाकाव्य है। उसकी महत्ता उसके आकार-प्रकार की विशालता में नहीं, अपितु इस बात में है कि वह अपने युग की संस्कृति का एक विशाल चित्र प्रस्तुत करती है। दूसरे, इसमें वीर-रस का चित्रण उन हाथों से किया गया है जो तलवार चलाने में भी उतने ही सिद्धहस्त थे जितने कि कलम चलाने में। तीसरे, कथानक-रूढ़ियों, विभिन्न छन्दों एवं भाषा के विभिन्न रूपों के अध्ययन के लिए भी यह ग्रन्थ विपुल सामग्री प्रस्तुत करता है। अतः इस ग्रंथ का अक्षुण्ण महत्त्व है, इसमें कोई संदेह नहीं।

बीसलदेव रासो

यह एक छोटा-सा विरह-प्रधान शृंगार-काव्य है। इसके रचयिता ने अपना नाम 'नरपति नाल्ह' दिया है। नरपति ने अपनी जाति व्यास बताई है जो अब भी राजस्थान में पायी जाती है। कुछ विद्वान इस विवाद में पड़ गये हैं कि नरपति व्यास था या ब्राह्मण? किन्तु वास्तव में व्यास ब्राह्मण वर्ण के ही अन्तर्गत होते हैं, अतः यह विवाद अनावश्यक है। रासो का निर्माण-काल स्वयं कवि ने इस प्रकार दिया है—

"बारहसै बहत्तरांहा मझारि। जेठ बदी नवमी बुधवारि॥"

'बहत्तरांहा' का अर्थ १२, २०, ७२ तीनों किया गया है किन्तु राजस्थान में आज भी ७२ को 'बहत्तर' एवं 'भोत्तर' बोला जाता है, अतः प्रथम पंक्ति का अर्थ १२७२ लेना ही अधिक उचित है। रासो की कुछ अन्य प्रतियों में इसका निर्माण-काल संवत् १०७३, १०७७, १३७३, १३७७ भी दिया गया है। श्री अगरचन्द नाहटा ने इसकी भाषा एवं इसके ऐतिहासिक और भौगोलिक उल्लेखों के आधार पर इसे १३वीं शताब्दी के बाद की मानी है। (राजस्थानी ३. ३. पृ० २२) श्री मोतीलाल मेनारिया ने सोलहवीं शताब्दी के एक गुजराती कवि नरपति को ही बीसलदेव रासो का रचयिता माना है। इस गुजराती कवि की और भी कई रचनाएँ—नंदबतीसी (सं० १५४५), विक्रम पंचदंड (सं० १५६० वि०), स्नेह परिक्रम और

निःस्नेह परिक्रम आदि—मिलती हैं, जिनकी भाषा-शैली में रासो से गहरा साम्य मिलता है। देखिये—

१—ब्रह्मा बेटी वीनवऊँ, सारद करूँ पसाइ ।
हंस वाहन हरषि थिकी, जिह्वा वसिजै माइ ॥

× × ×

काश्मीर पुर वासिनी, विद्यां तणु निधान ।
सेवक कर जोड़ी रहइ, ओपइ विद्या दान ॥

—पंचदंड

कसमीरा पाटण्ह मंझारि, सारदा तुठी ब्रह्मकुमारि ।
नाल्ह रसायन नर भणइ, हियड़इ हरषि गायण कइ भाइ ।

—बीसलदेव रासो

२—पंच शब्द वाजइ वाजित्र ।
राजलोक मांहि आणिउँ पंचदण्ड तंत्र ।

—पंचदंड

धूरि दसरावं चाल्यौ राव ।
वाजित्र बाजइ नीसाणं घाव ।

—बीसलदेव रासो

३—खीरोदक टसरु साड़ला, नित पहिरवां अंगि दीसइ भला ।

—पंचदंड

दीया खीरोदक पइहरणइ, माणिक मोती चौक पुरार ।

—बीसलदेव रासो

इसमें कोई संदेह नहीं कि मेनारिया जी द्वारा उद्धृत अंशों में भाषा एवं भाव दोनों की दृष्टि से गहरा साम्य है, किन्तु फिर भी उन्होंने कई प्रश्नों पर विचार नहीं किया—क्या रासो की भांति पंचदंडादि में भी कवि के जाति-सूचक नाम 'नाल्ह', 'व्यास' आदि का उल्लेख मिलता है ? रासो में दिये गये 'निर्माण-काल' का समाधान किस प्रकार हो सकता है ? क्या अन्य रचनाओं में भी 'बीसलदेव रासो' के सम्बन्ध में कोई साक्ष्य मिलता है ? वस्तुतः इस विषय पर और अनुसंधान की आवश्यकता है। गुजराती में भी रासो-काव्यों

की परम्परा रही है अतः फिलहाल काम-चलाऊ रूप में मेनारिया जी के मत को स्वीकार कर सकते हैं।

ऐतिहासिकता

यद्यपि यह काव्य इतिहास-प्रसिद्ध बीसलदेव को लेकर लिखा गया है, किन्तु इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक भूलें बताई गयी हैं—

क—बीसलदेव अर्थात् विग्रहराज चतुर्थ का शासनकाल सं० १२१०-१२२१ वि० था और भोज का सं० १०६७-१११२ वि०, अतः भोज की लड़की से बीसलदेव का विवाह होना संभव नहीं।

ख—रासो में बीसलदेव द्वारा उड़ीसा जीतना इतिहास-सम्मत नहीं।

ग—इसमें कालिदास और माघ को बीसलदेव का समकालीन कहा गया है।

उपर्युक्त में से प्रथम असंगति का समाधान विग्रहराज चतुर्थ के स्थान पर तृतीय को मान कर या भोज के स्थान पर भोज के वंशज की कन्या से उनके विवाह की कल्पना करके किया जा सकता है। बीसलदेव के तीर्थयात्रा के लिए दूर-दूर तक जाने की बात इतिहास-ग्रन्थों से भी सिद्ध होती है और कुछ प्रतियों में कालिदास व माघ आदि का भी नाम नहीं मिलता, अतः ये असंगतियां भी दूर हो सकती हैं। साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय ऐतिहासिक काव्यों में कल्पना का थोड़ा-बहुत मिश्रण होना स्वाभाविक है।

उद्देश्य

यह ग्रन्थ इतिहास की कसौटी पर ठीक उतरे या नहीं, किन्तु एक बात स्पष्ट है कि कवि का उद्देश्य कोई ऐतिहासिक काव्य लिखना नहीं था; राजा बीसलदेव का गुणगान करना भी नहीं था, क्योंकि काव्यारम्भ में ही उसने नायक के प्रति अवज्ञा का भाव दिखाते हुए अपना उद्देश्य नारी-जीवन का वर्णन करना घोषित किया है—

"हंस बाहणि मिगलोचनि नारि,
सीत समारइ दिन गिणइ।

जिण सिरजइ उलिगण घर नारि,
जाइ दिहाड़ाउ झूरितां ।।"

(हंस-गवनी मृगलोचनी नारी सिर को सुलझाती हुई दिन गिनती है ! हाय ! किसी को परदेशवासी व्यक्ति की पत्नी न बनावे, सारे दिन विलाप करते हुए ही बीतते हैं !)

और—

"वाग वाणी मो वर दीयो ।
अस्त्री रसायण करूँ बखाण ।"

अस्तु, कवि का लक्ष्य वीर-चरित का आख्यान नहीं, नारी-हृदय की भावाकुलता पर प्रकाश डालना ही है; इसके कथानक एवं भाव-व्यंजना से भी यही सिद्ध होता है ।

कथानक

यह काव्य प्रबन्धशैली में रचित है और चार खंडों में विभक्त है । कथानक का आरंभ राजमती और बीसलदेव के विवाह-वर्णन से होता है । एक बार बीसलदेव की इस गर्वोक्ति पर कि मेरे यहां नमक की खान—साँभरझील है, राजमती करारा उत्तर देती है—'तुम नमक की खान पर इतने फूले हो, उड़ीसा के नरेश के यहां हीरों की खान है ।' दंभी नरेश के हृदय में यह कटु सत्य चुभ जाता है । वह रूठ कर विदेश चला जाता है, उड़ीसा-नरेश के यहाँ रहने लगता है । बारह वर्ष तक राजमती वियोग-वेदना से जलती रहती है, अंत में संदेश-वाहक भेज कर उसे बुलाती है । दोनों के पुनर्मिलन के पश्चात् काव्य समाप्त हो जाता है ।

भाव-व्यंजना

यद्यपि इस ग्रंथ का रचयिता उच्चकोटि का विद्वान नहीं था, संभवतः संस्कृत से भी वह अनभिज्ञ था, क्योंकि उसने संस्कृत के प्रचलित उपमानों के स्थान पर अत्यन्त हलके स्तर की ग्रामीण उपमाओं का प्रयोग किया है, फिर भी उसे कवि-हृदय प्राप्त था, इसमें कोई संदेह नहीं । नारी-हृदय की कोमलता, दीनता और विवशता की व्यंजना में उसे पूरी सफलता मिली है । उसका

समस्त विरह-वर्णन अनेक वेदना-पूर्ण मार्मिक उक्तियों से परिपूर्ण है। दीर्घ वियोग के लम्बे दिवसों को एक-एक करके काटती हुई, और अश्रु-पूरित नेत्रों से अखंड प्रतीक्षा में लीन प्रियतम का पथ देखती हुई बाला की मूर्त्ति को कवि ने सजीव रूप में उपस्थित कर दी है। उस अहंग्रस्त दंभी पुरुष-वग के प्रति जो कि जीवन-संगिनी के एक छोटे-से उपहासपूर्ण वाक्य से ही उत्तेजित होकर उसका साहचर्य त्याग कर चला जाता है, कवि का गहरा रोष व्यक्त हुआ है—

तो थी भली दमयन्ती नारि ।
नल राजा मेल्हे गयो,
पुरीष समो नहीं निगुण संसार ।।

दूसरी ओर नारी की परवशता, विवशता एवं असमर्थता के प्रति कवि की सहानुभूति मार्मिक शब्दों में व्यक्त हुई है—

स्त्री जनम कांई दियो हो महेस ?
अवर जनम थारे घणा हो नरेस ।।
× × ×
वन-खंड काली कोइली ।
बइसती अंब कइ चंप की डालि ।।

(महेश ! त्रिया का जन्म क्या दिया ! क्या और कोई जन्म (जीवन) तुम्हारे पास नहीं था।.....इससे अच्छा तो किसी वन-खंड में काली कोयल ही बना देते जो (स्वतंत्रतापूर्वक) किसी चंपा की डाली पर बैठ सकती !)

'बारहमासा वर्णन' के माध्यम से विरहिणी नायिका की विभिन्न कालीन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति मर्मस्पर्शी शैली में की गई है। वस्तुतः यह काव्य सहज-स्वाभाविक भाषा में विरहानुभूतियों की व्यंजना की दृष्टि से अनुपम है। जो लोग केवल तत्सम शब्दों के प्रयोग, रूढिबद्ध अलंकारों एवं शैली की प्रौढ़ता को भाव-व्यंजना की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते हैं, वे अवश्य ही इससे संतुष्ट नहीं होंगे।

४. संत-काव्य पर सूफी-प्रभाव का भ्रम

"भारतीय-धर्म-साधना में शृंगारिकता का प्रवेश" शीर्षक अध्याय[1] में विस्तार से बताया जा चुका है कि किस प्रकार वज्रयानी सिद्धों ने धार्मिकता के आवरण में लौकिक शृंगार का विकास किया। किन्तु आगे चलकर उन सिद्धों में ही गोरक्षपा, जालन्धरनाथ, ज्ञाननाथ जैसे उपदेशक हुए जिन्होंने इस सम्प्रदाय की अतिलौकिता, अतिकामुकता एवं अति-भोग-साधना से ऊबकर एक नये सम्प्रदाय—नाथ-पन्थ का प्रवर्त्तन किया जिसमें योग एवं आध्यात्मिक प्रेम को स्थान मिला। यद्यपि सिद्धान्तों की दृष्टि से नाथ-पन्थ में वज्रयान से गहरा भेद है किन्तु उसमें वज्रयान की कई नई बातें मिलती हैं। एक तो नाथ-पन्थी गुरुओं के रूप में वज्रयानी सिद्धों (जिनकी संख्या ८४ मानी जाती है) में से अनेक के नाम ग्रहीत कर लिये गये, दूसरे मुद्रा, शक्ति, सहज योग, आदि अनेक पारिभाषिक शब्दों को ले लिया गया, (यद्यपि उनका अर्थ भिन्न है); तीसरे वज्रयानी सिद्धों की सभी प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियां नाथ-पन्थी साहित्य में मिलती हैं। आगे चलकर नाथ-पन्थ की जटिल-साधना पद्धति की प्रक्रिया स्वरूप इसके कुछ अनुयायियों ने रामानन्द जैसे आचार्यों से सरल भक्ति-सम्प्रदाय की दीक्षा ली।[2] अस्तु, नाथ-पन्थ और भक्ति-सम्प्रदाय के सम्मिश्रण के रूप में ही हिन्दी की उस सन्त-परम्परा का विकास हुआ जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा' का नाम दिया है। यद्यपि सिद्धान्तों की दृष्टि से वज्रयानी, नाथपंथ एवं संत-मत में परस्पर बहुत भेद है, किन्तु साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से इनमें गहरा साम्य है। सिद्ध-

---

१. देखिये—"हिन्दी काव्य में शृङ्गार-परम्परा और बिहारी" (शोध-प्रबन्ध)।

२. "इस बात का तो ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध है कि रामानन्द के शिष्यों में से किसी-किसी ने नाथ-मार्गी योगियों के प्रतिष्ठित अखाड़ों को अपने प्रभाव में लाकर उनके शिष्यों को अपना अनुयायी बनाया है।"

—हिन्दी साहित्य : लेखक हजारीप्रसाद द्विवेदी; प्र० सं०, पृ० १ १४

कवियों की काव्य-परम्परा ही नाथ-पंथी योगियों में होती हुई हिन्दी के संत-कवियों के पास पहुँची; यही कारण है कि अपभ्रंश के सिद्ध-साहित्य की निम्नांकित प्रवृत्तियाँ हिन्दी सन्त-काव्य में मिलती हैं :—

१—सिद्ध और संत कवि अशिक्षित एवं निम्न वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं; दोनों वर्ग के कवियों ने पारिवारिक एवं गार्हस्थ्य-जीवन की अवहेलना की।

२—दोनों वर्ग के कवियों ने अन्य धर्मों की बाह्य-पद्धतियों एवं विधि-निषेधों का खंडन स्पष्ट शब्दों में किया।

३—दोनों वर्ग के कवियों ने परम्परागत वर्ण-व्यवस्था एवं सामाजिक आदर्शों का विरोध किया।

४—दोनों वर्ग के कवियों ने मुक्तक पद-शैली का प्रयोग करते हुए तत्कालीन लोक-भाषा में काव्य-रचना की।

५—दोनों वर्ग के काव्य में रूपक, उलट-बाँसियां एवं श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग भारी संख्या में हुआ है।

६—दोनों वर्ग के कवियों ने बाह्य-विषय के निरूपण की अपेक्षा स्वानुभूति की अभिव्यंजना को प्रधानता दी है।

७—संत-काव्य परम्परा में सिद्धों के लौकिक शृंगार का उन्नयन अलौकिक प्रेम के रूप में प्राप्त होता है।

उपर्युक्त समानताओं को देखते हुए संत-काव्य-परम्परा को सिद्ध-काव्य-परम्परा का ही विकसित रूप कहा जाय तो अनुचित न होगा।

प्रेम का स्वरूप

जिस प्रकार जायसी, कुतुबन, मंझन आदि प्रेमाख्यानक कवियों पर सूफी-मत के प्रभाव का भ्रम पचलित है, उसी प्रकार संत-कवियों का प्रेम-तत्व भी सूफी-मत की देन के रूप में बताया जाता है। किन्तु सिद्ध-साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियों की भाँति संत-काव्य-परम्परा का प्रेम-तत्त्व भी सिद्धों के शृंगार का ही नाथ-पंथी योगियों के द्वारा विकसित परिवर्तित एवं परिष्कृत रूप है। नाथ-पंथी योगियों के काव्य में अलौकिक प्रेम या रहस्यवाद के वे सब तत्त्व उपलब्ध हो जाते हैं

जिनका विकास हिन्दी के संत कवियों में हुआ। उदाहरण-स्वरूप कुछ पंक्तियों का अनुवाद देखिये—

१—अद्वैतवाद—

जो परमात्मा सोइ हौं, जो हौं सो परमात्म।
एह जाने बिनु जोगिया, अन्य न करहु विकल्प।[1]

—योगीन्द्र, १००० ई०—योग-सार

२—आत्मा और परमात्मा का प्रणय-सम्बन्ध—

शून्य करुणा अभिन्न काय-वाक चित्ते।
विलसै वारिक गगन तें पारिम कूले।
अलख लखै चित्त महा सुखे।
विलसै वारिक गगनतें पारिम-कूले।[2]

—दारिक पा (८४० ई०)

साँभलि राजा बोल्या रे अवधू। सुणै अनुपम वाणी जी।
निरगुण नारी सूँ नेह करंता। झबकै रैणि बिहाणी जी।
डाल न मूल पत्र नहिं छाया। बिण जल पिंगुला सींचै जी।
बिणही मढीयां मंदला बाजै। यण विधि लोका रीझै जी।[3]

—गोरखनाथ (अविर्भाव-काल ?)

इसके अतिरिक्त सन्त कवियों के काव्य में कुछ ऐसे साक्ष्य भी उपलब्ध होते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि इन कवियों पर सूफीमत का प्रभाव नहीं है।

१—इन कवियों ने अन्य सम्प्रदायों का विरोध स्पष्ट शब्दों में किया है किन्तु तत्कालीन वैष्णव-भक्ति सम्प्रदाय के प्रति इन्होंने गहरी 'श्रद्धा' का परिचय दिया है—

मेरे संगी दोइ जणां, एक वैष्णों एक राम।
वोहै दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम॥

—कबीर-ग्रन्थावली, ५४६

---

१. राहुल सांकृत्यायन कृत अनुवाद—हिन्दी-काव्य-धारा, पृ० २५१।
२. वही—पृ० १४१। ३. वही—पृ० १६०।

वैश्नों की छपरी भली, ना साषत का बड गाँउ ॥

—वही, पृ० ५५२

साषत बांभण मत मिलै, बैसनों मिले चंडाल ।
अंक माल दे भेटिये, मानो मिले गोपाल ॥

—वही, पृष्ठ ५३

इसी प्रकार गुरु गोरखनाथ के प्रति भी कबीर ने श्रद्धा व्यक्त की है—"साखी गोरखनाथ ज्यूँ अमर भया कलि मांही" (वही पृ० ५१); किन्तु इन्होंने सूफीमत के प्रति कहीं भी कोई श्रद्धा प्रकट नहीं की। इसके विपरीत बंदगी, निवाज, हज्ज आदि (इन्हें सूफी प्रथम सीढ़ी—शरीअत के रूप में स्वीकार करते हैं) तथा सूफी-साधकों—'शेख' दरवेश आदि का विरोध कठोर शब्दों में किया है—

सेख सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ ।
जिनकी दिल स्याबित नहीं, तिनको कहां खुदाइ ॥

—वही, पृष्ठ ४३

यहु सब झूठी बंदगी, बैंदियां पंच निवाज ।
साचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज ॥

—वही, पृष्ठ ४२

× × ×

है कोई दिल दरवेश तेरा ।
नासूत, मलकूत, जबरूप को छोड़िके,
जाइ लाहूत पर करै डेरा ॥

—कबीर का रहस्यवाद (वर्मा), पृष्ठ १५६

२—इन संत-कवियों ने खण्डन के क्षेत्र में ईश्वर के पर्यायवाची के रूप में अल्लाह, खुदा, आदि शब्दों का प्रयोग किया है; किन्तु प्रेम के आवेश में वे सर्वत्र राम, गोविन्द, हरि आदि शब्दों का प्रयोग करते है, जिनका सूफीमत से कोई सम्बन्ध नहीं।

२—इन्होंने भारतीय अद्वैतवाद और नाथ-पंथी योग-साधना के प्रमुख पारिभाषिक शब्दों—ब्रह्म, माया, आत्मा, सहज-साधना, शून्य, योग, चेतावनी,

परिचय, सूक्ष्म-मार्ग, कुण्डली, षट-चक्र, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि का प्रयोग स्थान-स्थान पर किया है किन्तु अपनी साधना-पद्धति के प्रतिपादन में सूफी शब्दावली---क्लब, सिर्र, अक्ल, शरीअत, तरीकत, मारिफत, हकीकत आदि का प्रयोग प्रायः नहीं किया है।

४—सूफी प्रेम में ब्रह्म की प्रेमिका के रूप में तथा साधक की प्रेमी के रूप में कल्पना की जाती है, जबकि कबीर, दादू आदि संत कवियों ने ईश्वर को पति तथा अपने आपको पतिव्रता-पत्नी का रूप दिया है। कबीर ग्रन्थावली 'निहकरमी पतिव्रता को अंग', 'पीव पिछापन को अग' आदि प्रसंग प्रमाण-स्वरूप देखे जा सकते हैं।

५—हमारे विद्वान आलोचकों ने कबीर के रहस्यवाद पर सूफीमत के प्रभाव का उल्लेख तो बार-बार किया है, किन्तु उन्होंने यह बताने का कष्ट नहीं किया कि सूफी प्रेम की कौन-कौन सी विशेषताएँ कबीर आदि संतों में मिलती हैं, जो भारतीय-साधना पद्धति से असम्बद्ध हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने 'कबीर के रहस्यवाद' शीर्षक ग्रन्थ में 'सूफीमत और कबीर' का विवेचन किया है, इसमें पहले सूफीमत का परिचय दे दिया है और आगे कबीर के काव्य से कुछ पंक्तियां उद्धृत कर दी गई हैं, किन्तु दोनों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया। यही नहीं, उन्होंने विरोधी उदाहरण भी दिये हैं - जैसे निम्नांकित पद देखिये---

हम सब मांही सकल हम मांही
हम थे और दूसर नाँही।
तीन लोक में हमारा पसारा।
आवागमन सब खेल हमारा।
खट-दरशन कहियत भेखा।
हमहीं अतीत रूप नहीं रेखा।
हमहीं आप कबीर कहावा।
हमहीं अपना आप लखावा॥[1]

१. कबीर का रहस्यवाद---डा० रामकुमार वर्मा, सातवां संस्करण, पृष्ठ ९८

डा० वर्मा ने इस पद्य में सूफियों की आध्यात्मिक भावना का प्रभाव बताया है, किन्तु हमें इसमें ऐसी कोई बात नहीं दिखाई देती। घट में अघट को देखने की साधना का प्रचार नाथ-पंथी एवं सिद्ध योगियों द्वारा भारत में सूफियों के आगमन से पूर्व हो चुका था। इसके अतिरिक्त इस पद में 'तीन-लोक', 'आवागमन', 'षट-दर्शन' आदि शब्द भारतीय-दर्शनों के प्रभाव के द्योतक हैं—न कि सूफी प्रभाव के। यही नहीं, कई स्थानों पर कबीर में सूफी प्रेम से भेद मिलता है—इसका आभास डा० वर्मा की इन पंक्तियों में भी मिल जाता है—"रूमी ने अपनी मसनवी में लिखा है.....। कबीर ने इसी विचार को बहुत परिष्कृत रूप में रखा है। वे नहीं कहते कि जब लहर समुद्र में पहुँची तो समुद्र बन गई, पर वे यह कहते हैं कि हम इस प्रकार देखेंगे जैसे तरंगिनी की तरंग, जो उसी में उत्पन्न होकर उसी में मिलती है। रूमी तो कहता है कि जब तरंग समुद्र में पहुँची तब वह समुद्र बनी। पहले वह समुद्र का भाग नहीं थी। कबीर का कथन है कि तरंग तो सदैव तरंगिनी में वर्तमान है। उसी में उठती है और उसी में गिरती है—

ऐसे जलहि तरंग तरंगिनी ,
ऐसे हम दिखलावहिंगे ।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर ,
हंसहि हंस मिलावहिंगे[1] ।।"

यहाँ डा० वर्मा ने यह नहीं बताया कि कबीर और सूफी कवि रूमी में ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में यह मतभेद क्यों मिलता है ? वस्तुतः यह भेद कबीर और रूमी का ही नहीं है—भारतीय अद्वैत-साधना एवं सूफी रहस्यवाद का भेद है, कबीर का सम्बन्ध नाथपंथी योगियों की रहस्य-पद्धति से था, न कि सूफी कवि रूमी से, अतः दोनों में यह भेद मिलना स्वाभाविक है।

अस्तु, उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी के सन्त कवियों का प्रेम-तत्व सूफी मत से उधार लिया हुआ नहीं है, उसका विकास सिद्धों, नाथ-पंथियों एवं वैष्णव भक्ति सम्प्रदायों के प्रभाव से

---

१. वही पृष्ठ ६५

हुआ। फिर भी इतना स्पष्ट है कि सन्तों ने उपर्युक्त सम्प्रदायों से प्रेम को ज्यों का त्यों ग्रहीत नहीं किया—उसका पर्याप्त विकास एवं परिष्कार किया है। सिद्धों का प्रेम कामुकता से ओत-प्रोत था तथा वह लौकिक आलम्बन—मुद्रा (नारी) से सम्बन्धित था, नाथ-पंथी योगियों ने इसे विशुद्ध भावना का रूप देकर अलौकिक शक्ति की ओर प्रेरित किया। नाथ-पंथियों में प्रेम की अपेक्षा योग-साधना का अधिक महत्व है अतः उसमें प्रणयानुभूतियों की व्यंजना नहीं मिलती। हिन्दी के सन्त-कवियों का प्रेम अदृष्ट की ओर उन्मुख है तथा उसमें योग-साधना की शब्दावली का भी प्रयोग मिलता है किन्तु फिर भी उसमें प्रणय-अनुभूति की मात्रा नाथ-पंथियों से बहुत अधिक है। वैष्णव-भक्तों के प्रभाव से संत-कवियों के प्रेम में कुछ नये तत्वों का भी मिश्रण मिलता है जिनका पूर्ववर्ती सिद्धों एवं नाथ-पंथियों के साहित्य में अभाव है :—

(क) इन्होंने अपने अलौकिक ईश्वर का नामकरण वैष्णव भक्तों की शब्दावली में किया—जैसे राम, गोविन्द, हरि। यह ध्यान रहे, कबीर की आत्मा—"हम घर आये हो राजा राम"—तो कहती है; किन्तु वह अल्लाह, या खुदा से मिलने की चर्चा कभी नहीं करती।

(ख) इन्होंने आत्मा और परमात्मा की एकता स्वीकार करते हुए भी आत्मा की अपेक्षा परमात्मा को अधिक महत्व प्रदान किया है जिससे इनमें आत्म-दैन्यता का भाव मिलता है, जैसे—

कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाऊँ ।
गले राम की जेवड़ी, जित खेंचे तित जाऊँ ।।

—क० ग्र०, पृष्ठ २०

यही नहीं, इन्होंने आत्मा को प्रिय की अपेक्षा हीन, अबोध एवं मलिन भी स्वीकार किया है :—

जा कारणि मैं ढूँढ़ता, सनमुख मिलिया आइ ।
धन मैली पिव उजला, लागि न सकौं पाइ ।।

—वही, पृष्ठ १५

अस्तु, इनके प्रेम में कहीं-कहीं श्रद्धा का ऐसा मिश्रण मिलता है कि वह भक्ति की सीमा में पहुँच जाता है।

रहस्यवाद का विकास—अन्त में हम कह सकते हैं कि भारतीय साहित्य में रहस्यवाद का विकास सिद्धों, नाथ-पंथियों एवं वैष्णवों की दीर्घ परम्परा की देन है। इसके प्रारम्भिक अंकुर ८वीं शताब्दी से ही—भुसुकपा, लुईपा, विरूपा, दारिकपा, गोरक्षपा, योगीन्दु आदि अपभ्रंश-कवियों की रचनाओं में मिलने लगते हैं।[1] अतः यह समझना कि हिन्दी-काव्य में रहस्यवाद का उदय सूफीमत के प्रभाव से हुआ एक भ्रम मात्र है। इसके अतिरिक्त सन्त-कवियों की अन्य साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी इस बात की द्योतक हैं कि हिन्दी संत-काव्य का उद्गम-स्रोत अपभ्रंश का सिद्ध एवं नाथ-पन्थी साहित्य है, फारसी का सूफी काव्य नहीं। हाँ भारतीय अद्वैतवाद का अध्ययन आठवीं-नवीं शताब्दी में अरब और फारसी के विद्वानों ने भी किया था।[2] अतः सूफीमत और भारतीय-अद्वैत के प्रतिपादन में कहीं-कहीं उदाहरणों का साम्य मिलना स्वाभाविक है। हिन्दी के सन्त-कवियों में फारसी के सूफी कवियों से कहीं कोई साम्य मिलता भी है तो वह घुणाक्षर-न्याय से ही है, उसमें कारण और कार्य का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता।

---

१. हिन्दी-काव्य-धारा—राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ १३६–१५६।

२. विश्व-साहित्य की रूप-रेखा—डा० भगवतशरण उपाध्याय।
—पृष्ठ ६६; ३५०।

*

५. सन्त-काव्य : प्रवृत्तियाँ और उसका विकास

सन्त-काव्य की सामान्य प्रवृत्तियों को तीन समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है—१. विषय वस्तु सम्बन्धी, २. भाव पक्ष सम्बन्धी और ३. शैली पक्ष से सम्बन्धित। यहाँ प्रत्येक वर्ग की प्रवृत्तियों का विवेचन अलग-अलग किया जाता है।

१. **विषय वस्तु**—प्रायः सभी प्रमुख सन्त-कवियों का आविर्भाव समाज के निम्न वर्ग में हुआ था तथा कविता करने का इनका प्रमुख उद्देश्य अपने विचारों का प्रचार करना तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों का प्रकाशन करना था। अतः इनके काव्य की विषय वस्तु का सम्बन्ध भौतिक जगत् से न होकर सूक्ष्म आध्यात्मिक विचारों से है। दूसरे शब्दों में यों कहिये कि उनके काव्य में दार्शनिक एवं साम्प्रदायिक विचारों का वर्णन हुआ है। सूक्ष्म विचारों की अभिव्यंजना के लिए प्रायः कवि लोग किसी ऐतिहासिक पात्र, पौराणिक आख्यान या सांसारिक जीवन की किसी प्रमुख घटना का आश्रय ग्रहण करते हैं, किन्तु सन्त-कवियों ने ऐसा नहीं किया। विशुद्ध विचारों की अभिव्यक्ति के लिए पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक उपयुक्त रहता है, परन्तु इन्होंने कविता का माध्यम अपनाया। इसके कई कारण हैं। एक तो वह युग ही गद्य का नहीं था, आयुर्वेद तक के ग्रन्थ उस युग में पद्य में रचे गये थे, दूसरे सन्त मत से सम्बन्धित गुरु और शिष्य, दोनों ही अशिक्षित वर्ग के थे, अतः उपदेशों को मौखिक रूप में स्मरण रखने के लिए उनका पद्यबद्ध होना आवश्यक था और तीसरे, वे अपने विचारों को अधिक रोचक एवं सरस शैली में अभिव्यक्त करना चाहते थे, अतः इन सब कारणों से इन्होंने काव्य-रचना की।

सन्त-कवियों की विचारधारा निजी अनुभूतियों पर आधारित है, अतः उसमें दर्शन की शुष्कता न होकर काव्य की सी तरलता मिलती है। उनके उपदेशों में विधि और निषेध दोनों पक्षों का समन्वय हुआ है। जहाँ उन्होंने

निर्गुण ईश्वर, रामनाम की महिमा, सत्संगति, भक्तिभाव, परोपकार, दया, क्षमा आदि का समर्थन पूरे उत्साह से किया है वहाँ मूर्ति-पूजा, धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा, तीर्थ, व्रत, रोजा, नमाज, हज आदि विधि-विधानों, बाह्याडम्बरों, जाति-पाँति-भेद आदि का डट कर विरोध किया है। प्रायः इन्होंने अपने युग के वैष्णव धर्म जैसे कुछ सम्प्रदायों को छोड़कर शेष सभी धर्म-सम्प्रदायों की कटु आलोचना की है, ऐसा करते समय इन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों की दार्शनिक उक्तियों एवं उनके पारिभाषिक शब्दों की भी पुनरावृत्ति की है। विशेषतः नाथ-पंथी योगियों के विभिन्न पारिभाषिक शब्दों, —षट्चक्र, कुण्डलिनी, इडा पिंगला सुषुम्ना, ब्रह्मरन्ध्र, समाधि आदि का प्रयोग इन्होंने बारम्बार करते हुए उनकी व्याख्या अपने ढंग से की है। स्थूल दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि इन्होंने सभी धर्मों से प्रभाव ग्रहण किया है, किन्तु वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को छोड़कर शेष धर्म-सम्प्रदायों का प्रभाव न होकर उनकी प्रतिक्रिया ही इनमें अधिक मिलती है।

२. **भाव पक्ष**—संत-काव्य में मुख्यतः अलौकिक प्रेम-भाव की व्यंजना हुई है जिसे 'रहस्यवाद' की भी संज्ञा दी गई है। कुछ विद्वानों ने इनके रहस्यवाद को सूफीमत से प्रभावित बताया है, किन्तु वास्तव में सूफी रहस्यवाद से इनके प्रणयभाव में अनेक सूक्ष्म भेद हैं, जिन पर पीछे प्रकाश डाला जा चुका है। वैष्णव भक्ति की भी अनेक विशेषताएँ इनके प्रेम में मिलती हैं, किन्तु फिर भी इनका प्रणय सर्वत्र भक्ति की सीमा में ही आबद्ध नहीं रहता। भक्ति की तृप्ति अपने आराध्य को दो हाथ दूरी से देख लेने मात्र से ही हो जाती है, वह अधिक से अधिक उसके दर्शन करना चाहता है, संत-कवियों की भांति उसके साथ 'एकमेक होकर सेज पर सोने' की कल्पना वह नहीं करता। किन्तु रहस्यवाद के लिए आत्मा और परमात्मा की समानता का जो विचार अपेक्षित है, वह संत-कवियों में नहीं मिलता। उनका आदर्श भारतीय पत्नी का है जो अपने आपको पति की अपेक्षा हीन मानते हुए भी उसके प्राणों से लिपट जाना चाहती है। अस्तु, सीधे-सादे शब्दों में इनका प्रेम भक्ति और रहस्यवाद के बीच की स्थिति से सम्बन्ध रखता है जिसे हम प्रणय कहना ही अधिक उपयुक्त और उचित समझते हैं।

इन्होंने अपने अलौकिक प्रेम की व्यंजना कुछ ऐसे लौकिक रूपकों एवं प्रतीकों के माध्यम से की है जिनसे वह पाठक की अनुभूति का विषय बन जाता है। अनुभूति की तरलता से युक्त होने के कारण वह श्रोता के हृदय को प्रभावित करने में समर्थ है। प्रणयानुभूतियों के क्षेत्र में पहुँच कर वे अपनी खंडन-मंडन की प्रवृत्ति को भूल जाते हैं। कबीर जैसा अक्खड़ भी विरह-वेदना से त्रस्त होकर सौ-सौ आंसू बहाने लगता है। बनारस के पंडितों को ललकारने वाला, अपनी उक्तियों से उनके शास्त्र-ज्ञान को चकनाचूर कर देने वाला कबीर अपने प्रियतम के प्रेम में बेसुध होकर अपने आपको 'राम का कुत्ता' तक घोषित कर देता है। विरहानुभूतियों की अभिव्यक्तियों में उन्हें पूरी सफलता मिली है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

बिरहिन उभी पंथ सिर, पंथी बूझे धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कब रे मिलेंगे आइ॥

× × ×

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसे तुझ मिलन कूं, मनि नाही विश्राम॥

× × ×

आइ न सकौं तुज्झ पै, सकूं न तुज्झ बुलाइ।
जियरा योंही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ॥

—(कबीर-ग्रंथावली)

कौन विधि पाइये रे मीत हमारा सोइ।
पास पीय परदेस है रे, जब लग प्रगटइ नांहि।
बिनु देखे दुःख पाइये रे, यह सालइ मन मांहि॥
जब लग नैन न देखिये रे, परगट मिलइ न आइ।
एक सेज संग रहइ रे, यह दुख सहा न जाइ।

× × ×

कहा करहुं कइसे मिलहि रे, तलफइ मेरा जीव।
दादू आतुर बिरहिनी रे, कारन आपने पीव॥

—(दादू दयाल)

तीव्र विरह-वेदना की अनुभूतियों के अनन्तर इन कवियों के भावुक जीवन में मिलन की घड़ियों का भी आगमन होता है। वे अपना सारा पौरुष, सारा गर्व एवं सारी अक्खड़ता को भूलकर किसी नवीना किशोरी के हृदय की भांति कोमलता से गद्‌गद, लाज से विभोर और प्यार से विह्वल हो उठते हैं। प्रियतम के महल की ओर अग्रसर होते हुए उनके पैर सौ-सौ बल खाने लगते हैं, हृदय में तरह-तरह की शंकाओं का आन्दोलन उठने लगता है—

मन प्रतीत न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग।
क्या जाणौं उस पीव सूं, कैसे रहसी रंग॥

—कबीर

और अन्त में मधुर मिलन के वे क्षण भी आते हैं जबकि उनकी सारी शकाएँ, सारी लज्जाएँ और समस्त तर्क-वितर्क रस के प्रवाह में बह जाते हैं—

जोग जुगत री रंग महल में, पिय पाये अनमोल रे।
कहत कबीर आनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे॥

इस प्रकार इनके काव्य में प्रणय की दोनों अवस्थाओं—विरह और संयोग —का चित्रण अनुभूतिपूर्ण शब्दों में हुआ है। उपदेशपरक सूक्तियों में शान्तरस की भी व्यंजना हुई है।

३. शैली एवं भाषा—इनके काव्य में मुख्यतः गेय मुक्तक शैली का प्रयोग हुआ है। रीति-काव्य के पांचों प्रमुख तत्त्व, १. भावात्मकता, २. वैयक्तिकता, ३. संगीतात्मकता, ४. सूक्ष्मता और ५. भाषा की कोमलता, इनके काव्य में मिलते हैं किन्तु कहीं-कहीं उपदेशपरक पदों में भावात्मकता का स्थान बौद्धिकता ने ग्रहण कर लिया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने साखी, दोहा, चौपाई की शैली का भी प्रयोग किया है। रीतिकाल के संत-कवियों ने कवित्त, सवैयों और कुंडलियों में भी काव्य-रचना की है।

अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम इन्होंने लोक प्रचलित भाषा को ही बनाया, इसका कारण केवल संस्कृत को कूप-जल एवं भाषा को बहता नीर समझना ही नहीं, अपितु वे स्वयं तथा उनके शिष्य अपनी अशिक्षा के कारण और किसी साहित्यिक भाषा का प्रयोग करने में असमर्थ भी थे। प्रदेश-भेद के अनुसार विभिन्न

कवियों ने प्रारम्भिक खड़ी बोली, राजस्थानी, पूर्वी, पंजाबी प्रभावित व्रज, एवं विशुद्ध व्रजभाषा का प्रयोग किया है। यद्यपि जान बूझ कर अपनी भाषा को आलंकारिकता से लादने का प्रयत्न इन्होंने नहीं किया किन्तु अनुभूति की तीव्रता के कारण इनकी अभिव्यक्ति में अलंकार, रीति एवं ध्वनि से सम्बन्धित विभिन्न तत्वों का समावेश स्वतः ही हो गया है। आचार्य हजारी प्रसाद जी ने कबीर की भाषा के सम्बन्ध में जिस शब्दावली का प्रयोग किया है, उसे हम सभी प्रमुख संत-कवियों पर लागू करते हुए कह सकते हैं कि भाषा इनके सामने लाचार-सी नजर आती है। इसमें इतना सामर्थ्य नहीं है कि वह इन अक्खड़ साधुओं की कोई बात मानने से इनकार कर दे। अतः इन्होंने जैसा कहलाना चाहा, वैसा ही इनकी भाषा ने पूरी शक्ति के साथ कह दिया है।

महत्व

अन्त में हम कह सकते हैं कि संत-काव्य में अनेक न्यूनताएँ होते हुए भी वह हिन्दी-साहित्य के लिए गर्व की वस्तु है। जिस युग में इन्होंने काव्य-रचना की वह भारत के लिए अज्ञान, अशिक्षा और अनैतिकता का घोर अन्धकारमय युग था, और ये कवि उस युग की जनता के निम्नतम स्तर से सम्बन्ध रखते थे, फिर भी इन्होंने ज्ञान की जो ज्योति जलाई वह अद्भुत है, अपूर्व है। सुसंस्कृत युग और सुशिक्षित समाज के सुपठित कवियों द्वारा उच्च कोटि की रचनाओं का प्रणीत होना विशेष महत्व की बात नहीं, अपने पतन की चरम अवस्था में भी पतित, दलित एवं जर्जरित भारत का ऐसे महान् प्रतिभाशाली, गम्भीर चिन्तक एवं स्पष्टवक्ता कवियों को जन्म दे देना एक ऐसा आश्चर्य है जिसका दूसरा उदाहरण विश्व-इतिहास में शायद ही कहीं मिले। मुगल-कालीन भारत में जबकि उच्च वर्ग की जनता अपने शासकों का अनुकरण करती हुई विलासिता के रंग में डूबी हुई थी, जबकि मन्दिर, तीर्थ और धर्म-स्थान व्यभिचार के केन्द्र बन रहे थे, और जबकि विभिन्न सामाजिक पर्वों पर मनोरंजन के पवित्र एवं शुभ कृत्यों के आयोजन के स्थान पर सुरा और सुन्दरी के सत्कार का प्रबन्ध होता था, ऐसी स्थिति में निम्न वर्ग के

अशिक्षित जन-समुदाय का अनैतिकता, अनाचार और अधःपतन की चरम सीमा तक पहुँच कर मटियामेट हो जाना स्वाभाविक था, किन्तु संत मत के विभिन्न उन्नायकों ने उन्हें एक ऐसा नेतृत्व प्रदान किया जिससे राष्ट्र का यह बहुसंख्यक वर्ग विनाश से बच सका।

साहित्यिक दृष्टि से भी संत-कवियों की देन का कम महत्व नहीं है। अपनी अनुभूतियों को सहज स्वाभाविक भाषा में अभिव्यक्त करके उन्होंने काव्य के सच्चे स्वरूप का उद्घाटन किया। आधुनिक कवियों एवं लेखकों की भांति उन्होंने अपने साहित्य में अपरिपक्व विचारों, अस्पष्ट जीवन-दर्शन और अधकचरे मनोविज्ञान का मिश्रण नहीं किया, अपितु मस्तिष्क के शुष्क विचारों को हृदय की अनुभूति में सराबोर करके व्यक्त किया। सच्चे कवि की वाणी में अभिव्यक्ति के साधन स्वतः ही प्रस्फुटित हो जाते हैं, इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण इन कवियों का साहित्य है। 'भाषा कैसी ही हो, भाव चाहिए मित्त' की उक्ति संत-काव्य पर पूर्णतः चरितार्थ होती है।

६. क्या प्रेमाख्यानक कवियों का प्रेम अलौकिक है ?

जैसा कि 'भारतीय-धर्म-साधना में शृंगारिकता का प्रवेश' शीर्षक में स्पष्ट किया गया है, शैवों और सिद्धों के प्रभाव से जैन कवियों के धार्मिक आख्यानों में लौकिक प्रेम का मिश्रण' आठवीं शताब्दी से पूर्व हो गया था। हिन्दी-प्रेमाख्यानों में भी जैन कवियों की अन्य विशेषताओं के साथ-साथ इस लौकिक प्रेम का भी चित्रण मिलता है। किन्तु कुछ विद्वान जिनका विश्वास है कि भारतीय-धर्म-साधना में प्रेम का प्रवेश ही सूफियों के प्रभाव से हुआ —वे हिन्दी के इन आख्यानों में चित्रित प्रेम को सूफी रहस्यवाद अर्थात् आत्मा और परमात्मा के अलौकिक प्रणय की व्यंजना के रूप में ग्रहण करते हैं। ये विद्वान अपने पक्ष के समर्थन में निम्नाङ्कित युक्तियाँ देते हैं—

१—इन कवियों ने सूफी-मत के प्रचार के लिए अपने काव्यों की रचना की।[1]

२—इन काव्यों में आत्मा और परमात्मा के प्रेम का रूपक बाँधा गया है।[2]

३—इनमें स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक सिद्धान्तों एवं साधना-पद्धतियों का निरूपण किया गया है।[3]

४—इन काव्यों में नायिका (जो कि परमात्मा की प्रतीक है) के व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य का इतने व्यापक रूप में चित्रण किया गया है जिससे किसी 'अनन्त सौन्दर्य-सत्ता' के स्वरूप का आभास होने लगता है।[4]

---

१. हिन्दी-साहित्य—ले० हजारीप्रसाद द्विवेदी; प्रथम संस्करण, पृष्ठ २६३।

२. "रत्नसेन का पद्मावती तक पहुँचाने वाला प्रेम-पंथ जीवात्मा को परमात्मा में लेजाकर मिलाने वाले प्रेम-पंथ का स्थूल आभास है।"
—जायसी-ग्रन्थावली (शुक्ल) भूमिका, पृष्ठ ५६

३. वही, पृष्ठ १३५। ४. वही, पृष्ठ ५५ और पृष्ठ ६१।

५—इनमें प्रेम और विरह का ऐसा वर्णन किया गया है कि जिससे आध्यात्मिक स्वरूप का परिचय मिलता है।[1]

युक्तियों की परीक्षा—यद्यपि हमारे विद्वानों ने इन कवियों का काव्य-रचना का उद्देश्य सूफी-मत प्रचार बताया है किन्तु इसके विरोध में निम्नांकित प्रमाण मिलते हैं :—

(क)—हिन्दी के प्रेमाख्यान रचयिताओं में अनेक हिन्दू थे—ईश्वरदास (सत्यवती), पुष्कर (रस-रतन), सूरदास लखनवी (नल-दमन), मेघराज साहा (मृगावती), दुखहरण दास (पुहुपावती), हेमरत्न-सूरि (पद्मिनी), नन्ददास (रूप-मञ्जरी), काशीराम (कनक-मञ्जरी), हरसेवक मिश्र (कामरूप) आदि[2]—अतः इनके द्वारा सूफी मत के प्रचार की बात नहीं उठती। यदि मुसलमान कवियों का उद्देश्य धर्म-प्रचार का होता तो हिन्दू कवि इनका अनुकरण करना तो दूर रहा इन रचनाओं का विरोध करते।

(ख)—मुसलमान कवियों ने अपनी काव्य-रचना का उद्देश्य स्पष्ट रूप में बताया है। जायसी ने लिखा है—"मैंने यह सोचकर काव्य लिखा कि संसार में मेरा कोई स्मारक-चिह्न रह जाय।·····जो लोग इस कहानी को पढ़ेंगे, वे मुझे भी याद करेंगे।"[3] उसमान ने चित्रावली की रचना अपनी काव्य-कला का अभ्यास दिखाने के लिए की थी; अतः वे अन्य कवियों को चुनौती देते हैं—"जिसमें मेरे से अधिक बुद्धि हो, वह इससे अच्छी कहानी

---

१. "क्या संयोग, क्या वियोग, दोनों में कवि प्रेम के उस आध्यात्मिक स्वरूप का आभास देने लगता है·····" —वही, पृष्ठ ५५

२. इनका विस्तृत परिचय देखिए—'हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा'। —ले० कुलश्रेष्ठ

३. औ मैं जानि कवित अस कीन्हा।
मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।
× × ×
जो यह पढ़े कहानी, हम्ह सँवरै दुई बोल॥
—पद्मावत—उपसंहार २

लिखकर दिखावे।"[१] साथ ही वे यह भी कहते हैं—"मेरी कहानी को बच्चे सुनेंगे तो प्रसन्न होंगे, तरुण सुनेंगे तो उनके मन में काम बढ़ेगा,.....भोगी के भोग-विलास में वृद्धि होगी।"[२] इसी प्रकार आलम (माधवानल काम-कन्दला) और नूर मोहम्मद ने भी अपनी रचना का उद्देश्य कामी, रसिक और प्रेमी, लोगों की तृप्ति करना बताया है।[३] यूसुफ जुलेखा के रचयिता निसार ने काव्य-रचना का उद्देश्य पुत्र के देहान्त-शोक को भुलाना, प्रेमियों के प्रेम को बढ़ाना और अपना स्मृति-चिह्न छोड़ जाना स्वीकार किया है।[४] अतः इन काव्यों का उद्देश्य धर्म-प्रचार बताना उचित नहीं।

---

१. जाकी बुद्धि होई अधिकाई। आन कथा एक कहै बनाई॥

—हिन्दी-प्रेम काव्य-संग्रह, पृष्ठ ६

२. बालक सुनत काम रस लावा।
तरुनन्ह के मन काम बढ़ावा॥
× × ×
भोगी कहैं सुख भोग बढ़ावा॥

वही, पृष्ठ ११

३. आलम—

कहौं बात सुनौ सब लोग। कथा-कथा सिंगार-वियोग॥
सकल सिंगार विरह की रीति। माधो-कामकन्दला प्रीति॥
× × ×
प्रीतिवन्त ह्वै सुनै सो कोई। बाढ़ै प्रीति हिएँ सुख होई॥
कामी पुरुष रसिक जे सुनही। ते या कथा रैनि दिन सुनहीं॥

—वही, पृष्ठ २२६

नूर मोहम्मद—

नूर मोहम्मद यह कथा, अहै प्रेम की बात।
जेहि मन होई प्रेम-रस, पढ़ै सोई दिन-रात॥

—वही, पृष्ठ १५३

४. जब तें मतीफ कर मरम बिसेख्यो।
तब सम्पत मिरथा देख्यो॥
× × ×

दूसरी युक्ति-रूपक—इस काव्य-परम्परा की सर्व-श्रेष्ठ रचना 'पद्मावत' (जायसी कृत) में कवि ने अपने काव्य को एक रूपक घोषित किया—

"मैं एहि अरथ पंडितन बूझा। कहा कि हम किछु और न सूझा।
चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घट माहीं।
तन चितउर, मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुधि पद्मिनी चीन्हा।
गुरू सुआ जेइ पन्थ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा।
नागमती यह दुनियाँ धन्धा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू।
प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु। बूझि लेउ जो बूझै पारहु।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में चौदह भुवन, घट, तन, हिय, बुद्धि, गुरु, निर्गुण, माया आदि पारिभाषिक शब्द (केवल शैतान को छोड़कर) भारतीय अद्वैत साधना से सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु हमारे विद्वानों ने सूफी साधना को आधार मान कर इस रूपक की व्याख्या की जो पद्मावत के कथानक से मेल नहीं खाती; परिणाम-स्वरूप विद्वानों ने कहना आरम्भ किया कि यह रूपक पद्मावत के पूर्वार्द्ध पर ही लागू होता है, किन्तु जब इससे भी काम नहीं चला तो यह कहा जाने लगा कि उपर्युक्त पंक्तियां प्रक्षिप्त हैं। किन्तु 'बूझि लेउ जो बूझै पारहु" (समझ लो, यदि समझ सको !) में जो गर्व व्यंजित है, वह उसके रचियता का ही हो सकता है; किसी अन्य का नहीं। अतः हमें इस रूपक का वास्तविक अर्थ ढूँढ़ने का प्रयत्न करना चाहिए।

रूपक का अर्थ—जायसी ने अपने काव्य में रत्नसेन को मन का तथा पद्मिनी को "हृदय में निवास करने वाली बुद्धि" अर्थात् सात्त्विक ज्ञान का प्रतीक माना है; किन्तु हमारे विद्वानों ने इसके विपरीत रत्नसेन को आत्मा का

हम न रहब आखर रहजाई।
× × × ×
प्रेमी सुनै प्रेम अधिकावै॥

—वही, पृष्ठ २२३

१. जायसी-ग्रन्थावली—सम्पादक रामचन्द्र शुक्ल; चतुर्थ संस्करण, पृ० ३०१

तथा पद्मिनी को परमात्मा का प्रतीक मान कर रूपक का अर्थ निकालने का प्रयत्न किया [१]—इसी से रूपक में अनेक असंगतियां दृष्टिगोचर होती हैं। यदि हम 'पद्मावत' में दिये गये संकेतों को उनके शुद्ध रूप में ग्रहण करते हुए रूपक की व्याख्या करें तो इसका एक नया अर्थ प्राप्त होता है, जिसका सूफी-साधना और अलौकिक प्रेम से कोई सम्बन्ध नहीं है :—

पद्मावत के आरम्भ में रत्नसेन रूपी मन, चित्तौड़ रूपी शरीर का उपभोग करता हुआ सांसारिक कार्यों (नागमती) में लिप्त है। शुक रूपी गुरु के उपदेश एवं मार्ग-प्रदर्शन से मन (रत्नसेन), सांसारिक कार्यों (नागमती) से विरक्त होकर पद्मिनी रूपी बुद्धि अर्थात् ज्ञान को प्राप्त करता है। किन्तु इस ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर साधक को गर्व हो जाता है (देखि दरब राजा गरबाना। दिस्टी मांह कोई और न आना ॥)[२] जिसके फलस्वरूप उसका पतन हो जाता है (गौने के बाद रत्नसेन के जहाज का समुद्र में डूब जाना) और उसका सारा ज्ञान, सारी सिद्धि गर्व के समुद्र में बह जाती है। वह पुनः अपनी प्रारम्भिक अवस्था—शारीरिकता (चित्तौड़) को प्राप्त करता हुआ सांसारिकता (नागमती) की ओर उन्मुख हो जाता है। किन्तु गर्व के शमन के साथ-साथ ही उसे खोई हुई सात्त्विक बुद्धि (पद्मिनी) पुनः प्राप्त हो जाती है। सांसारिक कर्मों के बीच रहते हुए धीरे-धीरे ज्ञान-साधना के विकास का प्रयत्न करता है; फल-स्वरूप उसकी सांसारिक (नागमती) और बौद्धिक (पद्मिनी) वृत्तियों के बीच सङ्घर्ष (नागमती और पद्मिनी का गृह-कलह) होने लगता है। ऐसी द्वन्द्वात्मक परिस्थिति में मन (रत्नसेन) आसुरी वृत्तियों (राघव चेतन) के मायाजाल (अलाउद्दीन) में उलझ जाता है।

आसुरी वृत्तियों के बन्धन में पड़कर मन बहुत दुःखी होता है (रत्नसेन-बन्धन-खण्ड)। अस्तु, साधक की सात्विक बुद्धि का पुनः उदय होता है; उसकी सहायता से वह आसुरी-वृत्तियों के कृत्रिम आकर्षण—मायाजाल को काटकर 'मोक्ष' प्राप्त कर लेता है और उसकी सांसारिक एवं आध्यात्मिक वृत्तियां

१. जायसी-ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल—भूमिका, पृ० ५६
२. वही—रत्नसेन-विदाई खण्ड, पृ० १७१

(नागमती और पद्मिनी) भी विलीन (सती) हो जाती हैं। पद्मावत का 'बन्धन-मोक्ष खण्ड' इसी आध्यात्मिक मोक्ष की ओर संकेत करता है।

पद्मावत का यह रूपक भारतीय साधना-पद्धति से कितना गहरा साम्य रखता है यह देखने के लिए 'कामायनी' के रूपक से इसकी तुलना की जा सकती है। दोनों के पात्रों के प्रतीकार्थों में गहरा साम्य है---

पद्मावत	कामायनी	प्रतीकार्थ
१—रत्नसेन	मनु	मन
२—पद्मिनी	श्रद्धा	जायसी—हृदय में निवास करने वाली बुद्धि। प्रसाद—हृदय पक्ष से सम्बन्धित चित्तवृत्ति।[1]
३—नागमती	इड़ा	जायसी—दुनिया-धंधा। प्रसाद—सांसारिकता की ओर ले जाने वाली बुद्धि।
४—राघव-चेतन और अलाउद्दीन	किरात और आकुलि	आसुरी शक्तियां।

घटनाओं की दृष्टि से भी दोनों में मन श्रद्धा या सात्विक बुद्धि को प्राप्त करने के अनन्तर ईर्ष्या एवं अहङ्कार के कारण आसुरी प्रवृत्तियों (राघव चेतन, किराताकुलि) से ग्रस्त हो जाता है और वह सांसारिक कर्मों (नागमती, इड़ा) की ओर अग्रसर होता है जिसके परिणामस्वरूप उसे कष्ट एवं सङ्घर्ष-पूर्ण परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। अन्त में सात्विक बुद्धि (पद्मिनी, श्रद्धा) की सहायता से मन को मोक्ष या आनन्द की उपलब्धि होती है।

वस्तुतः जिस प्रकार कामायनी के मूल-रूपक से श्रद्धा और मनु के प्रेम का कोई सम्बन्ध नहीं है तथा स्वरूप लौकिक ही है, ठीक उसी प्रकार रत्नसेन

१. "मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।"

—कामायनी आमुख, पृ० ८

और पद्मावती का प्रेम, कथा के लौकिक पक्ष से सम्बन्धित है, उसके दार्शनिक या आध्यात्मिक पक्ष से इस प्रेम का कोई सम्बन्ध नहीं है। पद्मावत के अतिरिक्त अन्य प्रेमाख्यानों में भी प्रयुक्त रूपकों का सूफी-साधना से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसमान ने 'चित्रावली' में नायक सुजान को शैव साधक, नायिकाओं—चित्रावली और कमलावती को क्रमशः विद्या और अविद्या (माया) के रूप में चित्रित किया है। साधक विद्या (ज्ञान) को प्राप्त करने से पूर्व चार नगरों को क्रमशः—भोगपुर से गोरखपुर तक—पार करता है। भोगपुर काम, क्रोध, भोग-विलास का तथा गोरखपुर गुरु गोरखनाथ की आदर्श भोग-साधना का प्रतीक है। इसी प्रकार 'इन्द्रावती' (रचयिता—नूर मुहम्मद) में राजकुमार 'जीवात्मा' का, इन्द्रावती 'ब्रह्म की ज्योति' और बुद्धसेन ज्ञान का प्रतीक है। नूर मुहम्मद की दूसरी रचना —'अनुराग बाँसुरी' में तो भारतीय तत्व-चिन्तन का प्रभाव और भी स्पष्ट रूप में व्यंजित है, उसके पात्रों का नामकरण ही भारतीय शब्दों के आधार पर हुआ है – जैसे मूर्त्ति पूर (शरीर) नगर के राजा का नाम जीव; उसके पुत्र का 'सङ्कल्प और विकल्प'; अन्तःकरण के तीन मित्रों का नाम बुद्धि, चित्त और अहङ्कार आदि। इस काव्य में भी नायक अपने संयम, बल एवं सङ्घर्ष द्वारा अन्त में सर्वमङ्गला रूपी ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करता है।

वस्तुतः इन प्रेमाख्यानों के सम्बन्ध में यह 'निर्विवाद रूप' से कहा जा सकता है कि इनमें चित्रित नायक आत्मा के नहीं मन के, उनकी नायिकाएँ परमात्मा की नहीं सात्विक बुद्धि या ज्ञान की प्रतीक हैं तथा उनके दार्शनिक सिद्धान्त सूफी रहस्यवाद से नहीं भारतीय योगियों की ज्ञान-साधना से सम्बन्ध रखते हैं। सूफी साधक प्रेम द्वारा सिद्धि प्राप्त करता है जबकि इनके नायक ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं।

तीसरी युक्ति—आध्यात्मिक सिद्धान्त—जिस प्रकार इन कवियों ने पाठक की जानकारी बढ़ाने के लिए सैकड़ों प्रकार के पकवानों और व्यंजनों की, भिन्न-भिन्न जाति के घोड़ों की, वाटिका के अनेकानेक पौधों की, युद्ध के विभिन्न शस्त्रास्त्रों की, शतरंज-चौपड़ की सूक्ष्म चालों की लम्बी सूचियाँ अपने काव्य में प्रस्तुत की हैं, उसी प्रकार इन्होंने दार्शनिक तत्वों का बोध कराने के

लिए स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों का निरूपण किया है। इसके पीछे इन कवियों का कोई धर्म-प्रचार का उद्देश्य नहीं था; यदि ऐसा होता तो वे हिन्दू-दर्शन और नाथ-पन्थी योगियों की पद्धति का प्रतिपादन न करते। न ही ऐसा समझना चाहिए कि इन काव्यों के रचयिता कोई पहुंचे हुए सन्त, फकीर या धर्मोपदेशक थे। इन कवियों का व्यक्तित्व लगभग हिन्दी के प्रसिद्ध कवि केशवदास जैसा दिखाई पड़ता है जिन्होंने अपने काव्य की वैभव-वृद्धि के लिए उन्हें 'ज्ञान-कोष' का रूप देने का प्रयत्न किया।

चौथी युक्ति—नायिका का व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य—इन काव्यों को सूफी रहस्यवाद से सम्बन्धित मानने वालों की चौथी युक्ति यह है कि इनमें नायिका के व्यक्तित्व एवं सौन्दर्य को इतना व्यापक रूप प्रदान किया है कि उसमें किसी विराट् सत्ता के रूप का आभास होने लगता है। किन्तु यह युक्ति भी हमें उचित प्रतीत नहीं होती। जहाँ तक नायिकाओं के व्यक्तित्व का सम्बन्ध है उन्हें हम अनेक दोषों—गर्व, ईर्ष्या, द्वेष आदि से पूर्णतः समन्वित पाते हैं। यही नहीं, उनका प्रेम भी पूर्णतः कामुकता से ग्रसित है। जायसी की 'पद्मिनी' युवावस्था को प्राप्त होते ही शुक से कहती है—

सुनु हीरामनि कहौं बुझाई। दिन-दिन मदन सतावै आई॥
जोबन मोर भयउ जस गङ्गा। देह-देह हम्ह लाग अनङ्गा॥

—जन्म-खण्ड[1]

रत्नसेन के सिंहलगढ़ में पहुँचने के अनन्तर भी हम पद्मावती को एक काम-वासना एवं भोग-लिप्सा से विह्वल युवती के रूप में देखते हैं—

कँवल भँवर ओही बन पावै। को मिलाइ तन तपनि बुझावै।

× × ×

जोबन गरुअ-अपेल पहारू। सहि न जाइ जोबन कर भारू।
जोबन अस मैमन्त न कोई। नवै हस्ति जो अँकुस होई।
जोबन भर भादौं जस गंगा। लहरैं देइ, समाइ न अंगा।[2]

---

१. पद्मावत—जन्म खण्ड पृ० २१।

२. वही—पद्मावती-वियोग-खण्ड, पृष्ठ ७४।

"इन सभी काव्यों में योगी-भावना कार्य कर रही है। ऐसा दीख पड़ता है कि इन साधकों पर योगियों का अपार प्रभाव था। सभी में नायक योगी होकर ही निकले हैं और योग-साधना से ही उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है तथा गोरखनाथ, गोपीनाथ और भर्तृहरि का नाम तो प्रायः देखने में आता है।"[१]

"हिन्दी-साहित्य में इन कवियों के काव्यों में हमें जो कुछ भी सूफीमत मिलता है उसके पर्यालोचन से यह परिणाम निकलता है कि वह मध्य पूर्व के प्रदेशों में सिद्धान्तीभूत सूफीमत से बहुत कुछ विभिन्नता रखता है।"[२]

आश्चर्य है कि डा० जैन ने अपने उपर्युक्त निष्कर्षों के बावजूद भी इन कवियों पर सूफीमत को बलात् आरोपित करने का असफल प्रयत्न किया है। यदि इसी प्रकार रहस्यवाद का आरोपण करना हो तो फिर संसार के किसी भी प्रेमाख्यान के नायक-नायिका को आत्मा-परमात्मा के प्रतीक बताकर उनके मिलन को आध्यात्मिक मिलन की संज्ञा दी जा सकती है। उस स्थिति में कृष्ण को परमात्मा एवं राधा को आत्मा की प्रतीक मानकर हिन्दी के सभी शृङ्गारी कवियों को रहस्यवादी स्वीकार करना होगा। यह ध्यान रहे कि इस युग में उत्तरी भारत की समस्त भाषाओं के साहित्य में प्रेमाख्यानों की बाढ़ आई हुई थी—राजस्थानी और पंजाबी में भी अनेक प्रेमाख्यान—'ढोला-मारू' 'हीर-रांझा', 'सदय-वत्स-सावलिंगा', 'ससी-पुन्नू' आदि लिखे गये थे, जिनका सूफीमत से कोई सम्बन्ध नहीं है।

अतः इन कवियों के काव्य-रचना के उद्देश्य—"कामी, भोगी एवं रसिकों के काम को बढ़ाना;" यौवन के उन्माद एवं कामुकता के विस्तृत चित्रण; लौकिक शृङ्गार की विभिन्न अवस्थाओं—सम्भोग, मिलन आदि के वर्णन, रूपकों में निहित अर्थ, चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति एवं इनके आत्मोल्लेखों के आधार पर हम निसंकोच रूप से कह सकते हैं कि भले ही इन कवियों ने अपने साहित्य के वैभव में वृद्धि करने के लिए हिन्दू-दर्शन की अनेक बातों का समावेश अपने काव्य में कर लिया हो, किन्तु इनके द्वारा चित्रित प्रेम का रूप सर्वथा लौकिक है; उसका आध्यात्मिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है।

---

१. वही—पृष्ठ १३८।　　२. वही—पृष्ठ १३९।

७. कृष्ण-भक्ति-काव्य : कुछ समस्याएँ

(क) भक्ति और शृंगार का सम्बन्ध

कृष्ण-भक्ति काव्य-परम्परा की प्रमुख विशेषता भक्ति-भावना मानी गई है, अतः इस धारा के कवियों के शृंगार-सम्बन्धी दृष्टिकोण को भली प्रकार समझने के लिए भक्ति के स्वरूप और शृंगार से उसके सम्बन्ध पर थोड़ा विचार कर लेना उपयोगी सिद्ध होगा।

भक्ति की परिभाषा—विभिन्न विद्वानों द्वारा भक्ति की ये परिभाषाएँ दी गई हैं :—

१—श्रीमद्भगवद्गीता—"मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः" अर्थात् जिसने अपना मन और बुद्धि मुझे अर्पित करदी वह भक्त मुझे प्रिय है। (अ० १२। १४)

२—पाराशर—"पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः" अर्थात् पूजादि में अनुराग होना भक्ति है। (ना० भ० सू० १६)

३—गर्गाचार्य—"कथादिष्वितु गर्गः" अर्थात् भगवान की कथादि में अनुराग होना। (ना० भ० सू० १७)

४—शाण्डिल्य—"सा परानुरक्तिरीश्वरे" अर्थात् वह ईश्वर के प्रति परम अनुराग रूपा है। (शा० भ० सू० २)

५—नारद—"सा त्वस्मिन् परम प्रेम-रूपा, अमृत-स्वरूपा च। तत्राषि माहात्म्य ज्ञान विस्मृत्यपवादः तद्विहीनं जाराणामिवः।" अर्थात् वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति परम-रूपा और अमृत-स्वरूपा है। फिर भी माहात्म्य ज्ञान का विस्मरण नहीं होना चाहिए अन्यथा वह व्यभिचारियों के प्रेम-तुल्य हो जायगी। (ना० भ० सू० २–३)।

६—वल्लभाचार्य—माहात्म्यज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया, मुक्तिर्नचान्यथा॥

अर्थात् भगवान में माहात्म्य-पूर्वक सुदृढ़ और सतत स्नेह ही भक्ति है। मुक्ति का इससे सरल उपाय नहीं है। (तत्वदीप-निबन्धः श्लोक ४६)

उपर्युक्त परिभाषाओं में शाब्दिक दृष्टि से अन्तर होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से पर्याप्त एकता है। गीता-कार ने हृदय और बुद्धि दोनों का समर्पण स्वीकार किया है, हृदय का समर्पण प्रेम से और बुद्धि का महत्ता के बोध से होता है। पाराशर, गर्गाचार्य, शाण्डिल्य आदि ने भी अनुराग के साथ-साथ पूजा या कथा का उल्लेख करके अप्रत्यक्ष रूप से नारद और वल्लभाचार्य की भाँति प्रेम के साथ माहात्म्य-ज्ञान का समर्थन किया है। इस प्रकार आधुनिक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की परिभाषा—'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है'—में उपर्युक्त सभी मतों का समन्वय हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से विवेचन—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भक्ति को एक मिश्रित भावना (Complex sentiment) की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसमें आत्म-दैन्य एवं प्रेम दो भावनाओं का सम्मिश्रण है। ईश्वर के माहात्म्य-ज्ञान से व्यक्ति के हृदय में आत्म-दैन्यता का भाव विकसित होता है तथा उसके सौन्दर्य एवं गुणों के प्रति आकर्षण से प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। इन दोनों भावनाओं में से किसी एक के न होने पर वह शुष्क श्रद्धा या प्रणय-मात्र रह जायगी। रहस्यवादियों की भावना को जो कि आत्मा और परमात्मा की समानता के विश्वास पर आधारित है, प्रेम का नाम दिया जा सकता है, भक्ति का नहीं।

प्रत्येक भावना के मूल में कोई न कोई मूल प्रवृत्ति (Instinct) विद्यमान रहती है। भक्ति के मूल में मैक्डूगल द्वारा गिनाई हुई तेरह प्रवृत्तियों में से आत्म-समर्पण की प्रवृत्ति (Instinct of submission) स्थित रहती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भक्ति का क्षेत्र शृंगार से सर्वथा भिन्न है, किन्तु वैष्णव भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्त्तकों ने अन्य सम्प्रदायों का अनुकरण करते हुए भक्ति के भेदों-प्रभेदों एवं उसके स्वरूप में कुछ ऐसा परिवर्त्तन किया जिससे उसमें शृंगारिकता का भी पूरा समन्वय हो सके।

भक्ति के भेद—वैष्णव एवं गौड़ीय भक्ति सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने भक्ति के स्वरूप सम्बन्धी अनेक भेद किये, जिनमें मुख्यतः दो हैं :—

(१) वैधी और (२) रागानुरागा। इस रागानुरागा भक्ति के भी भक्त की भावना के आधार पर पांच भेद—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर

—किये गये हैं। अलग-अलग भक्ति सम्प्रदायों ने इनमें से किसी एक को प्रधानता दी है और शेष को गौण माना है।

यदि गम्भीर दृष्टि से विचार करें तो ये उपर्युक्त भेदोपभेद महत्व-शून्य सिद्ध होते हैं। जबकि 'भक्ति' शब्द अपने आप में श्रद्धा-मिश्रित प्रेम का पर्यायवाची है तो भक्ति के पूर्व रागानुगा या प्रेमलक्षणा जैसे विशेषणों की क्या आवश्यकता रह जाती है ? और यदि इस प्रकार की भक्ति में कोरा प्रेम ही है, श्रद्धा नहीं तो ऐसी स्थिति में उसको भक्ति का नाम देना अनुचित है। इसी प्रकार यदि किसी पद्धति में शुष्क कर्म-काण्ड या विधि-निषेधों का पालन मात्र हो तो उसे साधना, उपासना या तपस्या का नाम दिया जा सकता है, भक्ति का नहीं; अतः इस प्रकार की पद्धति को 'वैधी भक्ति कहना' भी अनुचित है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि रागानुरागा भक्ति का मार्ग अपनाने वाले सम्प्रदायों में भी विधि-निषेधों, पूजा के विधान एवं कर्म-काण्डादि का सर्वथा अभाव नहीं है—उदाहरण के लिए पुष्टि-सम्प्रदाय को ले सकते हैं जहां श्री नाथजी की पूजा के आठों प्रहर नित्याचारों एवं नैमित्तिक आचारों के विधि-निषेधों से बंधे हुए हैं। अतः वैधी और रागानुरागा का भेद कोई सार्थकता नहीं रखता।

अब रागानुगा के उपभेदों को लीजिए। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भक्ति के अन्तर्गत सख्य, वात्सल्य एवं दाम्पत्य भाव का विकास होना स्वाभाविक नहीं है किन्तु फिर भी कुछ विद्वानों ने इसका समर्थन करते हुए पुष्टिमार्गीय भक्तों—सूरदासादि में उपर्युक्त भावों का विकास बताया है, पर इसे हम निम्नांकित तथ्यों के आधार पर अस्वीकार करते हैं :—

१—भक्ति में प्रेम के साथ श्रद्धा का मिश्रण होता है जबकि वात्सल्य में कृपा-मिश्रित स्नेह का; भक्ति अपने से उच्च एवं पूज्य व्यक्ति के प्रति होती है जबकि वात्सल्य अपने से लघु एवं छोटे व्यक्ति के प्रति; अतः वात्सल्य-भाव एवं भक्ति-भावों की स्थिति एक ही आलम्बन के प्रति एक साथ नहीं रह सकती।

२—नारद-भक्ति-सूत्रादि में दास्य, वात्सल्य आदि का उल्लेख किया गया है; किन्तु वहाँ वात्सल्य से तात्पर्य अपने को ईश्वर का शिशु मानना है

जो कि मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से संगत है जबकि मध्यकालीन आचार्यों ने इस क्रम को उलट दिया जो कि उतना ही असंगत है जितना कि दास्य-भाव का यह अर्थ करना कि भगवान दास हैं और भक्त स्वामी।

३—वात्सल्य-भक्ति के उदाहरण स्वरूप सूर के उन पदों को उद्धृत किया जाता है जो उन्होंने नन्द-यशोदा के कृष्ण सम्बन्धी प्रसंग में लिखे। पर वह नन्द-यशोदा का कृष्ण के प्रति वात्सल्य है न कि सूरदास का कृष्ण के प्रति! यों तो तुलसीदास ने भी दशरथ का राम के प्रति घोर वात्सल्य चित्रित किया है, पर क्या इसी आधार पर उनकी भक्ति को वात्सल्य-भाव का नाम दिया जा सकता है?

४—आगे चलकर सूरदास ने गोपाल एवं गोपियों के प्रसंग में सख्य एवं दाम्पत्य भाव का भी चित्रण किया है। क्या सूर की वात्सल्य भावना इतनी शीघ्र सख्य और दाम्पत्य भाव में परिवर्तित हो गई?

५—सूरदास ने बाल-लीला एवं रास-क्रीड़ा आदि से सम्बन्धित पदों के अतिरिक्त एक भी पद ऐसा नहीं लिखा जहाँ उन्होंने कृष्ण को अपने शिशु या पति के रूप में सम्बोधित किया हो। यही नहीं, बाल-लीला के पदों की अन्तिम पंक्ति में उन्हें अपना प्रभु या स्वामी ही सम्बोधित करते हैं:—

सूरदास प्रभु को मुख निरखत हरखत जिय नित नेह नए री!
सूरदास स्वामी की लीला, अति प्रताप विलसत नंद रैया!

—बाल कृ० प० पद सं० १६४, ५८

यह भी आश्चर्य की बात है कि सूर व अन्य कृष्ण-भक्त कवि कृष्ण और गोपियों के रमण का शत-शत बार वर्णन करते हैं, किन्तु एक बार भी वे स्वयं गोपी बनकर उनके साथ रमण करने की इच्छा प्रकट नहीं करते। कबीर जैसा अक्खड़ भी नववधू का रूप धारण करके रमैया की सेज का आनन्द लूटता है, पर ये भक्त कवि अपने आराध्य की बाल-लीलाओं, गोप-क्रीड़ाओं, एवं मधुर चेष्टाओं का दर्शन दूर से करते हैं, उनके पिता, सखा या प्रेयसी का रूप धारण करके उनमें सम्मिलित नहीं होते। वस्तुतः भक्ति के क्षेत्र में ऐसा होना स्वाभाविक भी नहीं था।

मेरे विचार से भक्त और उसके आराध्य के सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिए लौकिक दृष्टि से भी भक्ति शब्द पर्याप्त है। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति गाँधी जी का भक्त है तो उसमें उसकी श्रद्धा और प्रेम दोनों की व्यंजना हो जाती है। शान्त और दास्य में भावावेग का अभाव होता है, सख्य और वात्सल्य में पूज्य बुद्धि का और दाम्पत्य में सम्बन्ध की सूक्ष्मता—मानसिकता और पवित्रता का लोप हो जाता है, अतः हम भक्ति के सभी उपभेदों—शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य और दाम्पत्य को भ्रामक समझते हैं। हमारी दृष्टि में सूरदास और तुलसीदास के वर्ण्य विषयों में एवं आराध्यों के स्वरूप में अन्तर है किन्तु भक्ति-भावना दोनों की एक जैसी है। वस्तुतः भक्ति सम्बन्धी ये भेद मुख्यतः इन प्रेरणाओं से किये गये प्रतीत होते हैं—

१—कृष्ण सम्बन्धी मूल ऐतिहासिक पात्र—नन्द, अर्जुन, उद्धव, गोपिकाओं आदि को भक्तों की श्रेणी में लाने के लिए।

२—भक्त कवियों के वर्णन पर आध्यात्मिकता का रंग चढ़ाने के लिए।

३—साहित्य के क्षेत्र में एक नया रस उज्ज्वल-रस प्रतिष्ठित करने के लिए।

४—भक्ति में शृङ्गारिकता का समन्वय करने के लिए। यहाँ यह भी ध्यान रहे कि अलग-अलग व्यक्ति इनमें से अलग-अलग प्रेरणाओं से प्रेरित होते रहे हैं, यथा—भागवतकार ऐतिहासिक पात्रों को भक्तों का रूप देने के लिए सचेष्ट थे, "भक्ति रसामृत" के रचयिता रूप गोस्वामी जैसे लेखक एक नया रस उज्ज्वल-रस प्रतिष्ठित करना चाहते थे, तो दूसरी ओर श्रीनाथजी के मन्दिर के सुयोग्य अधिकारी अपने ठाकुरजी के ठाठ-बाट की पूर्ण अभिवृद्धि के लिए वेश्याओं तक का प्रबन्ध करके भक्ति की पिचकारी में शृंगार का रंग घोल रहे थे।

अस्तु, प्रेरणाएँ चाहे कुछ भी रही हों, भक्ति के ये नये-नये रूप उसके वास्तविक स्वरूप को तिरोहित करते जा रहे थे। धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि से इन नये रूपों का कुछ भी परिणाम रहा हो किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं साहित्यिक दृष्टि से तो ये अनुकूल ही सिद्ध हुए। इन रूपों के प्रभावस्वरूप भक्ति के निर्जन प्रदेश में वात्सल्य एवं शृंगार की सरिताओं का प्रवाह हुआ,

जो अनुभूतियाँ किसी अलौकिक रूप के अगाध सागर में जाकर विलीन हो सकती थीं, उन्हें लौकिक सीमाओं में बाँधकर साहित्य-उपवन की क्यारियों को सिंचित किया गया।

भक्ति रस या शृंगार रस ?—अब हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन भक्त कवियों ने राधा-कृष्ण की जिस मधुर-क्रीड़ा का चित्रण किया है उसे किस रस के अन्तर्गत-रक्खें ! कुछ विद्वान् उन्हें शृंगार की संज्ञा से विभूषित करना भक्तों की भावनाओं का अपमान समझते हैं, अतः वे इसे भक्ति रस के अन्तर्गत लेते हैं। 'भक्ति-रसामृत सिन्धु' और 'उज्ज्वल-नील मणि' के रचयिता रूप गोस्वामी ने इस प्रकार के वर्णनों में भक्ति-भावना के एक उपभेद—मधुरा रति को स्थायीभाव मानते हुए उज्ज्वल-रस की कल्पना की है। पर यदि उनके उज्ज्वल-रस के अन्य अंगों के विवेचन को पढ़ें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि शृंगार रस और उज्ज्वल रस में कोई अन्तर नहीं है, दोनों के दक्षिण, शठ, धृष्ट आदि वही नायक हैं, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा आदि वही नायिकाएँ हैं और अनुभाव, संचारी आदि वही हैं। आश्चर्य तो यह है कि इनके इस 'उज्ज्वल-रस' के अन्तर्गत शृङ्गार के समस्त स्थूल कार्य-व्यापारों —संभोग, आलिंगन, चुम्बन, नखक्षत, बिम्बाधरपान आदि का भी विस्तृत वर्णन हुआ।[1] अतः केवल नाम-परिवर्तन मात्र को छोड़ कर 'उज्ज्वल-रस' में एक भी ऐसी बात नहीं मिलती जो शृंगार से असम्बन्धित हो और यह नाम भी नया नहीं है, स्वयं भरतमुनि ने नाट्य-शास्त्र में शृंगार की परिभाषा में उज्ज्वल शब्द का प्रयोग किया है।[2] तथा उनके अनन्तर 'शृंगार-प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' में इसका प्रयोग मिलता है। अतः 'उज्ज्वल-रस' भी शृंगार रस का पर्यायवाची ही समझा जाना चाहिए।

कुछ विद्वान एक दूसरे प्रकार से शृङ्गार नाम का विरोध करते हैं ! उनका कथन है—"पर यह न समझना चाहिए कि आलंकारिकों के शृंगार

---

१. उज्ज्वल नील मणि, संभोग भेद प्रकरण, श्लोक संख्या ५८–६१।

२. तत्र शृङ्गारी नाम रति स्थायि प्रभव उज्ज्वल वेषात्मकः।

—नाट्य शास्त्र ६। ४६, पृ० ७३

और शान्त रस वही हैं जो भक्तों के ! दोनों में तात्त्विक भेद हैं। पहले जड़ोन्मुख होते हैं, दूसरे (भक्तों के) चिन्मुख।"[1] यदि कबीर जैसे निर्गुण निराकार एव सूक्ष्म ईश्वर के प्रेमियों के सम्बन्ध में उपर्युक्त बात कही जाती तो हम इस कथन को स्वीकार कर लेते क्योंकि उस प्रकार के प्रेम में स्थूलता एवं काम-तत्त्व का अभाव होता है, किन्तु कृष्ण-भक्तों के आलम्बन में चिन्मुखता का कोई लक्षण नहीं मिलता, वह रूप, कार्य-व्यापार की दृष्टि से आलंकारिकों के जडोन्मुख शृङ्गार से साम्य रखता है, अतः दोनों में कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता।

यह जानते हुए भी कि इन शृंगारी लीलाओं के नायक कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं, ब्रह्मा के अवतार हैं, उसके पाठक की अनुभूति में कोई विशेष अन्तर नही आता। यदि हम एक नाटक देख रहे हों और उसमें एक व्यक्ति गरीब मजदूर का अभिनय कर रहा हो, किन्तु जिसके बारे में हम यह जानते हों कि वह वास्तव में मजदूर नहीं एक धनवान सेठ है, तो क्या उससे हमारे हृदय में रंगमंच के दृश्य के अनुरूप अनुभूतियों का संचार नहीं होगा ? हम अनेकानेक फिल्म-अभिनेत्रियों को रजत पट पर पत्नी, विधवा या भिखारिन के रूप में देखते हैं और यद्यपि हम उनका वास्तविक परिचय जानते हैं, फिर भी हमारी अनुभूतियों में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

अतः रसानुभूति की दृष्टि से भी वेष बदल कर लौकिक मंच पर उपस्थित होने वाले भक्त कवियों के नायक राज के प्रेम सम्बन्धी अभिनय (या लीला) से शृंगार-रस का ही पोषण होगा, बशर्ते कि कवि के चित्रण में पूर्ण स्वाभाविकता और प्रेषणीयता का गुण विद्यमान हो। किन्तु कुछ ऐसे कवि जो कृष्ण के लौकिकता के चिह्न भी रख देते हैं, वहाँ काव्य में अस्वाभाविकता आ जाती है, सूरदास ने भी ऐसा कहीं-कहीं किया है, जिसके फलस्वरूप वहां काव्यत्व शिथिल हो गया है। अस्तु, साहित्यिक दृष्टि से भक्त कवियों का राधा-कृष्ण सम्बन्धी प्रणय-चित्रण विशुद्ध शृङ्गार-रस के अन्तर्गत लिया जावेगा। धर्मोपदेशक उसे जो चाहे नाम दें।

---

१. हिन्दी साहित्य की भूमिका, च० सं० पृ० ८०

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति के इन नये भेदोपभेदों ने उसके मूल स्वरूप को ही बदल दिया। भक्ति-भावना के जिस क्षेत्र में अब तक केवल शान्त रस का ही पोषण होता था अब वह शृंगार की क्रीड़ास्थली बन गई।

(ख) कृष्ण-भक्ति-काव्य और आध्यात्मिकता

कुछ विद्वानों ने जो कि आध्यात्मिकता को ही काव्य की सबसे बड़ी विशेषता मानते हैं, कृष्ण-भक्त कवियों के शृंगार-वर्णन की भी ऐसी आध्यात्मिक व्याख्या की है जिसका कवि की मूल भावना के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए सूरदास के खण्डिता-वर्णन की व्याख्या देखिये—"खण्डिता-नायिका के वर्णन में नायक स्वयं मर्यादा भंग करता है। साथ ही उसकी पाग पर जावक की लाल छवि, कपोलों पर सिंदूर का रंग, अरुण अधरों पर अंजन की श्यामिकता आदि चिह्न भी मर्यादा भंग के ही द्योतक हैं।" पुष्टिमार्गीय भक्ति का निरूपण करने में सूर ने इसी शैली से काम लिया है[1]। इसी प्रकार विरह-वर्णन की यह एक सीधी-सादी उक्ति है।

एक गाँव को बास, धीरज कैसे धरों।
लोचन मधुप अटक नहिं मानत, यद्यपि जतन करों।

इसका भी अर्थ करते हुए विद्वान लेखक ने ईश्वर और जीव सम्बन्धी एक जटिल दार्शनिक समस्या उपस्थित की है।[2] अतः हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शृंगार चित्रण को मूल अर्थ में ग्रहण करें या विद्वानों द्वारा आरोपित अर्थों में? इस सम्बन्ध में ये तथ्य विचारणीय हैं (१) यदि संभोग सम्बन्धी उपर्युक्त चिह्नों के आधार पर निर्णय करें तो संस्कृत के अमरुक और जयदेव से लेकर हिन्दी के बिहारी, मतिराम, पद्माकर आदि सभी कवियों का खण्डिता-वर्णन पुष्टिमार्गीय भक्ति का निरूपण सिद्ध हो सकता है। (२) उद्धव जैसे ज्ञानियों की आध्यात्मिकता का विरोध करके सूरदास, नन्ददास आदि ने स्पष्ट घोषित कर दिया था कि विद्वत्ता का यह भार और दर्शन की यह जटिलता उन्हें स्वीकार नहीं है। (३) भागवत के विभिन्न

१. देखिये—भारतीय साधना और सूर साहित्य, पृष्ठ ३५१।
२. वही, पृष्ठ ३६२।

व्याख्याताओं ने भी कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी विभिन्न घटनाओं का आध्यात्मिक अर्थ निकाला है। बालकृष्ण के मिट्टी खाने की स्वाभाविक सी घटना के भी विभिन्न आचार्यों ने ९ अर्थ कर दिये हैं।[1] इन व्याख्याताओं ने ये अर्थ सम्भवतः इन उद्देश्यों से किये होंगे—(क) कृष्ण की लौकिक घटनाओं पर अलौकिकताओं का रङ्ग चढ़ाकर श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए। (ख) कृष्ण की लीलाओं के अध्ययन से पाठक में शृङ्गार भावना का उद्रेक होता है जो भक्तों के लिए उचित नहीं, अतः इस भावानुभूति पर अंकुश लगाने के लिए। कदाचित् कुछ विद्वानों ने अपनी मौलिकता-प्रदर्शन के लिए भी ऐसा किया हो।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये व्याख्याएँ दार्शनिक और धार्मिक क्षेत्र में तो अनुकूल पड़ती हैं, किन्तु साहित्यिक क्षेत्र के तो ये सर्वथा प्रतिकूल हैं क्योंकि ये काव्य के मूल भाव को ही नष्ट करके उसे दर्शन-ग्रन्थ का रूप दे देती हैं। अतः जहाँ तक काव्य के भाव-सौन्दर्य के आस्वादन का सम्बन्ध है हमें कृष्ण-भक्त-कवियों के शृङ्गार-चित्रण को उसके मूल स्वाभाविक अर्थ में ही ग्रहण करना चाहिए, बलात् आरोपित आध्यात्मिक अर्थों में नहीं।

---

१. मिट्टी खाने के कारण—(१) श्रीकृष्ण ने विचार किया कि मुझ में सत्वगुण रहता है अतः थोड़ा रज का भी संग्रह कर लें। (२) पृथ्वी का नाम क्षमा है अतः ग्वाल-बालों के साथ खेल में क्षमा-भाव दिखाने के लिए। (३) पृथ्वी का नाम रसा है अतः रसा के रस का आस्वादन करने के लिए। (४) इस अवतार में पृथ्वी का हित करना था अतः उससे द्विजों (दाँतों) को कुछ दान करवाने के लिए। (५) सात्विक द्विजों (दाँतों) में रजोगुण का संचार करने के लिए। (६) पहले विष भक्षण किया था, मिट्टी खाकर उसका उपचार किया। (७) पहले गोपियों का मक्खन खाया था, मिट्टी खाकर मुंह साफ किया। (८) उदरस्थ जीवों को ब्रजभूमि की रज पहुँचाने के लिए। (९) भक्तों की चरण-रज ग्रहण करने के लिए।

देखिये—प्रेम सुधासागर, गीता प्रेस, पृ० सं० ३६

(ग) कृष्ण-भक्ति-काव्य और रीति तत्व

कृष्ण-भक्त कवियों के शृङ्गार-चित्रण में रीति तत्वों का प्रयोग भी मिलता है। सूरदास की 'साहित्य लहरी' में रस, अलङ्कार और नायिका भेद का वर्णन मिलता है।[1] नन्ददास की 'रस-मंजरी' में नायिका-भेद, हाव, हेला और रति का साङ्गोपाङ्ग विवेचन हुआ है। 'रस-मंजरी' के आरम्भ में कवि ने अपनी ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य—'नायिका-भेद' को समझना स्वीकार किया है[2]। इसी प्रकार नन्ददास की अन्य रचनाओं में से 'विरह-मंजरी' में विरह के विभिन्न शास्त्रीय भेदों—प्रत्यक्ष-विरह, पलकान्तर-विरह, वनान्तर-विरह आदि का नामोल्लेख सहित वर्णन हुआ है। तथा अन्त में बारहमासा-वर्णन किया है[3]। उनकी 'रूप-मंजरी' में यद्यपि शास्त्रीय भेदों का उल्लेख नहीं किया गया है किन्तु उसके अध्ययन से येह स्पष्ट बोध होता है कि काव्य-रचना के समय कवि ने नायिका की विभिन्न अवस्थाओं—वय:सन्धि, प्रथम-समागम आदि के वर्णन में शास्त्रीय लक्षणों को ध्यान में रक्खा है। अष्टछाप के अन्य कवियों ने भी नायिका-भेद के उदाहरणों की रचना की है[4]।

भक्त-कवियों के लिए इन शास्त्रीय भेदोपभेद के पचड़ों में पड़ना अस्वाभाविक है, इसीलिए प्रारम्भ में कुछ विद्वानों ने सूर की 'साहित्य-लहरी'

---

१. सूरदास—डा० ब्रजेश्वर वर्मा, द्वितीय संस्करण, पृ० १०७-११२।

२. एक मीत हम सो अस गुन्यो। मैं नाइका भेद नहिं सुन्यो।
हाव भाव हेलादिक जिते। रति समेत समझावहु तिते।
—रसमंजरी, नन्ददास ग्र०, पृ० १४४।

३. सुनि पलकान्तर विरह की बातें। परम प्रेम पहिचानत तातें।
× × ×
विरह बनान्तर को सुनि लीजै। गोपिन के मन में मन दीजै।
× × ×
सुनि देसान्तर विरह विनोद। रसिक जनन मन बढ़वन मोद।
—नन्ददास ग्रन्थावली, पृ० १६३।

४. देखिये—अष्टछाप परिचय, द्वि० सं० पृ० ३४०–३४१।

जैसी रचनाओं को अप्रामाणिक घोषित कर दिया था। कुछ अन्य विद्वानों ने 'रस-मंजरी' के वर्णनों को अध्यात्म-परक कहकर भी भक्त-कवियों के महत्व को बनाये रखने का प्रयत्न किया, किन्तु 'साहित्य-लहरी' की प्रामाणिकता के पक्ष में पर्याप्त प्रमाण मिल चुके हैं[1] तथा 'रस-मंजरी' में इतनी अधिक स्थूलता, शारीरिकता और लौकिकता है कि उसे अध्यात्मपरक बताना भ्रम मात्र है। और उसका कारण भी स्पष्ट है। गीति-शैली में कृष्ण-काव्य के सर्वप्रथम रचयिता जयदेव ने रीति-तत्वों का पूरा समन्वय किया था, रीति-तत्वों का किंचित् प्रभाव विद्यापति के काव्य में मिलता है। इनके अतिरिक्त रूपगोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वल-नील-मणि' ग्रन्थ में नायक-नायिका भेद, दूतीभेद, नायिका के हाव, अनुभावादि शृङ्गार के विभिन्न भेद आदि का सोदाहरण विवेचन किया है। रूपगोस्वामी स्वयं चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायी थे और उन्होंने यह सारा विवेचन भक्ति-भावना के नाम पर किया है, अतः उससे अन्य भक्त-कवियों का प्रभावित हो जाना स्वाभाविक था। फिर भी यह ध्यान देने की बात है कि कृष्ण-भक्त कवियों ने रीति-तत्वों का प्रयोग अपनी बहुत थोड़ी रचनाओं में अत्यन्त अल्प परिमाण में किया है। परवर्ती रीति-बद्ध शृङ्गारी कवियों की भाँति वे शास्त्रीय रूढ़ियों से इतने अधिक आबद्ध नहीं कि उनके बिना एक कदम भी आगे न बढ़ सकें।

(घ) कृष्ण-भक्ति-काव्य और अश्लीलता

कृष्ण-भक्ति-काव्य के मधुर प्रेम-प्रवाह के बीच कुछ रति, विपरीत रति आदि के ऐसे नग्न दृश्यों का चित्रण मिलता है जिन्हें देखकर किसी भी श्रद्धालु पाठक को क्षोभ हुए बिना नहीं रहता। "रूपे संग्राम रति-खेत नीके"—जैसे पद सूरसागर में व अन्य कवियों की रचनाओं में मिलते हैं जिनमें शारीरिक मिलन का अत्यन्त स्थूल रूप में चित्रण किया गया है। कुछ लोग संभवतः इसे पुष्टिमार्ग की दार्शनिक आवश्यकता मानें किन्तु यह बात सही नहीं। पुष्टिमार्ग में बालकृष्ण को ही आराध्य रूप में स्वीकार किया गया था अतः उसके लिए संभोग-दृश्यों की योजना आवश्यक नहीं थी। फिर भी यदि

१. सूरदास और उनका काव्य—डा० हरवंशलाल शर्मा।

किसी कारण से कविगण संभोग का वर्णन करना ही चाहते थे तो वे संकेतात्मक या व्यंजनात्मक शैली का आश्रय ग्रहण कर सकते थे। यह भी द्रष्टव्य है कि श्रीनाथजी के मन्दिरों में पुरुष भक्तों के साथ-साथ महिला सेविकाओं की उपस्थिति में ये पद गाये जाते थे।

वस्तुतः इन पदों के पीछे श्रीनाथजी के मन्दिर के समस्त वातावरण का प्रभाव व्यंजित है। महाप्रभु वल्लभाचार्य के तिरोधान के अनन्तर पुष्टि सम्प्रदाय और मन्दिर के वातावरण में जो परिवर्तन हुआ वह विचारणीय है। एक ओर आचार्यजी के उत्तराधिकारी विट्ठलनाथजी ने शृङ्गार-रस मण्डन लिखकर बाल-कृष्ण के स्थान पर युवा-कृष्ण की आराधना का समर्थन किया, दूसरी ओर मन्दिर के मुख्य अधिकारी श्रीकृष्णदास जी ने ठाकुरजी की वैभव-वृद्धि का पूरा प्रबन्ध किया। जहाँ श्रीनाथजी के दुग्धपान के लिए सैकड़ों गायें रखी गईं, उनके चलने के लिए हाथी, घोड़े और पालकियाँ सजाई गईं वहाँ उनके मनोरंजन के लिए आगरा की प्रसिद्ध रूपवती वेश्या को भी बुलाया गया।[1] बंगाली वैष्णवों को जो कि मन्दिर के पूजारी थे तथा इस परिवर्तन को सहन नहीं कर सकते थे, उनकी झोंपड़ियों में आग लगाकर निर्ममतापूर्वक भगा दिया गया।[2] मन्दिर के अधिकारी कृष्णदास का इतना दबदबा था कि कोई उनके विरुद्ध चूँ भी नहीं कर सकता था। जब स्वयं गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने कृष्ण दास और महिला गंगाबाई के गुप्त-सम्बन्ध का विरोध किया तो उन्हें भी कई महीनों के लिए मन्दिर से बाहर निकाल दिया गया।[3] एक ओर सेवक सेविकाओं को ब्रह्म-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए तन-मन-धन तीनों ठाकुरजी को समर्पित करने का उपदेश दिया गया, दूसरी ओर यह भी घोषणा की गई कि वल्लभ-सम्प्रदाय में गोसाइयों के (अष्टछाप के सदस्यों को भी) श्रीकृष्ण का स्वरूप समझा जाता है इसलिए आत्म-समर्पण गोसाइयों के प्रति भी किया जा सकता है[4]।

---

१. देखिये अष्टछाप परिचय, पृ० २१०-२१२।

२. देखिये अष्टछाप परिचय, पृ० २०८। ३. अष्टछाप, पृ० २०८।

४. महाकवि सूरदास—लेखक नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ५८।

अस्तु, जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल[1] एवं डा० हजारीप्रसाद[2] ने संकेत किया है, मन्दिर के ऐश्वर्यपूर्ण वातावरण के प्रभाव से मन्दिर के कुछ अधिकारियों में भोग-वृद्धि का विकास हो गया हो, तथा उन्होंने ही ठाकुरजी को काम-शास्त्र और नायिका-भेद सिखाने के बहाने ऐसी संभोगप्रधान रचनाओं को लिखने की प्रेरणा दी हो तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं। सूरदास ने तो अपनी साहित्यलहरी के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से ही लिख दिया है—'नन्दनन्दन दास हित कीन'—जिसका अर्थ विद्वानों ने कृष्णदास किया है। नन्ददास की 'रसमंजरी' भी एक मित्र के लिए लिखी गई थी जो सम्भवतः मन्दिर के प्रभावशाली व्यक्तियों में से कोई था। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यदि इन अधिकारियों की इन वर्णनों में रुचि न होती तो वे कवियों को ऐसा संकेत कर सकते थे जिससे वे नग्न वर्णन में प्रवृत्त न होते।

---

१. मन्दिरों की प्रशंसा केसर की चक्किर्यां चलें—कहकर होने लगी। भोग विलास के आकर्षण का प्रभाव सेवक-सेविकाओं पर कहां तक अच्छा पड़ सकता था ?

—हि० सा० इति०, पृष्ठ १५७

२. कृष्णदास की मनचाही नर्तकी की दृष्टि जब उनके भोग की ओर पड़ जाती थी तो (ठाकुरजी भी) भूखे ही सो जाते थे।

—हिन्दी साहित्य, पृ० १८३।

८. सूर-काव्य में शृंगार-भावना का उत्कर्ष

सूरसागर में शृङ्गार-भावना के उत्कर्ष पर विचार करने के लिए हम उसमें चित्रित प्रणय को दो कहानियों के रूप में ले सकते हैं—(१) कृष्ण और राधा से सम्बन्धित और (२) कृष्ण और गोपियों की प्रेम कहानी। राधा और कृष्ण के प्रेम को सौन्दर्याकर्षण एवं साहचर्यभाव के योग से अत्यन्त ही स्वाभाविक गति से धीरे-धीरे विकसित किया गया है। यद्यपि प्रेमोदय के अनन्तर राधा-कृष्ण किसी न किसी बहाने एक दूसरे से बराबर मिलते रहते हैं परन्तु उसके साथ-साथ घर वालों के नियन्त्रण के कारण परिस्थितियों की कठिनता और विषमता की व्यंजना भी हुई है। परिस्थितियों की यह कठोरता उनकी चंचल वासना को स्थिर भावना का रूप देने में सहायक सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त कृष्ण के प्रति अन्य गोपियों का आकर्षण एवं उनका चिर-वियोग भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राधा की प्रणय-भावना को गम्भीरतम रूप प्रदान कर देता है। यद्यपि अन्त में कृष्ण की रस-लोलुपता के कारण इस प्रेम का स्वरूप एकाङ्गी हो जाता है और उसकी परिणति निराशा में हो जाती है, किन्तु उससे राधा के प्रेम में कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह उस स्थिति में पहुँच जाती है जहाँ प्रेमिका प्रेमी से किसी भी बात की अपेक्षा नहीं रखती, उसका प्रणय काम और स्वार्थ से सर्वथा मुक्त हो जाता है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि राधा में प्रणय-भावना का पूर्ण उत्कर्ष प्राप्त होता है।

कृष्ण और गोपियों की प्रेम-कहानी मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से अस्वाभाविक प्रतीत होती है। एक ही नायक का एक के बाद एक के क्रम से तो कई युवतियों से प्रेम करना संभव है किन्तु एक ही साथ, एक ही समय में अनेक नायिकाओं के साथ प्रणय-व्यापार चलाना असंभव सा प्रतीत होता है और यह भी आश्चर्य की बात है कि प्रेमिकायें भी इस स्थिति को स्वीकार कर लेती हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस स्थिति का विश्लेषण तीन प्रकार से

किया जा सकता है—(१) गोपियों का सम्बन्ध श्रद्धा मिश्रित प्रेम अर्थात् भक्ति भावना पर आधारित है। श्रद्धा और भक्ति के क्षेत्र में एक ही आलम्बन का अनेक व्यक्ति एक साथ आश्रय ले सकते हैं। (२) सभी प्रेमिकायें आलम्बन को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करने में प्रयत्नशील हों तथा प्रत्येक को यह आशा हो कि वह नायक पर पूर्णाधिकार पाने में सफल हो जायगी। (३) सभी प्रेमिकाओं का पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो कि उसमें ईर्ष्या के उद्भव की संभावना ही न रहे।

उपर्युक्त संभावनाओं में से जहाँ तक पहली का सम्बन्ध है, यह स्पष्ट है कि गोपियों का सम्बन्ध काम-वासना एवं स्थूल शारीरिक आकर्षण से इतना अधिक समन्वित है कि उसे भक्ति का नाम नहीं दिया जा सकता। स्वयं भागवतकार ने भी यह स्वीकार किया है कि उनका सम्बन्ध काम-वासना पर आधारित था। पारस्परिक स्पर्द्धा सम्बन्धी दूसरा विश्लेषण भी ठीक नहीं माना जा सकता क्योंकि गोपियों में हमें इसके कोई लक्षण नहीं मिलते। कहीं भी किसी गोपिका को हम किसी अन्य के विरुद्ध कुछ भी कहते नहीं पाते, अपितु वे परस्पर सहयोग और सहानुभूति की भावना प्रदर्शित करती हैं। वस्तुतः उनके सम्बन्ध में तीसरी स्थिति ही वास्तविक सिद्ध होती है। कृष्ण के परिचय से पूर्व वे सब प्राण-प्रिय सखियाँ थीं, कृष्ण से उनका परिचय, मिलन और वियोग आदि एक ही साथ सामूहिक रूप में होता है, अतः उनके सामने प्रतिस्पर्द्धा का प्रश्न नहीं उठता! संयोग-कालीन लीलाओं—दान-लीला, पनघट लीला, चीरहरण, रास-लीला आदि में कृष्ण के साथ छेड़-छाड़, हास-परिहास आदि का जो सुख मिलता था वह सबके लिये समान और सबका सम्मिलित था, और जहाँ तक अन्तिम दीर्घ-वियोग से प्राप्त होने वाले दुःख का सम्बन्ध है उसमें तो कोई भी हिस्सा बंटा सकता है, ईर्ष्या की बात ही नहीं। इस सामूहिक प्रणय की परिणति यदि सुखान्त में होती तो अवश्य एक समस्या उपस्थित हो जाती, किन्तु उसका अवसर ही नहीं आया।

साहित्यिक दृष्टि से यहाँ एक तथ्य और ध्यान देने योग्य है। कवि ने इन गोपियों को पृथक-पृथक व्यक्तित्व प्रदान नहीं किया— कृष्ण से छेड़-छाड़ करने वाली, मथुरागमन से उन्हें रोकने वाली, और उद्धव से बहस करने वाली सभी

गोपियों में पाठक को एक ही हृदय, एक ही प्राण, और एक ही व्यक्तित्व का आभास होता है, अतः उसकी रसानुभूति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

अब रहा कृष्ण की प्रेम भावना का विवेचन। जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है जहाँ व्यक्ति एक से अधिक वस्तुओं की ओर आकर्षित होता है उसके आकर्षण को प्रेम न कहकर लोभ की संज्ञा देना ही उचित होगा। कृष्ण आध्यात्मिक दृष्टि से चाहे जो कुछ हों, अपने लौकिक रूप में तो रस-लोलुप नायक ही सिद्ध होते हैं। वे वृन्दावन में गोप बालाओं से खेलते हैं, मथुरा में कुब्जा सुन्दरी की सेवायें स्वीकार करते हैं और द्वारका में सोलह सहस्र राजकुमारियों का संग्रह करते हैं! जिस रनिवास में इतनी पत्नियाँ रह सकती थीं वहाँ गोकुल की सारी प्रेमिकाओं के लिए तो न सही—पर क्या प्रेयसी कुमारी (कुंआरी) राधा के लिए भी थोड़ा सा स्थान नहीं बन सकता था? जिस कवि ने राधा जैसे कोमल मनोहर व्यक्तित्व की कल्पना की क्या वह उसे द्वारिका के महलों में पहुँचा कर प्रेम की परिणति भारतीय परम्परा के अनुसार सुखान्त में नहीं कर सकता था? इस प्रणय-कहानी का अन्त सुखमय किया जा सकता था किन्तु कृष्ण की अति रसिकता को देखते हुए ऐसा अस्वाभाविक होता। गोपियों के मुंह से बार-बार यह कहला कर—"मधुकर तुम रस लम्पट लोग!" स्वयं कवि ने इस तथ्य का निर्देश कर दिया है।

अस्तु, सूर ने प्रणय को एकाङ्गी एवं वियोग प्रधान रूप में उपस्थित किया है, फिर भी उन्होंने उसमें उन सब अवयवों का सम्मिश्रण कर दिया है, जिनसे भावना के विकास में योग मिलता है। चिर-वियोग की आग से गोपियों का प्रणय वासना और स्वार्थ के कर्दम से मुक्त होकर निखर उठता है! प्रेम का ऐसा शुद्ध स्वरूप, भावना का ऐसा गाम्भीर्य और वर्णन की ऐसी स्वाभाविकता बहुत कम कवियों में मिलती है। वस्तुतः सूर का काव्य पाठक के हृदय को द्रवित करने में पूर्णतः समर्थ है। प्रणय को उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचाने के लिए कवि ने परम्परागत भारतीय प्रेम की रूढ़ियों का भी उल्लङ्घन कर दिया है, जो स्तुत्य है।

सूर का शृङ्गार वर्णन और श्रीमद्भागवत

सूर-सागर का मूलाधार श्रीमद्भागवत माना जाता है, किन्तु फिर भी दोनों के शृङ्गार चित्रण में पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होता है, जिसमें उल्लेखनीय भेद ये हैं—

(क) भागवत के कृष्ण अपने ब्रह्म-रूप को कहीं भी नहीं भूल पाते, अतः उनका गोप-बालाओं के प्रति कोई आकर्षण नहीं है, वे गोपियों की इच्छा से बाध्य होकर रास-विहार में प्रवृत्त होते हैं[1]। इस प्रकार भागवत के कृष्ण निर्लिप्त हैं जबकि सूरसागर के कृष्ण गोपियों के यौवन एवं सौन्दर्य से प्रभावित होकर संयोग-क्रीड़ाओं में लीन होते हैं।

(ख) भागवत में रास विहार पूर्व की बहुत सी घटनाएँ एवं पनघट लीला, दान लीला आदि का अभाव है। वियोग काल के पूर्ववत् सूरदास की गोपियाँ कृष्ण से समानता के स्तर पर व्यवहार करती हुई अवसर के अनुकूल उनसे हास-परिहास भी करती हैं जबकि भागवत की गोपियाँ प्रारम्भ से ही कृष्ण की अपेक्षा अपनी हीन स्थिति स्वीकार कर लेती हैं।

(ग) भागवत में कृष्ण की अनुपस्थिति में बलराम वारुणी पीकर गोपियों के साथ रास विहार करते हैं, जो प्रेम की दृष्टि से अस्वाभाविक है[2]।

(घ) भागवत में गोपियाँ उद्धव के ज्ञान-निरूपण को स्वीकार कर लेती हैं, पर सूरसागर में ऐसा नहीं है[3]।

(ङ) भागवत के कृष्ण द्वारिकाधीश बन जाने पर कुरुक्षेत्र के मेले पर गोप-बालाओं से मिलते हैं, वहां वे अपनी पटरानियों से गोप-बालाओं का कोई परिचय नहीं करवाते जबकि सूरदास ने इस प्रसङ्ग का अत्यन्त सरसता-पूर्वक चित्रण किया है[4]।

---

१. श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध अध्याय २२ श्लोक ८।
२. श्रीमद्भागवत, दशमस्कन्ध अध्याय ६५।
३. वही —अध्याय ४७, श्लोक ५३।
४. वही – अध्याय ८२-८३।

(च) भागवतकार ने कृष्ण और गोपियों के सम्बन्ध का नैतिक दृष्टि से औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया है[1], जबकि सूरदास इस ओर से निश्चित है।

उपर्युक्त तुलना से स्पष्ट है कि सूरदास ने भागवत के उन वर्णनों को छोड़ दिया है जो शृङ्गार की स्वाभाविकता में बाधक हैं, दूसरी ओर उन्होंने नवीन प्रसङ्गों की भी उद्भावना की जो रस-सृष्टि में सहायक सिद्ध होते हैं। भागवत में अलौकिकता और साम्प्रदायिकता के आगे उसकी साहित्यिकता अविकसित रह जाती है जबकि सूरदास ने भावात्मकता एवं स्वाभाविकता के लिए आध्यात्मिकता का बहिष्कार कर दिया है। यही कारण है कि जहाँ भागवत धार्मिक ग्रन्थ की कोटि में आता है वहाँ सूरसागर एक सुन्दर साहित्यिक रचना मानी जाती है।

---

१. वही—अध्याय ३३, श्लोक ३०-३६।

६. हिन्दी-साहित्य का स्वर्णकाल-भक्तिकाल

डा० श्यामसुन्दरदासजी तथा अन्य कतिपय विद्वानों ने भक्ति काल को हिन्दी साहित्य का 'स्वर्ण युग' कहा है। स्वर्ण युग से उनका तात्पर्य है 'सर्वश्रेष्ठ युग'। हमें इस मान्यता पर निजी दृष्टिकोण से विचार करना है। पहले हम भक्तिकाल की निम्नांकित विशेषताओं पर विचार करते हैं जोकि उसे स्वर्ण-काल मानने के पक्ष में पड़ती हैं।

(क) काव्य रचना का प्रेरणा स्रोत

भक्तिकाल के कवियों की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने काव्य की रचना न तो आश्रयदाताओं की प्रशंसा के लिए की और न ही उन्होंने धन या यश के लोभ से काव्य रचना की। सच्चा कवि वह है जोकि आत्म प्रेरणा से प्रेरित होकर काव्य रचना में प्रवृत्त होता है। किसी स्थूल लाभ के विचार से आकर्षित होकर काव्य रचने वाला कवि अपनी कविता के साथ न्याय नहीं कर पाता। इस दृष्टि से भक्ति काल का कवि उच्च कवि सिद्ध होता है। क्या कबीर, क्या जायसी और क्या सूर, तुलसी आदि सभी भक्त कवियों ने आत्मा की पवित्र प्रेरणा से प्रेरित होकर काव्य ग्रंथों की रचना की। तुलसी ने तो स्वान्तः सुखाय कह कर इस तथ्य की घोषणा स्पष्ट रूप से की। भक्ति काल के अन्य कवियों में भी यही बात मिलती है।

(ख) काव्य-रचना का महान उद्देश्य

कुछ कवि कला को कला के लिये मानते हैं और कुछ कला को जीवन के लिये। कला को कला के लिये मानने वाले कवियों की रचनाओं में सौन्दर्य तो आ सकता है किन्तु उनमें उन तत्त्वों का प्रायः अभाव होता है जो जीवन के लिये मंगलकारक सिद्ध होते हैं। भक्ति काल के कवियों की कला कोरी कलाबाजी दिखाने के लिये नहीं है। अपितु उसका लक्ष्य हमारे जीवन की

अपवित्रता, अनैतिकता, अस्वच्छता और अस्वस्थता का निराकरण करके मानव-जीवन को स्वस्थ, सुखी, सुन्दर और शुभ बनाना है। तुलसी ने स्पष्ट रूपमें घोषित किया—'कीरति भणिति भूति भलि सोई; सुरसरी सम सब कहँ हितु होई'। भले ही कबीर कुछ क्षणों के लिये रहस्य लोक के अनन्त सागर में विलीन हो गए हों और भले ही जायसी अपने प्रेम के तीव्र प्रवाह में प्रवाहित हो गये हों और भले ही अपने सांवले के राग रंग में तन्मय होकर सूर कुछ क्षणों के लिये अपना अस्तित्व भूल गए हों किन्तु लोक हित का ध्यान इन्होंने सदैव रखा है। इनकी कविता की वाणी हमारी भावनाओं का परिष्कार करती है, हमारे विचारों को पवित्र बनाती है और हमारे आचरण को अत्यन्त स्वस्थ सुन्दर और सुनियन्त्रित रूप प्रदान करती है। फिर भी उसके सौन्दर्य में कोई न्यूनता नहीं आती। कहना चाहिए कि भक्ति काल की कविता कविता नहीं है अपितु स्वर्ग का एक सुन्दर सन्देश है जिसे पाकर मानव अपने दिव्य स्वरूप से परिचित हो जाता है। सुकरात ने एक बार कहा था कि जब ईश्वर को धरती के प्राणियों से बातचीत करनी होती है, जब उन्हें कोई सन्देश देना होता है तो वह कवियों के मुख से बोलता है। यह बात और कवियों पर चाहे लागू हो न हो किन्तु भक्ति काल के कवियों पर अवश्य लागू होती है। सचमुच उनकी वाणी ईश्वर का दिव्य संदेश है।

(ग) विचारों की उत्कृष्टता

भक्तिकालीन साहित्य में उत्कृष्ट कोटि के धार्मिक और सामाजिक विचार उपलब्ध होते हैं। कबीरदास जी ने व अन्य सन्त कवियों ने अपने युग में प्रचलित समाज की रूढ़ियों और बाह्य आडम्बरों का घोर विरोध किया है। उन्होंने अपने तर्क से उन सब मान्यताओं का खंडन कर दिया जोकि समाज की उन्नति में बाधक थीं। मूर्तिपूजा, जीव हिंसा, जपमाला, तिलक छापा, तीर्थाटन आदि की ही सन्त कवियों ने कटु आलोचना की। उस समय धर्म का वास्तविक तत्त्व तो लुप्त हो चुका था और केवल दिखावटी विधि विधानों को ही असली धर्म समझा जाने लगा था। सन्त कवियों ने इस कृत्रिमता के पर्दे को तोड़ कर धर्म का असली रूप प्रदर्शित किया। इसी प्रकार हमारे

सामाजिक विचारों के क्षेत्र में संत कवियों ने क्रान्ति की। उधर प्रेमाख्यान के कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा पवित्र प्रेम प्रदान किया। आगे चलकर सूर और तुलसी ने जनता को आडम्बरों के चक्कर से निकाल कर भक्ति का सन्देश दिया। धर्म, समाज और दर्शन के क्षेत्र में तुलसी ने परस्पर विरोधी विचारों के मध्य सुन्दर समन्वय स्थापित किया। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि सन्त कवियों ने खंडन का कार्य किया जब कि तुलसी जैसे भक्त कवियों ने मंडन का कार्य किया। भला ऐसी स्थिति में हम संत कवियों का समर्थन करें या भक्त कवियों का ? इसके उत्तर में हम कह सकते हैं कि जब कोई इमारत बहुत पुरानी हो जाती है तो उसे गिरा कर उसके स्थान पर नया महल तैयार किया जाता है। हमारे धर्म और समाज की इमारत भी बहुत पुरानी हो चुकी थी। संत कवियों ने खंडन का मार्ग अपना कर उस पुरानी इमारत को गिराने का ~~कार्य किया जबकि राम-भक्त और कृष्ण-भक्त कवियों~~ ने अपने मंडन या समन्वय की प्रणाली से उसके स्थान पर नये महल की रचना का कार्य किया। ~~अतः~~ हमारी दृष्टि में संत कवियों और भक्त कवियों, दोनों के ही कार्य का महत्त्व है।

(घ) भावनाओं का माधुर्य

भक्तिकालीन साहित्य में विचारों की उत्कृष्टता और प्रौढ़ता मिलती है किन्तु फिर भी उसकी भावनाओं का स्रोत सूख नहीं गया। विचारों के साथ-साथ भावनाओं का प्रवाह भी भक्ति साहित्य में अबाध गति से प्रवाहित है। मानव हृदय में उद्वेलित होने वाला कोई ऐसा भाव नहीं है जो भक्ति साहित्य में अप्राप्य हो। कबीर के साहित्य में शान्त और अलौकिक शृङ्गार की अभिव्यक्ति हुई है तो जायसी के काव्य में रसराज शृङ्गार की मधुरता झलकती है। सूर के काव्य में वात्सल्य, शृङ्गार और हास्य की अनुपम छटा दर्शनीय है तो तुलसी के साहित्य में विभिन्न भावनाओं का समन्वय एक ही साथ दृष्टिगोचर होगा। भक्त कवियों की भाव योजना को रस सिद्धान्त की कसौटी पर पूरी तरह परखा जा सकता है। पाठक चाहे भक्त हो या न हो किन्तु फिर भी कबीर, जायसी, मीरा, सूर और तुलसी की उक्तियाँ उसके

हृदय को झकझोर देने की क्षमता रखती हैं। एक ही युग, एक ही देश और एक ही भाषा में पाँच ऐसे कवियों का एक साथ उदय होना एक आश्चर्य-जनक बात है। इनकी कविता अब भी हमारे हृदय को छूती है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि उनमें अनुभूति की मात्रा अधिक है। इन कवियों ने अपनी आत्मा की आवाज, अपने हृदय की वेदना और अपने मस्तिष्क की प्यास को अपने शब्दों के माध्यम से व्यक्त किया है। उनके विचारों से चाहे हम सहमत हों या न हों किन्तु उनकी स्वर लहरियों का गुंजार हमारी हृदय वीणा के तारों को अवश्य झंकृत कर देता है। यहाँ कबीर, जायसी, मीरा, सूर आदि की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

कबीर: विरहिन उभि पंथ सिर, पंथी बूझे धाय।
एक शब्द कहि पीवका, कब रे मिलौंगे आय॥

जायसी: पिउ सूं कहेउ संदेशडा, हे भौंरा, हे काग।
सा धनि विरह जरि मुई, तेहिक धुंआ हम्ह लाग॥

मीरा: मेरो दर्द न जाणे कोई,
घायल की गति घायल जाणै, जे कोई घायल होय॥

सूर: मैया मोहि दाऊ बहुत खिझायो,
मों सों कहत मोल को लीन्हों,
तोहि जसुमती कब जायो॥
कहा कहूँ एहि रिस के मारे हौं खेलन नहीं जात,
तू मोहि कों मारन सीखी, दाऊ ही न कबहुँ खीझै।
मोहन को मुख रिस समेत सखि सुनि सुनि जसुमती रीझै॥

(ङ) विविध शैलियां

भक्ति साहित्य में विभिन्न शैलियों का प्रयोग सफलता पूर्वक हुआ है। सन्त कवियों ने गीति शैली और मुक्तक शैली का प्रयोग किया है तो प्रेमाख्यानक कवियों ने प्रबन्ध शैली को चरम उत्कर्ष तक पहुँचा दिया है। गीति शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कृष्ण भक्त कवियों की रचना में मिलता है। उधर राम काव्य में तो उस युग की प्रायः सभी प्रचलित शैलियों का प्रयोग हुआ है; जैसे प्रबन्ध शैली, मुक्तक शैली, गीति शैली आदि-आदि।

(च) विभिन्न लोक भाषाओं का प्रयोग

शैली की ही भाँति भक्ति काव्य की भाषा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इन कवियों ने ब्रज, अवधी, राजस्थानी और प्रारम्भिक खड़ी बोली का प्रयोग सफलता पूर्वक किया। ध्यान रहे कि भक्तिकाल से पूर्व इन भाषाओं को देहाती भाषा या गँवारू भाषा समझा जाता था। ब्रज, अवधी या राजस्थानी में कविता करना गँवारों का काम समझा जाता था। किन्तु इन कवियों ने जनता की भाषा में अपने हृदय का अमृत घोल कर जनता के जीवन को और साथ ही उनके भाषा के जीवन को अमर कर दिया। इन्होंने एक ओर तो तत्सम शब्दों के प्रयोग के द्वारा इन भाषाओं के शब्दकोष में वृद्धि की। दूसरी ओर उनके स्वरूप को सुधार तथा निखार कर एक आकर्षक रूप प्रदान किया। ब्रज भाषा का तो इतना अधिक प्रयोग, प्रचार और परिष्कार हुआ कि वह समस्त उत्तर भारत की काव्य भाषा बन गई। (भाषा की जैसी कोमलता, जैसी सरसता, जैसी स्वाभाविकता और जैसी प्रवाहशीलता इनके काव्य में मिलती है वैसी अन्यत्र उपलब्ध होना कठिन है।)

(छ) कला पक्ष की प्रौढता

कला पक्ष की दृष्टि से हम समस्त कवियों को तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम वे जिनमें कोरा भाव पक्ष मिलता है, कला पक्ष उपेक्षित रहता है। दूसरे वे जिनका कला पक्ष तो प्रौढ होता है किन्तु भाव पक्ष अशक्त होता है। तीसरे वे जिनके भाव पक्ष और कला पक्ष दोनों प्रौढ होते हैं। अधिकांश भक्त कवि तीसरे प्रकार के कवि हैं। उनका भाव पक्ष जितना प्रबल है, कला पक्ष भी उतना ही सफल है। अलङ्कारों का प्रयोग इन्होंने बहुत किया है किन्तु इतना नहीं कि वह कविता रमणी के लिए असह्य भार बन जाय। उनकी आलङ्कारिकता उनके भाव पक्ष को दबाती नहीं अपितु उसकी प्रभाव शक्ति में अभिवृद्धि करती है।

(ज) जंनता का काव्य

कुछ रचनाएँ विद्वानों के ही समझने की होती हैं और कुछ जन साधारण के काम की। उदाहरण के लिए कामायनी या महादेवी के गीत विद्वानों के

उपयुक्त हैं। जनता उनका लाभ नहीं उठा सकती। किन्तु भक्ति काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह विद्वानों और अशिक्षितों दोनों के ही हृदय को समान रूप से प्रभावित करता है। एक ओर बड़े से बड़ा दार्शनिक भी भक्ति साहित्य को लेकर अपने मस्तिष्क की प्यास शान्त कर सकता है तो दूसरी ओर गाँव का एक अनपढ़ साधारण व्यक्ति भी सूर, तुलसी और मीरा की पंक्तियों को गुनगुना कर अपने हृदय को आप्लावित कर सकता है। वीर गाथा काल के कवियों का काव्य राजाओं के दरबार तक ही सीमित रह गया। रीतिकाल की कविता कामिनी अपने सौन्दर्य और वैभव की दृष्टि से तो अतुल्य है किन्तु उसकी स्वर लहरियां कुछ राजाओं और धनी लोगों के रंगमहलों तक ही सीमित रह गईं। छायावादी कवियों की वाणी में अलौकिकता का आडम्बर, सौन्दर्य की सूक्ष्मता और चित्रात्मकता का चमत्कार तो बहुत है किन्तु जन साधारण के हृदय की प्यास को बुझाने में वह असमर्थ है। प्रगतिवादियों के काव्य में भाषा की सरलता है किन्तु भावनाओं का सौन्दर्य उसमें नहीं मिलता। नवीनतम प्रयोगवादियों के काव्य में अहं, वासना और कामुकता का निर्लज्ज प्रलाप तो मिलता है किन्तु जन मानस की पवित्र भावनाओं को उद्वेलित करने की क्षमता उसमें नहीं है। केवल भक्ति-काव्य ही ऐसा काव्य है जो विचार पक्ष, भाव पक्ष और शैली पक्ष, तीनों की दृष्टि से शिक्षित और अशिक्षित सभी वर्गों को समान रूप से रसानुभूति प्रदान करता है।

भक्ति कालीन साहित्य में अनेक न्यूनताएँ भी हैं; जैसे एक तो उस युग में केवल पद्य का ही प्रचार रहा है। गद्य के विभिन्न रूपों का जैसे नाटक, उपन्यास, कहानी, समालोचना आदि का विकास उसमें नहीं मिलता। दूसरे उस युग की कविता का दृष्टिकोण आध्यात्मिक ही अधिक रहा। हमारे जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की ओर उसमें विशेष ध्यान नहीं है। यों कहना चाहिए कि भक्त कवियों ने परलोक की चिन्ता तो बहुत की किन्तु इस लोक के मनुष्यों के जीवन की समस्याओं की ओर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। रोटी, कपड़े और मकान की समस्या पर उनका ध्यान नहीं गया। हो सकता है कि वह युग ही ऐसा रहा हो कि रोटी, कपड़े और मकान की समस्या

हमारे जीवन से दूर रही हो। किन्तु जिस पहली न्यूनता का ऊपर उल्लेख है वह भक्तिकाल की एक बड़ी न्यूनता है। यह ठीक है कि आधुनिक कविता में वह प्रभाव शक्ति नहीं मिलती जो भक्ति काल की कविता में मिलती है किन्तु उपन्यासकार प्रेमचन्द, नाटककार भारतेन्दु, कहानीकार जैनेन्द्र, निबन्धकार शुक्ल, गद्यकार महादेवी और आलोचक हजारी प्रसाद का जवाब भी भक्ति-काल के पास नहीं है। ऐसी स्थिति में भक्तिकाल को आधुनिक काल से भी श्रेष्ठ मानना या उसे हिन्दी का स्वर्णकाल बताना कहां तक उचित है? हमारी दृष्टि में भक्तिकाल केवल हिन्दी कविता के इतिहास का ही स्वर्णयुग है, सारे हिन्दी साहित्य का नहीं। कदाचित् श्यामसुन्दरदास तथा अन्य आचार्यों ने भी केवल कविता को ही ध्यान में रखकर भक्तिकाल को स्वर्णयुग बताया होगा। गद्य और पद्य दोनों की दृष्टि से तो आधुनिक काल ही हिन्दी-साहित्य का स्वर्णयुग है।

---

*

१०. रीतिकाल का प्रवर्त्तक कौन ?

रीति-काव्य परम्परा का आरम्भ विक्रम की सोलहवीं शती के अन्तिम चरण में ही हो जाता है। सं० १५९८ वि० में कृपाराम ने 'हित तरंगिणी' का निर्माण किया जो कि इस परम्परा का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ कहा जा सकता है, किन्तु इसके कुछ दोहों में बिहारी के दोहों से साम्य होने के कारण विद्वानों ने इसके रचना काल को संदेह की दृष्टि से देखा है। बिहारी में अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावापहरण की प्रवृत्ति मिलती है, उनकी सतसई के शताधिक दोहे 'गाथा सप्तशती' 'आर्या सप्तशती', 'अमरू शतक' तथा केशव, बलभद्र मिश्र आदि पूर्ववर्ती कवियों की उक्तियों के आधार पर निर्मित हैं, अतः 'हित तरंगिणी' के रचना काल पर संदेह करना अनावश्यक है। आगे चल कर सत्रहवीं शताब्दी में अनेक ऐसे ग्रंथ लिखे गये जिनमें रीति सम्बन्धी प्रवृत्तियां मिलती हैं। 'साहित्य-लहरी' (१६०७) सूरदास कृत, नन्ददासकृत 'रस मंजरी' (१६३७ वि०), गोपाकृत 'अलंकार-चद्रिका' (१६१५ वि०) मोहन का 'शृङ्गार सागर' (१६१६ वि०), करणेश के 'करणाभरण', 'श्रुति-भूषण', 'भूप भूषण' आदि (१६३७ वि०) लगभग, बलभद्र मिश्र 'नख-शिख' (१६४० वि०) आदि इन ग्रंथों में रीतिकाल सम्बन्धी अनेक विषयों, नख-शिख वर्णन, नायिका-भेद निरूपण अलंकार-निरूपण आदि का, प्रतिपादन किया गया है किन्तु उन सब में विषय और शैली की दृष्टि से सर्वत्र कोई एक व्यवस्थित रूप नहीं मिलता। इस परम्परा को एक व्यवस्थित एवं प्रौढ़ रूप देने का श्रेय केशवदास को है जिन्होंने रसिक प्रिया (१६४८ वि०) और 'कवि प्रिया' (१६५८ वि०) में रीति काव्य सम्बन्धी प्रायः सभी विषयों का विवेचन प्रौढ़ता से किया है। अतः रीति-काव्य परम्परा के प्रवर्तन का श्रेय कृपाराम को तथा उसे व्यवस्थित प्रौढ़ रूप देने का यश केशव दास को मिलना चाहिए, किन्तु इसके विपरीत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चिन्तामणि त्रिपाठी, रचना काल सं०१७०० वि०, को रीति-परम्परा का प्रवर्तक सिद्ध करने का प्रयास किया है। उन्होंने अपने पक्ष में तीन तर्क दिये

हैं—(१) रीति ग्रंथों का अविरल और अखंडित प्रवाह केशव की 'कवि प्रिया' के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला। (२) केशव अलंकारवादी थे जबकि परवर्ती कवियों ने केशव से भिन्न आदर्श रस सिद्धांत को अपनाया। (३) परवर्ती कवियों ने अलंकारों के निरूपण में केशव की शैली को अपना कर कुवलयानन्द की शैली (एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण देने की शैली) का प्रयोग किया। हमारे विचार से उपर्युक्त तीनों आक्षेप निराधार हैं। नवीनतम अनुसंधान से जो ग्रंथ प्रकाश में आये हैं उनसे यह सिद्ध हो जाता है कि रीति परम्परा केशव से चिन्तामणि तक अखंड रूप से आगे बढ़ती रही है। वे ग्रंथ ये हैं—रस चन्द्रिका, (बालकृष्ण १६५७ वि०) अलक शतक व तिल शतक, (मुबारक कृत, १६७० वि०), रङ्ग भाव माधुरी, (रस नायिका भेद का ग्रंथ व्रजपति भट्टकृत, १६८० वि०) नखशिख, (लीलाधर, १६७६ वि०) सुन्दर शृङ्गार, (सुन्दरकृत, रस नायिका भेद का ग्रंथ, १६८८ वि०), रहीम (१६१३-८३ वि०) कृत नगर शोभा, बरवै नायिका भेद और मदनाष्टक, फतेहप्रकाश (क्षेम राज १६८५), सुधानिधि, (तोष १६९१), भाषा भूषण, (जसवन्तसिंह, १६९५,) काव्य प्रकाश और शृङ्गार मंजरी, (चिन्तामणि १७०० वि०)। आश्चर्य की बात है कि सुन्दर शृङ्गार, बरवै नायिका भेद और भाषा भूषण की उपेक्षा करके रीति परम्परा का आरम्भ चिन्तामणि के ग्रंथों से माना गया है।

दूसरा तर्क कि केशव अलंकारवादी थे, यह भी भ्रामक है। केशव ने जहां 'कवि प्रिया' में अलंकारों का विवेचन किया है वहां 'रसिक प्रिया' में रस सिद्धांत के सभी अंगों एवं भेदों का प्रतिपादन किया है। कवि रूप में भले ही केशव अलंकारवादी रहे हों किन्तु जहाँ तक आचार्यत्व का सम्बन्ध है उन्होंने अलंकार और रस, दोनों को मान्यता दी है। कुछ लोग केशव को अलंकारवादी सिद्ध करने के लिए निम्नांकित छन्द उद्धृत करते हैं—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजई कविता बनिता मित्त।

ध्यान से देखने पर स्पष्ट होगा कि यहाँ कवि अलंकारों को काव्य की आत्मा व प्राण घोषित नहीं करता है, अपितु उनका महत्त्व उतना ही स्वीकार

करता है जितना कि 'बनिता' के लिए आभूषणों का है। यदि अलंकारों को आभूषणों के तुल्य महत्त्व देने से ही किसी को अलंकारवादी घोषित किया जा सकता है तो फिर संस्कृत के साहित्य-दर्पणकार से लेकर हिन्दी के चिन्तामणि, देव, श्रीपति, भिखारीदास आदि प्रायः सभी रीति कवि अलंकारवादी सिद्ध होते हैं क्योंकि प्रायः इन सभी ने अलंकारों का विवेचन करते हुए उन्हें 'भूषण' या 'आभूषण' के तुल्य महत्त्व दिया है; देखिये—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥

—साहित्य दर्पण

शोभा को बढ़ाने वाले, रस भाव आदि के उपकारक जो शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं, वे अंगद, आभूषण विशेष, की भांति अलंकार कहलाते हैं।

सगुन अलंकारन सहित, दोष रहित जो होइ।
शब्द अर्थ वारा कवित, विबुध कहत सब कोइ॥

—चिन्तामणि

सब्द जीव तिहिं अरथ मन, रसमय सुजस शरीर।
चलत बहै जुग छन्द गति अलंकार गम्भीर॥

—देव, काव्य रसायन

जदपि दोष बिनु गुन सहित, सब तन परम अनूप।
तदपि न भूषन बिनु लसै, बनिता कविता रूप॥

—श्रीपति, काव्यसरोज

सगुन पदारथ दोष बिनु, पिंगल मत अविरुद्ध।
भूषण जुत कवि कर्म जो, सो कवित्त कहि बुद्ध॥

—सोमनाथ, रस पीयूष निधि, तरंग ६

दास जी अपना मत प्रकट करते हैं कि रस ही कविता का अंग है, अलंकार आभूषण है। गुण, रूप और रङ्ग तथा दोष कुरूपता के समान है।

—हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास, पृ० ११६

वस्तुतः प्रायः सभी रीति कवियों ने केशव की भांति अलंकारों को आभूषणों की भाँति काव्य का शोभावर्द्धक उपकरण माना है।

केशव के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि उन्होंने संस्कृत के प्रारम्भिक आचार्यों दण्डी आदि का अनुकरण किया, परवर्ती आचार्यों मम्मट, विश्वनाथ आदि का अनुकरण नहीं किया, जबकि हिन्दी के रीति कवि विश्वनाथ आदि के मार्ग पर चले। यह आक्षेप भी 'कवि प्रिया' के आधार पर किया गया प्रतीत होता है। 'रसिक प्रिया' की अधिकांश सामग्री रस विवेचन, नायक के चार भेद, नायिका के तीन प्रमुख तथा अवान्तर भेद आदि मम्मट के 'काव्य प्रकाश' एवं विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' पर आधारित हैं।

केशव के परवर्ती कवियों में से कुछ ने अलंकार-निरूपण में 'कुवलयानन्द' की पद्धति का प्रयोग किया है जबकि कुछ ने केशव का अनुकरण करते हुए लक्षण और उदाहरण अलग अलग छन्दों में दिये है। दूसरे वर्ग के कवियों में मतिराम, ललित ललाम, भूषण, शिवराज भूषण, रघुनाथ, रसिक मोहन, दूलह कविकुलकंठाभरण, ग्वाल, रसिकानन्द, प्रतापसाहि, अलंकार चिन्तामणि, उल्लेखनीय हैं। वैसे तो सूक्ष्म दृष्टि से प्रत्येक आचार्य के दृष्टिकोण, विवेचन एवं शैली में थोड़ा बहुत अन्तर मिलना स्वाभाविक है किन्तु इसी से किसी को परम्परा से बाहर नहीं किया जा सकता। वस्तुतः केशव ने 'कवि प्रिया' और 'रसिक प्रिया' में जिस ढाँचे को खड़ा किया तथा जिन विषयों का जिस पद्धति में विवेचन किया है, परवर्ती कवियों ने प्रायः कुछ अपवादों को छोड़कर उसी ढाँचे, उसी पद्धति और उन्हीं विषयों को अपनाया है। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि रीति-परम्परा के जन्म का श्रेय कृपाराम को तथा उसे विकसित करके पूर्णतः प्रतिष्ठापित करने का श्रेय आचार्य केशवदास को है।

---

११. रीतिबद्ध काव्य : कुछ समस्याएँ

(क) रीति शब्द की व्याख्या

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल का नामकरण—'रीतिकाल'—करते हुए यह स्पष्ट नहीं किया कि 'रीति' शब्द से उनका क्या अभिप्राय है। फलस्वरूप परवर्ती विद्वानों को इस शब्द की व्याख्या अपने-अपने ढङ्ग से करनी पड़ी। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—"यहाँ साहित्य को गति देने में अलङ्कार-शास्त्र का ही जोर रहा है जिसे उस काल में 'रीति' 'कवित्त-रीति' या 'सुकवि-रीति' कहने लगे थे, सम्भवतः इन शब्दों से प्रेरणा पाकर शुक्लजी ने इस श्रेणी की रचनाओं को 'रीति-काव्य' कहा है।"[1] डा० नगेन्द्र और डा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी इसी से मिलती-जुलती व्याख्या प्रस्तुत करते हुए 'रीति' शब्द को 'काव्य-रीति' का संक्षिप्त-रूप बताया है[2]। आचार्य शुक्ल के द्वारा इस शब्द के प्रयोग को रखते हुए इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने भी इसका प्रयोग 'काव्य-रीति' के अर्थ में ही किया था तथा आज भी हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में इसका व्यवहार इसी अर्थ में होता है।

(ख) रीति कवियों का उद्देश्य

अस्तु, रीति शब्द की व्याख्या से स्पष्ट है कि काव्य-परम्परा का नामकरण इस धारणा पर आधारित है कि इस परम्परा के सभी कवियों का उद्देश्य काव्याङ्गों का निरूपण या विवेचन करना था, किन्तु वास्तविकता यह है कि इनमें से अधिकांश का लक्ष्य 'काव्य-रीति' नहीं 'रस-रीति' अर्थात् रसिकता

---

१. हिन्दी साहित्य, पृ० २६१।

२. "यहाँ काव्य-रचना सम्बन्धी नियमों के विधान को ही समग्रतः रीति नाम दे दिया गया है।" (रीति-काव्य की भूमिका—ले० डा० नगेन्द्र पृ० १२६) डा० विश्वनाथ का मत देखिये—'बिहारी' की भूमिका।

की शिक्षा देना है, जिसका समर्थन इन तथ्यों के आधार पर किया जा सकता है :—

(१) विभिन्न रीति-ग्रन्थों में ऐसी उक्तियाँ मिलती हैं जिनसे उनके उद्देश्य का स्पष्ट परिचय मिलता है; यथा :—

(क) एक मित्र हमसों अस गुन्यों ।
मैं नायिका भेद नहीं सुन्यों ।
जब लगि इनके भेद न जानें ।
तब लगि प्रेम-तत्व न पहिचानें ।
बिन जाने ये भेद सब, प्रेम न परचे होय ।
चरनहीन ऊँचे अचल, चढ़त न देख्यो कोय[1] ॥

(ख) सुरबानी याते करी, नरबानी में ल्याय ।
जाते मग रस-रीति, को सबतें समझो जाय[2] ॥

(ग) बरनत कवि सिंगार-रस छन्द बड़े विस्तारि ।
मैं बरन्यो दोहान बिच, यातें सुघरि विचारि[3] ॥

(घ) बाढ़ै रति मति अति पढ़ै जाने सब रस-रीति ।
स्वारथ परमारथ लहै, रसिक-प्रिया की प्रीति ॥

× × ×

रसिकन को रसिक-प्रिया कीन्ही केशवदास[4] ।

उपर्युक्त अंशों में प्रेम-तत्व सिङ्गार-रस और रस-रीति आदि शब्द एक ही विषय के द्योतक हैं । जिस प्रकार काम के क्षेत्र में 'काम-कला' या 'कोक-कला' का प्रचलन है वैसे ही रसिकता के क्षेत्र में 'रस-रीति' या 'प्रेम-मार्ग' का है, अस्तु 'रस-रीति' का सम्बन्ध भरत द्वारा प्रतिपादित 'काव्य-रस' से नहीं, अपितु रसिकता या विलासिता से प्राप्त होने वाले रस या आनन्द से है ।

---

१. रस मंजरी—नन्ददास ।
२. सुन्दर कवि—सुन्दर शृङ्गार ।
३. कृपाराम—हिततरङ्गिनी ।
४. केशवदास—रसिक प्रिया ।

(२) इन कवियों के ग्रन्थों का नामकरण भी उसके इसी उद्देश्य को सूचित करता है, यथा 'रस-प्रबोध', 'शृङ्गार-सागर', 'रस-रहस्य', 'बधू-विनोद', 'रस-विलास', 'भाव-विलास', 'जगत-विनोद' आदि नामों में रस, शृङ्गार, विलास या विनोद आदि शब्द रसिकता के पर्यायवाची हैं।

(३) इनकी रचनाओं में शृङ्गार-रस का ही वर्णन मिलता है, काव्य के अन्य अङ्गों की विवेचना का उनमें अभाव है।

यहाँ यह ध्यान रहे कि कुछ काव्य-ग्रन्थ विशुद्ध 'काव्य-रीति' के विवेचन के उद्देश्य से भी लिखे गये थे किन्तु उनका नामकरण दो प्रकार से किया गया है :—

(१) जिनमें काव्य के सभी अङ्गों का विवेचन हुआ है, उनके नामकरण में 'कवि' या 'काव्य' शब्द का प्रयोग हुआ है; जैसे—'काव्य-निर्णय', 'काव्य-सिद्धान्त', 'काव्य-सरोज', 'काव्य-कल्पद्रुम', 'कवि-प्रिया' आदि। (२) ऐसे ग्रन्थ जिनका लक्ष्य कोरे अलङ्कारों का निरूपण करना था, उनके नामकरण में भूषण, आभरण, आभूषण आदि अलङ्कार के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है; यथा—'भाषा-भूषण', 'शिवराज-भूषण', 'अलङ्कार-माला', 'कंठा-भूषण', 'कर्णाभरण' आदि।

उपर्युक्त दोनों वर्गों के ग्रन्थ विशुद्ध आचार्यत्व की दृष्टि से लिखे गये थे, जबकि 'रस-रीति' के ग्रन्थ रसिकता की शिक्षा के निमित्त। किन्तु हमारे इतिहासकारों ने इस अन्तर को ध्यान में न रखने के कारण 'रस-रीति' वाले ग्रन्थों में भी आचार्यत्व ढूँढ़ने का असफल प्रयास किया है।

(ग) रीतिबद्ध शृङ्गार काव्य का स्वरूप

'रस-रीति' से सम्बन्धित ग्रन्थों में शृङ्गार-निरूपण मुख्यतः निम्नाङ्कित रूपों में हुआ है :—

(क) शृङ्गार-रस के विभिन्न अवयवों के रूप में।

(ख) नायिका-भेद के रूप में।

(ग) नख-शिख वर्णन के रूप में।

(घ) षट-ऋतु वर्णन के रूप में।

उपर्युक्त चार विषयों में भी सबसे अधिक विस्तार नायिका-भेद को ही दिया है, शेष विषयों का तो अधिकांश कवियों ने चलता सा वर्णन कर दिया है। श्री प्रभुदयाल मित्तल एवं श्री राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी अपने ग्रन्थों[1] में नायिका-भेद का साङ्गोपाङ्ग परिचय दे चुके हैं, अतः यहाँ उसका परिचयात्मक विवरण न देकर, कुछ नवीन दृष्टिकोणों से विवेचन एवं विश्लेषण-मात्र प्रस्तुत करना उचित पोगा।

(घ) नायिका-भेद : विश्लेषण

नायिका के विभिन्न भेदों को स्थूल-रूप से इन समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

१—जाति के अनुसार चार भेद —पद्मिनी, चित्रिणी, शङ्खिनी और हस्तिनी।

२—कर्मानुसार तीन भेद —स्वकीया, परकीया और सामान्या (वेश्या)।

३—दशानुसार तीन भेद —गर्विता, अन्य संभोग-दुःखिता और मानवती।

४—अवस्थानुसार दस भेद —स्वाधीनपतिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहांतरिता, प्रवत्स्यत्पतिका, प्रोषितपतिका और आगतपतिका।

५—गुणानुसार तीन भेद —उत्तमा, मध्यमा और अधमा।

६—वयक्रमानुसार अनेक भेद —मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा आदि।

इसके अतिरिक्त देश और जाति के अनुसार भी भेद किये गये हैं।

वर्गीकरण के आधार—उपर्युक्त समूहों में से जाति अनुसार किये गये पहले वर्गीकरण में नायिका की शारीरिक विशेषताओं को, दूसरे में उसकी

---

१. देखिये श्री मित्तल का "ब्रज-भाषा काव्य में नायिका-भेद" और श्री चतुर्वेदी का "रीतिकालीन कविता और शृङ्गार रस का विवेचन"।

सामाजिक स्थिति को, तीसरे और चौथे वर्गीकरण में प्रेम मार्ग की विभिन्न परिस्थितियों को, पांचवे में चारित्रिक गुणों को, छठे में यौवन के विकास को आधार बनाया गया है। इनमें नायिका के व्यक्तित्व से सम्बन्धित वर्गीकरण पहला, पाँचवाँ और छठा ही है, शेष का सम्बन्ध बाह्य परिस्थितियों से है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचना—उपर्युक्त समूहों में से जाति, कर्म, गुण देश तथा व्यवसाय के आधार पर किये गये वर्गीकरणों का मनोविज्ञान से विशेष सम्बन्ध नहीं है। दशानुसार एवं अवस्थानुसार वर्गीकरण में नायिका की मनोदशा पर बाह्य परिस्थितियों के प्रभाव को आधार माना गया है, जो मनोविज्ञान सम्मत है। वयक्रमानुसार किये गये वर्गीकरण के प्रारम्भिक भेद—मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा तो स्वाभाविक हैं, किन्तु आगे चलकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म उपभेद किये गये हैं (इनमें नायिका की १२ वर्ष से लेकर २४ वर्ष की अवस्था तक के प्रत्येक वर्ष के आधार पर अलग-अलग भेद किये गये हैं) जो अनावश्यक है, क्योंकि सभी युवतियां एक ही वय में एक जैसी मनोदशा को प्राप्त नहीं हो सकतीं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नायिका भेद में एक दोष यह है कि इसमें नारी जाति को बाह्य परिस्थितियों से सम्बद्ध रूप में ही देखा गया है जिससे उनकी व्यक्तिगत विशिष्टताओं का सर्वथा लोप हो जाता है। एक ही अवस्था या परिस्थिति में दो नायिकाओं की मानसिक स्थिति या गति व्यवहार में व्यक्तिगत दृष्टिकोण के कारण अन्तर भी हो सकता है, इसे नायिका भेद में भुला दिया गया है।

नायिका-भेद और रस के अवयव—नायिकाओं के जाति, वयक्रम, देश और पेशे के अनुसार किये गये भेदों में उनका शारीरिक सौन्दर्य एवं बाह्य चेष्टाओं का चित्रण होता है, अतः इन में ये आलम्बन रूप में उपस्थित होती हैं जबकि दशा और अवस्था सम्बन्धी वर्गों में नायक के व्यवहार से प्रभावित मनोदशाओं का उद्घाटन होता है, अतः वे आश्रय रूप से चित्रित की जाती हैं। शेष वर्ग की नायिकाएँ आलम्बन और आश्रय दोनों रूपों में उपस्थित की जा सकती हैं। नायिकाओं को आलम्बन और आश्रय रूप में चित्रित करते समय हावों, अनुभावों और संचारी भावों की आयोजना तथा अप्रत्यक्ष रूप से

नायक के व्यक्तित्व की भी अभिव्यक्ति हो जाती है। इस प्रकार नायिका भेद के क्षेत्र में शृङ्गार रस के सभी अवयवों के समावेश के लिये स्थान है।

नायिका-भेद में प्रेम का स्वरूप—नायिका भेद में तत्कालीन कवियों एवं आचार्यों के प्रेम सम्बन्धी आदर्श का भी प्रतिबिम्ब देखा जा सकता है। सामाजिक दृष्टिकोण से किये गये वर्गीकरण में प्रेमिकाओं की तीन स्थितियाँ—स्वकीया, परकीया और सामान्या सम्बन्धी स्वीकार की गई हैं, किन्तु एक चौथी स्थिति पर जिसमें नायक और नायिका दोनों अविवाहित हों किसी का ध्यान नहीं गया। कुछ आचार्यों ने अविवाहिता नायिका को अनूढ़ा नाम दिया है। किन्तु उसे परकीया के भेदों के अन्तर्गत रखा गया है। यद्यपि संस्कृत काव्य की अनेक नायिकायें—शकुन्तला, कादम्बरी, दमयन्ती आदि अनूढ़ा स्वकीया के रूप में चित्रित मिलती हैं, फिर भी नायिका भेद के कवियों ने इस भेद को स्थान नहीं दिया। अनूढ़ा की ऐसी उपेक्षा का कारण संभवतः तत्कालीन समाज में प्रचलित बाल-विवाह प्रथा ही है। नायक-नायिकाओं को यौवनावस्था से पूर्व ही विवाह-बन्धन में बाँध दिया जाता था। अतः ऐसी स्थिति में अविवाहित नायक-नायिकाओं का स्वतन्त्र-प्रेम-व्यवहार चलना संभव नहीं था।

अब स्वकीया के उप-भेदों पर भी दृष्टिपात कीजिये। उसके तीन प्रमुख भेद—मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा और फिर उनके भी अवान्तर-भेद—अंकुरित यौवना, उन्नत कामा, सुरति विचित्रा, उद्भट यौवना, मदनमत्ता, रति कोविदा—आदि यही सूचित करते हैं कि इन कवियों की दृष्टि में दाम्पत्य-जीवन केवल रति-क्रीड़ा मात्र तक सीमित था। प्रेम-भाव की न्यूनता या अधिकता की दृष्टि से या व्यक्तित्व की अन्य विशेषताओं के आधार पर भी पत्नियों का वर्गीकरण करने की बात इन्हें नहीं सूझती। हाँ, एक ऐसा वर्गीकरण अवश्य किया गया है, जिसके अनुसार जो अपने पति को पर-स्त्री में रत देखकर भी अप्रसन्न नहीं होती, वह उत्तमा है; जो मान करती है वह मध्यमा है और जो पूरी तरह कलह करने पर उतारू हो जाती है वह अधमा है। भला वह पत्नी ही क्या जो पति के आनन्द-भोग में बाधक सिद्ध हो!

स्वकीया के अन्य भेद—मानवती, खंडिता, अन्य संभोग-दुःखिता, कलहांतरिता आदि भी तत्कालीन पुरुष की विलासिता और नारी की हीन-दशा के परिचायक हैं।

परकीया के उपभेद—इन कवियों ने सबसे अधिक विस्तार परकीया के भेदों का किया है। ऊढ़ा परकीया के दो मौलिक भेद, असाध्या और सुख-साध्या किये गये हैं। सुख-साध्या के भी दस भेद—वृद्ध-बधू, बाल-बधू, नपुंसक-बधू आदि हैं। सुख-साध्या शब्द का ही अर्थ है जिसे सरलतापूर्वक फुसलाया जा सके, इसका अर्थ है—ये नायिकायें स्वाभाविक प्रेम की प्रेरणा से नायक में अनुरक्त नहीं होती थीं अपितु नायक इनकी परिस्थिति से लाभ उठाकर इन्हें अपनी काम-तृप्ति का साधन बनाता था, ऐसी स्थिति में सच्चे प्रेम की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।

परकीया के अन्य भेद भी नायिका की हीन स्थिति को ही व्यक्त करते हैं। नायक के संकेत पर वह अभिसारिका का रूप धारण करती है, वासक-सज्जा के रूप में संकेत स्थल पर नायक की दीर्घ प्रतीक्षा करती है, किन्तु कुछ दिनों के रस-पान के अनन्तर रसिक भ्रमर किसी और में अनुरक्त हो जाता है और फल-स्वरूप उसे निराश विप्रलब्धा के वेष में घर लौटना पड़ता है।

इसी प्रकार निवास स्थान और पेशे के अनुसार किये गये परकीया सम्बन्धी भेद भी पुरुष वर्ग की अति रसिकता के परिचायक हैं, अन्यथा मालिन, धोबिन, तेलिन आदि का व्यवसाय चाहे कुछ भी हो अपने-अपने घर में तो वे स्वकीयायें ही हैं।

वस्तुतः नायिका-भेद में हम जिस शृङ्गारिकता के दर्शन करते हैं वह सर्वथा कामुकता और रसिकता से ही ओत-प्रोत है, उसमें पुरुषों की काम-लोलुपता एवं वंचकता, नारी की परवशता और दीनता, दाम्पत्य जीवन की विषमता और बाह्य सामाजिक जीवन की गर्हितावस्था का दर्शन होता है। प्रेम-भावना को ध्यान में रख कर किया गया वर्गीकरण केवल एक रसलीन का—कामवती, अनुरागिनी, प्रेमासक्ता—मिलता है; किन्तु इसे अन्य कवियों ने स्वीकार नहीं किया।

नायिका-भेद का मूल उद्गम-स्रोत—नायिदा-भेद की परम्परा के मूल उद्गम-स्रोत पर विचार करते हुए डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी ने अपने प्रबन्ध में "नाट्य-शास्त्र" के रचयिता भरतमुनि को इसका आदि प्रवर्त्तक बताया है तथा अभिनय को ही नायिका भेद की उत्पत्ति का प्रेरक कारण सिद्ध करने का प्रयास किया है।[1] किन्तु उनका यह मत स्वीकार्य नहीं है। नायिका-भेद की उत्पत्ति का मूल कारण अभिनय नहीं अपितु काम-शास्त्रीय विश्लेषण है तथा इसकी परम्परा का प्रवर्त्तन काम-शास्त्रीय ग्रन्थों में नाट्य-शास्त्र की रचना से बहुत पूर्व हो चुका था। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं :—

(क) वात्स्यायन के काम सूत्र का रचनाकाल स्वयं डा० राजेश्वरप्रसाद ने चन्द्रगुप्त का शासनकाल कल्पाब्द २४२२ (ई० पू० ३२४–३००) स्वीकार किया है[2] जबकि भरत का नाट्य शास्त्र प्रथम शताब्दी से पूर्व का नहीं माना जाता। जो विद्वान दोनों ही ग्रन्थों को बाद की रचना मानते हैं वे भी 'काम-सूत्र' को 'नाट्य-शास्त्र' से पूर्व रचित मानते हैं।

(ख) वात्स्यायन ने अपने पूर्व के आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए आचार्य चारायण के द्वारा कृत नायिका के पाँच भेदों, सुवर्ण नाम के छः भेदों, धोटकमुख के सात भेदों की आलोचना की है। इससे सिद्ध होता है कि नायिका-भेद की परम्परा वात्स्यायन से भी बहुत पूर्व प्रचलित हो चुकी थी।

(ग) जहाँ वात्स्यायन ने नायिका भेद सम्बन्धी अन्य आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है वहां वे भरत के नायिका भेद के सम्बन्ध में मौन हैं। यदि भरत का नाट्य शास्त्र पहले निर्मित हो चुका होता तो वे उसका उल्लेख अवश्य करते परन्तु इसके विपरीत 'भरत-मुनि' ने अपने ग्रन्थ में 'काम-सूत्र' का स्पष्ट उल्लेख किया है।[3]

---

१. रीति कालीन कविता और शृङ्गार रस का विवेचन पृ० २६४।

२. वही—पृ० ११०।

३. उपचार विधि सम्यक काम सूत्र समुत्थितम्।

—नाट्य शास्त्र, २४। १४२।

(घ) भरतमुनि का नाटच-शास्त्र नायिका-भेद से बहुत अधिक विकसित एवं बाद का है, यह दोनों की तुलना से सिद्ध हो जाता है। वात्स्यायन ने नायिका के कुल आठ भेद किये हैं जबकि भरत के नाटच-शास्त्र में इनकी संख्या ७२ तक पहुँच गई है। भरत-मुनि द्वारा अवस्थानुसार किये गये आठ भेदों में तो वात्स्यायन खंडिता और अभिसारिका से ही परिचित हैं, शेष भेद बाद के विकसित हैं। वात्स्यायन ने अविवाहित कन्या को नायिका भेद में सर्वोपरि स्थान दिया है, किन्तु भरत ने इसकी उपेक्षा कर दी है, इसका कारण भी परवर्ती युग में बाल-विवाह का प्रचलन हो जाना था। जहाँ पूर्व युग के स्मृतिकारों में मनु जैसे भी उपयुक्त वर के न मिलने पर कन्या को दीर्घकाल अविवाहित रखने की आज्ञा देते हैं वहाँ याज्ञवल्क्य, नारद आदि परवर्ती स्मृतिकार हर स्थिति में कन्या का विवाह ऋतु-काल से पूर्व ही कर देने का आदेश देते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर निःसङ्कोच रूप से कहा जा सकता है कि 'काम-सूत्र' 'नाटच-शास्त्र' से पूर्व रचित है तथा नायिका भेद परम्परा का मूल स्रोत काम-शास्त्रीय ग्रन्थ हैं जिनसे भरतमुनि ने भी लाभ उठाया।

नायिका भेद सम्बन्धी सामग्री के मूल आधार—हिन्दी के कवियों ने नायिका-भेद के विवेचन एवं वर्णन में मुख्यतः इन ग्रन्थों से सहायता ली है :—

१—संस्कृत के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों से जिनमें नाटच शास्त्र (भरत मुनि), दश रूपक (धनंजय), साहित्य दर्पण (विश्वनाथ), रस मंजरी (भानुदत्त) आदि मुख्य हैं।

२—काम शास्त्रीय ग्रन्थ जिनमें 'काम-सूत्र' प्रमुख है।

३—संस्कृत की काव्य रचनाएँ—गीत गोविन्द, 'अमरु शतक' आदि।

हिन्दी के रीतिबद्ध शृङ्गारी कवि उपर्युक्त ग्रन्थों के कितने ऋणी हैं इसकी सम्यक परीक्षा करने के लिये आधार-भूत ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन करना उचित होगा।

(क) संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ—हिन्दी कवियों के नायिका भेदों में से कर्मानुसार, दशानुसार, अवस्थानुसार, गुणानुसार और वय क्रमानुसार किया गया वर्गीकरण 'साहित्य-दर्पण और 'रस-मंजरी' में मिल जाता है।

इन वर्गों के अवान्तर भेद भी इन ग्रन्थों में मिल जाते हैं, यथा देव ने वय-क्रमानुसार जो १३ भेद किये हैं वे साहित्य दर्पण में इस प्रकार मिलते हैं :—

साहित्य दर्पण	देव	नायिका की अवस्था
१—प्रथमावतीर्णा	१—वयः सन्धि	१२ वर्ष
२—यौवना		
३—मदन विकारा	२—नवल-बधू	१३ वर्ष
४—रति वामा	३—नवयौवना	१४ वर्ष
५—मान मृदु	४—नवल अनङ्गा	१५ वर्ष
६—समधिक लज्जावती	५—सलज्ज रति	१६ वर्ष
७—विचित्र सुरता		
८—प्ररूढ़ स्मरा	६—रूढ़ यौवना	१७ वर्ष
९—ईषत् प्रगल्भवचना	७—प्रगट मनोजा	१८ वर्ष
१०—मध्यम व्रीड़िता	८—प्रगल्भवचना	१९ वर्ष
११—स्मरान्धा	९—विचित्र सुरता	२० वर्ष
१२—गाढ़ तारुण्या	१०—लब्धा-पति	२१ वर्ष
१३—समस्त-रत-कोविदा	११—रति-कोविदा	२२ वर्ष
१४—भावोन्नता	१२—आक्रान्ता	२३ वर्ष
१५—दर-व्रीड़ा		
१६—रति-क्रान्ता	१३—सविभ्रमा	२४ वर्ष

यद्यपि देव ने १६ की संख्या को घटा कर १३ कर दी तथा नामों में भी परिवर्त्तन कर दिया फिर भी 'साहित्य-दर्पण' का प्रभाव पूरी तरह छिप नहीं सका है। दोनों के कई भेदों में—यौवना और नवयौवना, समधिक-लज्जावती और सलज्ज-रति, ईषत् प्रगल्भवचना और प्रगल्भवचना, रत कोविदा और रति कोविदा, रति-आक्रान्ता और आक्रान्ता आदि में—नाम-करण का इतना अधिक साम्य है कि वह देव की मौलिकता को धूमिल कर देता है। देव की एक नवीनता अवश्य है कि जहाँ 'साहित्य-दर्पणकार' ने इन दशाओं का निर्णय नायिका के स्थूल विकास के आधार पर किया है वहाँ देव ने इन्हें उसकी वय के साथ दृढ़ता से बाँध दिया जो कि स्वाभाविक नहीं !

क्या यह आवश्यक है कि प्रत्येक नायिका १८ वर्ष की अवस्था में प्रगल्भ-वचना या २२ वर्ष की अवस्था में रति-कोविदा हो जायेगी ? अस्तु, देव की यह मौलिकता भी नायिका भेद को विकृत करने वाली ही सिद्ध होती है।

वस्तुतः हिन्दी कवियों ने संस्कृत आचार्यों की नायिका भेद सम्बन्धी समस्त सामग्री ज्यों की त्यों ग्रहण कर ली है। उसमें उन्होंने या तो कोई परिवर्त्तन किया ही नहीं और यदि कोई किया भी तो वह महत्वपूर्ण नहीं है। संस्कृत आचार्यों एवं हिन्दी कवियों के प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण में भी पर्याप्त साम्य है। दोनों के ही वर्गीकरण में कामुकता एवं नायिका की बाह्य परिस्थितियों का प्राधान्य है, अविवाहित नायिका एवं सामान्या की उपेक्षा भी दोनों ने सामान्य रूप से की है। यदि इसमें कोई भेद है तो यही कि संस्कृत लेखकों का मुख्य उद्देश्य आचार्यत्व होने के कारण उन्होंने दूसरे कवियों के उदाहरण उद्धृत किये हैं जबकि हिन्दी कवियों का लक्ष्य काव्य-रचना होने के कारण उदाहरणों की रचना उन्होंने स्वयं की है।

(ख) काम सूत्र से तुलना—हिन्दी कवियों का जाति अनुसार, देशानुसार और व्यवसायानुसार किया गया वर्गीकरण संस्कृत आचार्यों की रचनाओं में नहीं मिलता। इन वर्गीकरणों के मूलाधार काम शास्त्रीय ग्रन्थ हैं। जाति अनुसार पद्मिनी, हस्तिनी, चित्रिणी आदि वाला वर्गीकरण 'काम-सूत्र' में तो नहीं मिलता किन्तु परवर्ती कामशास्त्रीय ग्रन्थों 'रति-रहस्य' (कोक-शास्त्र) आदि में प्रचलित है। 'काम-सूत्र' के द्वितीय अधिकरण के पाँचवें अध्याय में 'देश्या-उपचारा' प्रसङ्ग के अन्तर्गत मध्य देश वाल्हीक, आवन्तिक, मालव्य, सिन्धु लाटदेश, कौशल आदि प्रदेशों की स्त्रियों की विशेषताओं का अलग-अलग वर्णन किया है, अतः हिन्दी कवियों के देशानुसार वर्गीकरण का मूलाधार यही कहा जा सकता है। व्यवसाय के आधार पर नायिकाओं का वर्गीकरण 'काम-सूत्र' में नहीं मिलता किन्तु विभिन्न वर्ण, जाति एवं व्यवसाय वाली दूतिकाओं का वर्णन उसमें है, अतः इस प्रकार के वर्गीकरण की प्रेरणा भी सम्भवतः हिन्दी कवियों को यहीं से मिली होगी। रसलीन ने ऊढ़ा, परकीया के दो भेद असाध्या एवं सुखसाध्या किये हैं जो संस्कृत काव्य ग्रन्थों में नहीं मिलते। 'काम-सूत्र' के पांचवें अधिकरण के पहले

अध्याय में परकीयाओं के दो भेद दुर्लभ और अयत्न-साध्या करते हुए प्रत्येक के २५-२५ उपभेद किये गये हैं जिनमें रसलीन के सारे भेद मिल जाते हैं।

यद्यपि 'काम-सूत्र' से हिन्दी कवियों ने बहुत कुछ सहायता ली है किन्तु फिर भी दोनों में पर्याप्त वैषम्य है। जहां काम-सूत्रकार ने अविवाहित नायिका का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन किया है, हिन्दी कवियों ने उसकी उपेक्षा कर दी है। काम-सूत्रकार का शृङ्गार सम्बन्धी दृष्टिकोण भी हिन्दी कवियों की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है। साधारणतः लोग 'काम-सूत्र' का उद्देश्य स्थूल मिलन की शिक्षा देना मात्र समझते हैं किन्तु वात्स्यायन का लक्ष्य सूक्ष्म हार्दिक मिलन का रहस्य समझाना ही है, वहां यदि शारीरिकता है भी तो वह मानसिकता की पूर्त्ति के लिए है। एक ओर उसने विवाह का आधार प्रेम को बताया है तो दूसरी ओर वेश्याओं तक का वर्गीकरण प्रेम भावना के आधार पर किया गया है, जैसे 'एक निष्ठ प्रेम' वाली, बहुतों से प्रेम करने वाली और किसी से भी प्रेम न रखने वाली। इसके अतिरिक्त वात्स्यायन ने प्रेम के भी सात भेद—रागवद, आहार्य राग, कृत्रिम प्रेम, व्यवहित, पोटारत, खलरत और नियंत्रित—किये हैं जिनके आधार पर हिन्दी कवि नायिका भेद निरूपण कर सकते थे; पर ऐसा लगता है, काम सूत्र से भी इन कवियों ने कामुकता को ही ग्रहण किया, उसके प्रेम सम्बन्धी पक्ष की ओर इनका ध्यान नहीं गया।

वात्स्यायन के दृष्टिकोण से हिन्दी कवियों का एक मौलिक भेद यह भी है कि जहां 'काम-सूत्र' में नायिका की शारीरिक एवं मानसिक तुष्टि को सर्वोपरि लक्ष्य माना गया है, वहां हिन्दी कवियों के लिए वह उपभोग्य मात्र रह गई है। वात्स्यायन वेश्याओं और कुलटाओं तक के साथ शिष्ट एवं सम्मानपूर्ण व्यवहार की शिक्षा देते हैं। कभी प्रेमिकाओं को विप्रलब्धा भी बनना पड़ेगा, इसकी तो काम-सूत्रकार संभवतः कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

वस्तुतः 'काम-सूत्र' में मौर्य युग की उस संस्कृति और सभ्यता का प्रतिबिम्ब है जिसमें भारतीय नारी का ऐसा पतन नहीं हुआ था कि वह पुरुष की भोग सामग्री मात्र रह जाय। हिन्दी कवि यदि अपने युग के प्रभाव से ऊँचे उठकर काम-सूत्र से ही प्रेम तत्व ग्रहण करना चाहते तो कर सकते थे, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया।

(ग) **जयदेव और हिन्दी कवि**—अब तक जिस प्रभाव की चर्चा की गई है वह हिन्दी कवियों के नायिका-भेद के सैद्धान्तिक पक्ष से ही सम्बन्धित है, उसके व्यवहारिक पक्ष या काव्यमय उदाहरणों से नहीं। इस दूसरे पक्ष पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में जयदेव का बहुत अधिक प्रभाव है। जयदेव की ये प्रवृत्तियां हिन्दी नायिका-भेद में मिलती हैं—

१—धार्मिकता के वातावरण में रसिकता की तुष्टि।
२—राधा कृष्ण को नायिका और नायक के रूप में उपस्थित करना।
३—शास्त्रीय लक्षणों का उल्लेख करना।
४—काम शास्त्र और काव्य-शास्त्र के नियमों का पालन।
५—मुक्तक-शैली।

गीत गोविन्द से हिन्दी कवियों का थोड़ा वैषम्य भी है। गीत गोविन्द में नायिका भेद का निरूपण एक ऐसे क्रम से किया गया है जिससे सारा काव्य कथावस्तु के सूक्ष्म तन्तु में आबद्ध रहता है। दूसरे जयदेव ने गीत शैली को अपनाया जबकि रीतिबद्ध कवियों ने कवित्त और सवैयों में काव्य रचना की। स्थूल शारीरिकता एवं अश्लीलता की दृष्टि से हिन्दी कवि जयदेव की अपेक्षा अधिक संयत हैं।

(घ) **अमरुक शतक और हिन्दी कवि**—नायिका-भेद के उदाहरणों की रचना में हिन्दी कवियों ने अमरुक शतक से भी पर्याप्त सहायता ली है। अमरुक-शतक के एक श्लोक (४६) का अर्थ है—"तन्वी के समक्ष किसी अन्य स्त्री का नाम मुँह से निकल जाने पर मैंने चकित होकर अपना मुंह नीचा कर लिया, तथा लज्जावश धरती पर कुछ लिखने लग गया। पर हाय रे दुर्भाग्य! धरती पर भी उन रेखाओं से उसी तरुणी का चित्र बन गया जिसका मैंने नाम लिया था।" इस प्रसंग को लेकर मतिराम ने लिखा है :—

दोऊ आनंद सां आंगन मांझ बिराजे, असाढ की सांझ सुहाई।
प्यारी की पूंछत आन तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई॥
आयो उन्हें मुंह सो कोह तिया सुरचापसी भौंह चढ़ाई।
आंखिन तें गिरे बूंद से आंसू, हुलास गयो उड़ि हंस की नाई॥

मतिराम ने उपर्युक्त छन्द में मूल श्लोक की अन्तिम दो पंक्तियों को बदल कर उसे अधिक स्वाभाविकता एवं सरसता से समन्वित कर दिया है।

पद्माकर ने भी कई छन्दों की रचना अमरुक-शतक के आधार पर की है। उनका निम्नलिखित छन्द तो शतक के ५३वें छन्द का बिल्कुल अनुवाद सा ही है।

ए बलि कहां किन ? का कहत कंत ? अरी रोस तज,
रोष के कियो में का अचाहे को ?
कहै पद्माकर यहै तो दुःख दूरि करो,
दोस न कछू है तुम्हें नेह निरबाहे को ?
तो पै इत रोवति कहा हो ? कहो कौन आगे ?
मेरे ईजु आगे किये आसुन उभारे को ?
को हों में तिहारी ? तू तो मेरी प्रान प्यारी,
अजू होती जो पियारी तब रोती कहो काहे को ?

इसके अतिरिक्त भी केशव, मतिराम, पद्माकर, दास, बिहारी आदि कवियों की रचनाओं में अनेक ऐसे छन्द मिलते हैं जो 'अमरु शतक' के आधार पर रचित हैं। 'अमरु शतक' के सम्पादक श्री ऋषीश्वरनाथ भट्ट ने ऐसे बीसों छन्द 'अमरु शतक' के श्लोकों की टीका के साथ-साथ उद्धृत किये हैं (देखिये बम्बई संस्करण)। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस युग के कवियों पर अमरु शतक का पर्याप्त प्रभाव पड़ा होगा। प्रेम सम्बन्धी दृष्टिकोण में अति रसिकता का समावेश है। दूसरे, संस्कृत साहित्य में अमरुक संभवतः पहला कवि है जिसने शृङ्गार सम्बन्धी दृश्यों की आयोजना के लिए देवी-देवताओं, राजाओं तथा विदूषकों को भूलकर सामान्य जीवन में होने वाली रात-दिन की घटनाओं से सामग्री ढूंढी। यद्यपि अमरुक अपने काव्य में एक व्यभिचारी नायक के रूप में उपस्थित होता है तथा सदैव ही अपनी पत्नी से छल-कपट करता है किन्तु फिर भी वह अपने कृत्यों को पाठक के सम्मुख निःसंकोच रूप में खोल कर रख देता है। हिन्दी कवियों के शृङ्गार का नायक अमरुक की ही कोटि का है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन कवियों को गार्हस्थ्य जीवन के दृश्यों से ही काव्य सामग्री ढूंढने की प्रेरणा बहुत कुछ

अमरुक से ही मिली होगी। हाँ, इतना अवश्य है कि इनमें अमरुक का सा साहस न होने के कारण वे अपनी अनुभूतियों को भी किसी अन्य नायक से सम्बन्धित बता कर चित्रित करते हैं। वस्तुतः हिन्दी के रीतिबद्ध कवियों के शृङ्गार-वर्णन में जयदेव और अमरुक की विशेषताओं का अद्‌भुत सम्मिश्रण मिलता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीति-बद्ध कवियों ने अपनी काव्य सामग्री जुटाने के लिए संस्कृत के 'काम-शास्त्रों', 'काव्य-शास्त्रों' और 'काव्य-ग्रंथों' से बहुत कुछ ऋण लिया, किन्तु फिर भी यह न समझना चाहिए कि हिन्दी कवियों ने जो कुछ लिखा है वह संस्कृत साहित्य का ही पिष्टपेषण मात्र है। यह ठीक है कि ईंट, चूना, गारा, लकड़ी आदि सब कुछ हिन्दी कवियों ने संस्कृत से उधार लिया है, किन्तु उसमें अपनी कलाकारिता का योग देकर जैसा काव्य-भवन इन्होंने तैयार किया वह अपूर्व है। यह तथ्य इस बात का भी द्योतक है कि रीतिबद्ध कवि काव्य रचना करने से पूर्व प्राचीन काव्य का व्यापक अध्ययन करते थे। यह बात उनके महत्व को बढ़ाने वाली सिद्ध होती है। संस्कृत के प्रबन्ध, नाटक, गद्य मुक्तक आदि अनेक प्रकार के काव्य रूप सुप्राप्य थे किन्तु इन कवियों ने केवल एक मुक्तक को ही चुना। संस्कृत में आचार्यत्व और काव्य रचना के क्षेत्र भिन्न-भिन्न थे, पर इन्होंने दोनों को मिला कर एक कर दिया। अमरुक की रसिकता को हिन्दी कवियों ने आत्मसात् कर लिया पर फिर भी उन्होंने अमरुक की भाँति धार्मिकता, एवं देवी-देवताओं का स्पष्ट विरोध नहीं किया, प्रत्युत राधा-कृष्ण की भक्ति के आवरण को स्वीकार किया। जयदेव की सब विशेषताओं को ग्रहण करते हुए भी उनकी मधुर गीति शैली को इन्होंने ठुकरा दिया। ये तथ्य इस बात के प्रमाण हैं कि हिन्दी कवियों ने जो कुछ भी लिखा वह संस्कृत के काव्य का अन्धानुकरण मात्र नहीं है। उसमें उनकी रुचि, प्रतिभा और अनुभूति तथा उनके युग की प्रवृत्तियों का पूरा योग है।

१२. क्या बिहारी प्रसिद्ध कवि केशव के पुत्र थे ?

क्या बिहारी प्रसिद्ध कवि केशवदास मिश्र (रामचन्द्रिका के रचयिता) के पुत्र थे—यह प्रश्न भी हिन्दी साहित्य के पाठकों के सामने जिज्ञासा का विषय बना हुआ है। सर्वप्रथम राधाकृष्णदास जी ने बिहारी के एक दोहे[१] के आधार पर यह अनुमान किया था कि बिहारी के पिता प्रसिद्ध कवि केशव ही थे। पर वे अपने मत की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दे सके। फलतः उन्होंने स्वयं स्वीकार किया कि यह अनुमान मात्र ही है।[२] इसके अनन्तर कुछ अन्य विद्वानों ने भी इस विषय पर विचार किया किन्तु वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने इस सम्बन्ध में पर्याप्त परिश्रम किया, जहाँ इसके पक्ष में उन्हें कुछ नई सामग्री मिली, वहाँ विपक्ष में भी कुछ नये तथ्य प्राप्त हुए, अतः उन्होंने दोनों का पिता-पुत्र के स्थान पर गुरु-शिष्य सम्बन्ध स्थापित किया।[३] श्री विश्वनाथप्रसाद ने यह सिद्ध किया कि बिहारी के पिता कोई अन्य केशव-केशवराय थे,[४] पर जब साहित्य प्रेमियों को इससे सन्तोष नहीं हुआ तो उन्होंने इसे औत्सुक्यमात्र बताया।[५] वस्तुतः इस विषय पर पुष्ट प्रमाणों एवं तथ्यों पर आधारित कोई ऐसा असंदिग्ध मत

---

१. प्रगट भये द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव केसवराइ॥
—बिहारी रत्नाकर—१०१

२. "अस्तु मेरे अनुमान में बिहारीलाल ओरछा निवासी भाषा कवि केशवदास के पुत्र थे। (पर) यह सब अनुमान ही अनुमान पर लिखा गया है।"
—राधाकृष्णदास, कविवर बिहारीलाल पृ० सं० १२

३. कविवर बिहारी—'बिहारी की जीवनी' शीर्षक अध्याय।

४. बिहारी की वाग्विभूति—ले० श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

५. "बिहारी" भूमिका—ले० श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

प्रकाशित नहीं हुआ कि जिससे बिहारी के पाठकों का औत्सुक्य शान्त हो जाता। अस्तु, इस प्रश्न पर पुनर्विचार की गहरी आवश्यकता है।

पक्ष का समर्थन करने वाले प्रमाण

बिहारी को प्रसिद्ध कवि केशव का पुत्र मानने के पक्ष में निम्नलिखित प्रमाण मिलते हैं :—

१—बिहारी-सतसई में एक दोहा मिलता है जो श्लेषार्थक है।[१] इसके पहले अर्थ में चन्द्रवंशी, ब्रजवासी कृष्ण से क्लेश हरने की प्रार्थना की गई है जबकि दूसरे अर्थ में द्विज जाति के ब्रजवासी केशवराय से। सतसई के प्राचीनतम टीकाकारों ने इस दोहे का अर्थ करते हुए बताया है कि दूसरे केशवराय कवि के पिता थे।[२] प्रसिद्ध कवि केशव भी द्विज जाति के थे, तथा उन्होंने अपने आपको उत्तम कोटि का विप्र माना है।[३] अपने जीवन के अंतिम दिनों में केशवदास बुन्देलखण्ड छोड़कर अपनी इच्छा से किसी तीर्थ स्थान पर आ गये थे, इसका भी प्रमाण मिलता है।[४] अतः 'सुबस बसै ब्रज आय' की बात भी केशव पर लागू होती है।

---

१. प्रगट भये द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरौ कलेस सब, केसव-केसव राइ॥

—बि० र० १०१

२. प्रथम टीकाकार कृष्ण कवि ने अपनी टीका (१७१९ वि०) में लिखा है:—
"कैसो जौ मेरौ पिता और केसवराय जौ श्री कृष्ण जू"।

अनवर चन्द्रिका में लिखा है :—"केशवराइ बिहारी के बाप कौ नाम है।"

—कविवर बिहारी पृ० सं० ३१५

३. कवि प्रिया में आत्म परिचय—"उत्तम विप्र विचारि"।

४. विज्ञान गीता की अन्तिम पंक्तियाँ—

"वृति दई पदवी दई, दूरि करौ दुखत्रास।
जाइ करौ सकलत्र श्री गङ्गातट बसबास"॥

२—बिहारी के सम्बन्ध में एक दूसरा दोहा[१] और प्रसिद्ध है जिसमें उनका जन्म ग्वालियर में होने का तथा बचपन और युवाकाल क्रमशः बुन्देलखण्ड और मथुरा में बीतने का उल्लेख किया गया है। यह दोहा भी केशवदास के जीवन की परिस्थितियों के अनुकूल पड़ता है। केशवदास ने कविप्रिया के आरम्भ में अपने वंशादि का परिचय दिया है। उससे पता चलता है कि केशव के प्रपितामह के भी प्रपितामह श्री त्रिविक्रम मिश्र को ग्वालियर के तत्कालीन नरेश ने आश्रय दिया[२] था तथा तब से लेकर केशवदास के पिता काशीनाथ तक—केशव के सभी पूर्वज ग्वालियर राज्य के ही आश्रित रहे, यहाँ तक कि केशव के कुछ पूर्वजों ने तो यह प्रतिज्ञा कर रक्खी थी कि ग्वालियर नरेश (तोमरपति) को छोड़कर और किसी के आगे हाथ नहीं पसारेंगे।[३] ओरछा (बुन्देलखण्ड) से जहाँ कि केशव ने अपना अधिकांश जीवन बिताया, केशव का इतना पुराना सम्बन्ध नहीं था। केशवदास के पितामह एक बार गढ़ी (बुन्देलखण्ड) नरेश संग्रामशाह के दरबार में शास्त्रार्थ करने गये थे[४] तथा केशवदास के पिता कृष्णदास भी ओरछा नरेश मधुशाह को पुराण सुनाया करते थे।[५] आगे चलकर केशवदास को भी ओरछा नरेश का आश्रय प्राप्त हो गया। फिर भी केशव अपने पूर्वजों की सम्पत्ति सँभालने के लिये तथा

---

१. जनम गवालियर जानिये खण्ड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥
—हिन्दी-नवरत्न, द्वि० सं० पृ० २७५

२. भये त्रिविक्रम मिश्र तब तिनके पण्डित राय।
गोपाचल गढ़ दुर्गपति तिनके पूजे पाँय॥ —कविप्रिया; वंशावली ९

३. तिनके पुत्र प्रसिद्ध जग कीन्हे हरिहर नाथ।
तूँबरपति (तोमरपति) तजि और सों भूलि न ओड़ेउ हाथ॥—वही; १२

४. पुत्र भये हरिनाथ के कृष्णदत्त शुभ वेष।
सभा शाह संग्राम की जीती गढ़ी अशेष॥ —वही०; १३

५. बालहि ते मधुशाह नृप तिनसों सुन्यो पुरान।
तिनके सादर द्वै भये, केशवदास कल्यान॥ —वही०; १६

अन्य कौटुम्बिक उत्सवों के अवसर पर ग्वालियर आते जाते रहे होंगे। ऐसी स्थिति में बिहारी का जन्म ग्वालियर में होना तथा बाल्यकाल बुन्देलखण्ड में बीतना सम्भव है।

बिहारी को अपनी तरुणावस्था ससुराल में क्यों बितानी पड़ी इसका समाधान भी केशवदास की 'विज्ञान गीता' से हो जाता है। 'विज्ञान गीता' से पता चलता है कि केशवदास ने जब तीर्थवास का निश्चय किया तो उनकी सन्तान का कोई सँभालने वाला नहीं था।[1] इसके अनन्तर जब केशवदास की मृत्यु हो गई तो बिहारी ने अपने भाइयों से न पटने के कारण या किसी अन्य कारण से मथुरा ससुराल में ही यौवनावस्था के दिन बिताये होंगे।[2]

३—केशवदास का जीवन-काल संवत् १६१८ वि० से १६८० तक सिद्ध होता है।[3] जबकि बिहारी का जन्म संवत् १६५२ व मृत्यु-काल संवत् १७२० वि० के लगभग माना जाता है।[4] दोनों का जीवन-काल केशव और बिहारी के पिता-पुत्र सम्बन्ध के अनुकूल पड़ता है।

४—हिन्दी के प्रसिद्ध कवि कुलपति मिश्र के सम्बन्ध में परम्परानुसार यह दृढ़ धारणा पाई जाती है कि वे बिहारी के भानजे थे।[5] उन्होंने अपने

---

१. वृत दई पुरुषानि को, देउ बालकनि आसु।
मोंहि आपनौ जानि कै गङ्गा तट देउ बासु॥

२. घर जँवाई की अनुभूति बिहारी के इस दोहे से भी व्यक्त होती है :—
आवत जात न जानियतु तेजहिं तजि सियरानु।
घरह जँवाई लौं घट्यो खरौ पूस दिन मानु॥ —वि० र० १७१

३. 'केशव पंचरत्न' की भूमिका ला० भगवानदीन द्वारा लिखित।

४. जगन्नाथदास रत्नाकर—कविवर बिहारी।

५. (क) रामचन्द्र शुक्ल—'ये महाकवि बिहारी के भानजे प्रसिद्ध हैं'।
—हि० सा० इति० पृ० २५८

(ख) प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक ने भी कुलपति के वर्तमान वंशज श्री हीरालाल चतुर्वेदी, ३६८ ए बनीपार्क, जयपुर से इस विषय में विचार विमर्श किया था, उन्होंने इसका समर्थन किया है।

ग्रन्थ "संग्राम-सार" में कविवर केशवराय को अपना मातामह बताते हुए उनकी वन्दना की है।[१] प्रसिद्ध कवि केशव और कुलपति दोनों ही अपने नाम के आगे जाति सूचक शब्द मिश्र ही लिखते हैं[२] तथा उस युग में कोई ऐसा अन्य केशवराय कवि नहीं मिलता जो कि इतना प्रभावशाली हुआ हो कि उसके दौहित्र भी उसका स्मरण करें। इसके अतिरिक्त अपने 'जुवति-तरंगिनी' ग्रन्थ में भी कुलपति ने पूर्व कवियों की वन्दना करते हुए केशवराय के तुरन्त बाद बिहारी की वन्दना की है।[३] ये तथ्य इस बात के द्योतक हैं कि कुलपति के मातामह तथा बिहारी के पिता कवि केशव एक ही थे।

५—असनी के ठाकुर कवि ने अपनी सतसई की टीका (सं० १८६१ वि०) में लिखा है कि बिहारी की पत्नी सुशिक्षित थी तथा बिहारी को सतसई निर्माण में सहायता देती थी,[४] दूसरी ओर मिश्र-बन्धुविनोद में 'केशव पुत्र-वधू' नाम से एक कवयित्री का उल्लेख है जो बिहारी की समकालीन थी।[५] स्वयं केशवदास ने भी लिखा है कि मेरे घर के दास तक पढ़े-लिखे हैं।[६] अस्तु उस युग में जबकि स्त्री शिक्षा का बहुत कम प्रचार था, यह

---

१. कविवर मातामह सुमिरि कैसौ कैसौराइ ।
कहौं कथा भारथ की भाषा छन्द बनाइ ॥ —संग्राम सार

२. केशव का अपने पूर्वजों के विषय में कथन :
"तहाँ प्रकास सों निवासु मिश्र कृष्णदत्त कौ।" —विज्ञान गीता
कुलपति द्वारा आत्म-परिचय—
"माथुर वंश प्रसिद्ध मित्र-कुल, अभयराज भय ।
सब विद्या परवीन वेद अध्ययन तपोमय ॥"

३. जो भाषा जान्यौ चहत रसमय सरस सभाइ ।

थी।[५] स्वयं केशवदास ने भी लिखा है कि मेरे घर के दास तक पढ़े-लिखे

संभव है कि यह कवयित्री प्रसिद्ध कवि केशव की ही पुत्र-वधू तथा बिहारी की पत्नी हो।

६—बिहारी के एक दोहे से पता चलता है कि वे महात्मा नरहरिदास के शिष्य थे।[1] नरहरिदास की गद्दी ओरछे के निकट गुढाँ ग्राम में थी।[2] तथा प्रसिद्ध कवि केशव भी अपनी प्रौढ़ावस्था में ओरछा में रहते थे, अतः यह तथ्य भी बिहारी और केशव के सम्बन्ध का समर्थन करता है।

७—केशवदास के आश्रयदाता इन्द्रजीतसिंह के यहाँ प्रवीणराय नामक एक कला-मर्मज्ञ पातुर रहती थी।[3] केशवदास ने इसी को काव्य शिक्षा देने के लिए "कवि-प्रिया" की रचना की थी तथा इस ग्रन्थ के आरम्भ में उन्होंने प्रवीणराय के सौन्दर्य और सङ्गीत-नृत्य ज्ञान की प्रशंसा की है।[4] बिहारी ने भी अपनी सतसई में एक दोहे में प्रवीण नामक तिय के संगीत की[5] तथा दूसरे में पातुरराय के नृत्य की प्रशंसा की है।[6] यद्यपि दोहे के

---

१. जम करि मुंह तरहरि परयौ इहि धर हरि चित लाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं नरहरि के गुन गाउ॥ —बि० र० २१

इस दोहे की टीका में रत्नाकर जी ने लिखा है—"नरहरि—कवि के दीक्षागुरु नरहरिदास।"

२. बिहारी की वाग्विभूति।

३. कविप्रिया में आश्रयदाता का परिचय।

४. राय प्रवीण प्रवीण अति नवरङ्ग राइ सुवेश।
अति विचित्र नैना निपुण लोचन नलिन सुदेश॥
सोहत सारङ्ग राग की तानति तान तरङ्ग।
रङ्गराइ रङ्ग बलित गति रङ्ग मूरति अंग-अंग॥

५. पूस मास सुनि सखिनु पै साईं चलत सबारु।
गहि कर बीन प्रवीन तिय राग्यो रागु मलारु॥

—बि० र० दो० सं० १४६

६. सब अंग करि राखी सुबर नाइक नेह सिखाइ।
रसजुत लेति अनंत गति पुतरी पातुर राइ॥ —वही दोहा सं० २८४

संकुचित क्षेत्र एवं समास शैली के कारण प्रत्येक दोहे में प्रवीणराय पातुर पूरा नाम नहीं आ सका किन्तु दोनों दोहों के नामोल्लेख को मिलाने पर पूरा नाम बन जाता है। पहले दोहे में पति या प्रेमी के स्थान पर सांई (स्वामी) शब्द का प्रयोग भी उसके पातुर होने का सङ्केत करता है। केशव के समय में प्रवीणराय नववयस्का ही थी तथा शिक्षा प्राप्त कर रही थी जबकि बिहारी के समय वह कला-पारङ्गत प्रौढ़ा बन चुकी थी। यह केशव और बिहारी के वर्णनों से भी स्पष्ट हो जाता है। प्रवीणराय कोई बाजारू वेश्या नहीं थी, उसने इन्द्रजीतसिंह को अपना एक मात्र प्रेमी मान रखा था, तथा उसके सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्ध है कि उसने सम्राट अकबर के प्रेम को भी ठुकरा दिया था—अतः उस तक बिहारी की पहुँच उसी स्थिति में सम्भव है कि जबकि वे प्रसिद्ध कवि केशव जैसे प्रभावशाली पिता के पुत्र रहे हों।

८—बिहारी सतसई में कुछ ऐसे शब्द आये हैं जो बुन्देलखण्ड में ही प्रचलित हैं, अतः इससे भी उनका बुन्देलखण्ड से गहरा सम्बन्ध सिद्ध होता है।[1]

९—बिहारी ने दो दोहों[2] में मारवाड़ में जल के अभाव की निन्दा तथा यहाँ के लोगों के तरबूज-प्रेम का उपहास किया है जिससे पता चलता है कि वे यहाँ के रहने वाले नहीं थे, अन्यथा अपने प्रदेश की निन्दा नहीं करते।

१०—प्रसिद्ध कवि केशवदास मिश्र के वर्तमान वंशज श्री मथुराप्रसाद मिश्र[3] मथुरेश से मैंने पत्र-व्यवहार किया था उनसे केशवदास का पूरा वंश-

---

१. स्यौं, सबी, घैरु, दूंका देना, कोट, एँटघरी, चाला, गीधे आदि।

२. प्यासे दुपहर जेठ के फिरे, सबै जलु सोधि।
मरुधर पाइ मतीर ही, मारु कहत पयोधि॥
विषम वृषादित की तृषा जिये मतीरनु सोभि।
अमित अपार अगाध-जलु मारौ मूड़ पयोधि॥
—बि० र० दो० १६६-१६७

३. श्री मथुराप्रसाद मिश्र का पूरा पता है—जयहिन्द प्रेस बड़ा बाजार, झाँसी। फूटेरा नामक ग्राम जो कि केशवदास को जागीर में मिला था

वृक्ष प्राप्त हुआ है जिससे पता चलता है कि केशव के पाँच पुत्र थे जिनमें सबसे बड़े का नाम बिहारीदास है। इस वंश-वृक्ष में बिहारीदास के भी अब तक के वंशजों का नामोल्लेख किया गया है। कुलपति मिश्र ने भी अपने ग्रन्थ 'जुवति-तरङ्गिनी' में कवियों की नामावली में प्रसिद्ध कवि बिहारी का नाम बिहारीदास ही दिया है;[1] अतः केशव-पुत्र बिहारी को तथा सतसईकार बिहारीदास को एक ही व्यक्ति माना जाय तो कुछ अनुचित नहीं होगा।

विपक्षियों के तर्क

केशव-बिहारी के पिता-पुत्र सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने ये तर्क दिये हैं :—

१—"हमारे मत में बिहारी के पिता का नाम केशव अवश्य था, और वह ब्राह्मण भी थे, परन्तु प्रसिद्ध कवि केशवदास नहीं थे। यदि केशवदास ही होते तो यह बात जन-श्रुतियों में अवश्य प्रचलित होती।[2]

२—कुलपति मिश्र के वर्तमान वंशज माथुर चतुर्वेदी हैं, जबकि केशव सनाढ्य थे। सनाढ्यों में और माथुर चतुर्वेदियों में विवाह नहीं होता। अतः कुलपति मिश्र के मातामह तथा बिहारी के पिता कोई अन्य केशव होने चाहिए।[3]

३—बा० जगन्नाथदास रत्नाकर ने बून्दी निवासी बालकृष्ण और अमरकृष्ण जी का परिचय दिया है जो अपने आपको कवि बिहारी के वंशज बताते हैं। उनके कुल, गोत्र आदि प्रसिद्ध कवि केशव से नहीं मिलते।

४—"बिहारी की वाग्विभूति" के लेखक श्री विश्वनाथप्रसाद ने यह सिद्ध

आपके अधिकार में है। इनके द्वारा प्राप्त वंश-वृक्ष परिशिष्ट (ङ) में देखिये।

१. भाँति भाँति रचना सरस देव गिरा ज्यों व्यास।
तो भाषा सब कविनु में विमल बिहारीदास॥
—"जुवति-तरङ्गिनी" (कुलपति)

२. मिश्र-बन्धु; हिन्दी नवरत्न, द्वि० सं० पृ० २७५

३. बा० जगन्नाथदास रत्नाकर का मत देखिये—कविवर बिहारी।

करने का प्रयत्न किया है कि बिहारी के पिता 'केशव-केशव-राय' थे जो प्रसिद्ध कवि केशवदास से भिन्न थे।

अब इनमें हम सर्वप्रथम जनश्रुति की बात को लेते हैं। पहली बात तो यह है कि किसी तथ्य का जनश्रुति पर आधारित होना ही उसकी वास्तविकता को सिद्ध नहीं करता। दूसरे केशवदास बुन्देलखण्ड में रहे जबकि बिहारी ने अपने जीवन का अधिकांश भाग राजस्थान में बिताया, अतः जन-साधारण में दोनों के सम्बन्ध के विषय में अधिक प्रचार होने की सम्भावना नहीं थी। तीसरे, प्रसिद्धि की दृष्टि से बिहारी केशव से बहुत आगे बढ़ गये थे, अतः यह आवश्यक नहीं था कि बिहारी के परिचय के साथ केशव का भी परिचय दिया जाता। आज भी गाँवों में रहने वाले बहुत से लोग ऐसे मिल जायेंगे जो जवाहरलाल नेहरू को जानते हैं किन्तु उनके पिता मोतीलाल के नाम से अपरिचित हैं, ठीक यही स्थिति उस युग में बिहारी और केशव की थी। फिर भी उस युग के विद्वानों को इस तथ्य का ज्ञान अवश्य था इसका पता सतसई की टीकाओं से चलता है। सतसई के सबसे पहले टीकाकार कृष्ण कवि[1] ने "प्रगट भए द्विजराज कुल" दोहे की टीका करते समय स्पष्ट लिखा है कि केशव बिहारी के पिता का नाम है।[2] परवर्ती टीकाकारों ने भी उनका अनुसरण किया है।[3] अब तक हिन्दी में केशव नाम के एक ही कवि हुए थे, अतः उनके नाम के पहले 'बुन्देलखण्ड वाले' या और कोई विशेषण लगाने की टीकाकारों को आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई। उन्हें क्या पता था कि आगे की शताब्दियों में लोग बिहारी के पितृत्व को लेकर ही तर्क-वितर्क करेंगे।

अब विरोधियों के दूसरे तर्क को लीजिये। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक

---

१. इस टीका की समाप्ति रत्नाकर जी ने संवत् १७१९ में मानी है। बिहारी का मृत्यु-काल भी लगभग यही माना जाता है।

२. "कैसो जो मेरो पिता, और केसोराय जो श्रीकृष्ण जू।"

३. अनवर चंद्रिका (टीका) में लिखा है "केशव-केशवराइ बिहारी के बाप को नाम है।"

कुलपति के वर्तमान वंशज हीरालाल चतुर्वेदी[१] से मिला था। उनसे पता चला कि आजकल सनाढ्यों और चतुर्वेदियों में विवाह नहीं होता, किन्तु दो तीन शताब्दियों पूर्व ऐसी बात नहीं थी। इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि आजकल चतुर्वेदी, त्रिवेदी आदि विशेषण उपजाति सूचक माने जाते हैं किन्तु आरम्भ में ये विशेषण शिक्षा और योग्यता के सूचक (जैसे—चतुर्वेदी अर्थात् चार वेद जानने वाला) माने जाते थे[२] तथा उनका महत्व इतना नहीं था कि इनसे विवाह सम्बन्धों में भी रुकावट पड़े। स्वयं कुलपति मिश्र ने आत्म परिचय में अपने कुल और वंश के सम्बन्ध में तीन बातों का ही (१) माथुरवंश (२) मिश्रकुल (३) सब विद्या प्रवीन—उल्लेख किया है,[३] जिससे पता चलता है कि उस समय 'चतुर्वेदी' विशेषण को महत्व नहीं दिया जाता था।" दूसरी ओर, केशवदास ने भी अपने पूर्वजों को मूलतः मथुरा से सम्बन्धित बताते हुए[४] उन्हें माथुर सिद्ध किया है तथा अपने नाम के आगे मिश्र शब्द का प्रयोग किया है, साथ ही अपने कुल के वेदाध्ययन के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा है कि हमारे घर के दास भी संस्कृत बोलते है।[५] यहाँ केशव के कुल में वे तीनों विशेषतायें मिल जाती हैं जो कुलपति ने अपने वंश-जाति के विषय में बताई हैं, अतः ऐसी कोई बात नहीं दिखलाई देती जो दोनों परिवारों के बीच विवाह सम्बन्ध में अड़चन पैदा करे। इसके अतिरिक्त

---

१. आपका पूरा पता है—"३६८ ए' बनीपार्क, पारीक इण्टर कालेज के सामने, जयपुर (राजस्थान)।

२. "चतुर्वेदी" पत्रिका, भाग ४ अङ्क १० में श्री हरिप्रसाद मिश्र का चतुर्वेदियों के ६४ अल्ल शीर्षक लेख।

३. कुलपति ने आत्म परिचय इस प्रकार दिया है :—
माथुरवंस प्रसिद्ध, मिश्रकुल अभयराज भय।
सब विद्या परबीन, वेद अध्ययन तपोमय॥ —संग्राम सार

४. "मथुरा मण्डल में दिये तिन्हैं सातसै ग्राम।" —कवि प्रिया

५. भाषा बोलि न जानही जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो भेदमति तेहि कुल केशवदास॥—कवि प्रिया दूसरा प्रभाव

मध्यकालीन युग में जब कि हिन्दू नरेश तक अपनी कन्याओं का विवाह मुस्लिम शासकों से करने लगे थे, यदि केशवदास ने अपनी सुशिक्षित कन्या के लिए योग्य वर की प्राप्ति के लिए विवाह सम्बन्धी किसी छोटे-मोटे जातीय नियम का उल्लङ्घन भी कर दिया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

विरोधी पक्ष का तीसरा तर्क बिहारी के वंशज कहे जाने वाले बाल-कृष्ण जी से सम्बन्ध रखता है। बालकृष्ण जी ने अपने पूर्वजों का एक वंश-वृक्ष[1] दिया है जिसके आधार पर वे अपने आपको बिहारी का वंशज सिद्ध करना चाहते हैं, किन्तु कई ऐसे तथ्य हैं जो उनके कथन की प्रामाणिकता पर सन्देह उत्पन्न करते हैं —

१—यह वंश-वृक्ष बालकृष्ण जी को वंश-परम्परा से प्राप्त नहीं हुआ उन्होंने किसी तीर्थ-स्थान के पण्डे की बही से इसे २०वीं शताब्दी में तैयार किया है। फिर जब रत्नाकर जी ने उस पण्डे की खोज की तो पता चला कि उस पण्डे के परिवार के सभी स्वर्गवासी हो चुके हैं।[2]

२—यह वंश-वृक्ष सीधा बिहारीलाल से आरम्भ होता है, उनके पिता तक का नाम नहीं दिया गया है। ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जाय कि ये सतसईकार बिहारी ही हैं, कोई अन्य नहीं। यद्यपि बालकृष्ण जी ने उनके नाम के आगे 'जिन सप्तशतीकृत' और जोड़ दिया है, पर ऐसा वे किस आधार पर करते हैं इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

३—इस वंश-वृक्ष में बिहारी और बाल-कृष्ण जी के बीच केवल छह व्यक्तियों का ही नाम आया है। मध्यकालीन युग में जबकि बाल-विवाह का

---

१. प्रथम बिहारी लाल प्रकट जिन सप्तशती कृत
तनय निरंजन तासु भयौ विख्यात सुद्ध मत
तिनके गोकुल दास तनय तिहि खेम करनि मनि
दयाराम सुत तासु भयौ तिनके मानिक मनि।
भे गणेश तिनके तनय बालकृष्ण तिनके भयउ
गुन-निपुन चतुरता सदन सो कविता तिय नायक कहेउ।
—रत्नाकर, कविवर बिहारी पृ० ३३०

२. पूरा विवरण देखिये कविवर बिहारी ले० जगन्नाथदास रत्नाकर।

प्रचार था, साधारणतः एक व्यक्ति २०-२५ वर्ष की अवस्था में पिता बन जाता था, अतः बिहारी (जन्म लगभग १६५० वि० संवत्) और बालकृष्ण जी (जन्म लगभग १६५० वि० सं०) के बीच केवल छह पीढ़ियों का अन्तर होना विश्वास योग्य नहीं है। इस वंश-वृक्ष के आधार पर बालकृष्ण जी से सम्बन्ध रखने वाले बिहारी का आविर्भाव लगभग १८वीं शताब्दी के बीच में, सतसईकार बिहारी के १०० वर्ष बाद माना जा सकता है।

४—पहले बालकृष्ण जी ने वंश वृक्ष के आधार पर बिहारी के पुत्र का नाम निरंजन बताया। जब कहा गया कि बिहारी के निरंजन नाम का कोई पुत्र नहीं था तो उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया कि निरंजन बिहारी के अपने पुत्र नहीं थे, गोद लिये हुए थे। पर जब विद्वानों ने इसे भी स्वीकार करने में सङ्कोच किया तो बालकृष्ण जी के पुत्र अमरकृष्ण जी ने निरंजन का नाम ही वंशावली में से निकाल दिया।[1] अतः हम केवल इतना मान सकते हैं कि बालकृष्ण जी के पूर्वजों में भी कोई बिहारी नाम के व्यक्ति हुए थे पर वे सतसईकार बिहारी नहीं थे।

५—बालकृष्ण जी अपने समर्थन में सूर्यमल मिश्र रचित वंश-भास्कर का प्रमाण देते हैं जिसमें बालकृष्ण जी को सतसईकार बिहारी का वंशज बताया गया है। किन्तु स्वयं सूर्यमल मिश्र २०वीं शताब्दी के[2] बालकृष्ण जी के समसामयिक कवि थे; अतः उनके उल्लेख को प्रमाण बताना हास्यास्पद है।

---

१. अमरकृष्ण जी ने वंशावली का परिचय इस प्रकार दिया है—

प्रथम बिहारीलाल प्रकट जिन सप्तशती कृत।
प्रकट ज्ञान के धाम कहूँ लवलेस न दुरमत।
तिनके गोकुलदास तनय तिहिं खेमकरन गुनि।
दयाराम सुत जासु बहुरि तिनके मानक मनि।

—लोकनाथ द्विवेदी, बिहारी दर्शन पृ० ६ से उद्धृत

२. सूर्यमल मिश्र, जीवन-काल—सं० १८७२–१९२० वि०

—डिंगल में वीर रस—ले० श्री मोतीलाल मेनारिया; तृ० सं० पृ० ८८–८९

६—बूंदी नरेश भावसिंह के दरबारी कवि मतिराम के वंशजों में १८वीं शताब्दी ईस्वी में बिहारीलाल नाम के कवि हुए थे जिन्होंने विक्रम सतसई की टीका लिखी थी। बालकृष्ण जी तथा उनके वंशजों को भी बूंदी नरेश का आश्रय प्राप्त है; तथा उनका जीवन-काल भी इनके वंश पत्र से मेल खाता है, अतः बहुत कुछ सम्भव है कि जिस कवि को बालकृष्ण जी अपना पूर्वज बताते हैं, वह सतसईकार बिहारीदास नहीं, विक्रम सतसई की टीका—'रस-चन्द्रिका' के रचयिता बिहारीलाल हों। इन दूसरे बिहारीलाल का परिचय शिवसिंह सरोज[1] एवं मतिराम ग्रन्थावली[2] में दिया हुआ है।

डा० विश्वनाथप्रसाद ने केशव बिहारी के सम्बन्ध का विरोध करते हुए उक्त दोहे के आधार पर यह कल्पना की है कि बिहारी के पिता का नाम 'केशव-केशवराय' था न कि 'केशवराय।'[3] इस मत के विरोध में सब से पहली आपत्ति तो यह है कि उक्त दोहे में 'केशव-केशवराय' को एक ही व्यक्ति मान लेने पर उसका श्लिष्ट अर्थ जो कि केशव और केशवराय को अलग-अलग मानने पर व्यक्त होता है नष्ट हो जाता है। दूसरे प्राचीन टीकाकारों ने भी उसके पिता का नाम केशव माना है न कि केशव-केशवराय। तीसरे बिहारी के समकालीन युग में किसी केशव-केशवराय धारी नामक कवि के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता। साहित्य के इतिहास-लेखकों ने हजारों कवियों का परिचय दिया है किन्तु इस नाम के कवि का कहीं भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। विश्वनाथप्रसाद जी ने किसी पुरानी पुस्तक में से चार ऐसे छन्द ढूँढ़े हैं जिनमें रचयिता ने अपना नाम 'केशव-केशवराय' दिया है, पर वे छन्द भी सम्भवतः प्रसिद्ध कवि केशवदास मिश्र के ही हों, क्योंकि केशवदास भी कई बार अपना नाम केशव-केशवराय लिखा करते थे, जैसे 'रामचन्द्रिका' की इस पंक्ति में देखिए :—

---

१. शिवसिंह-सरोज; पृ० ४४४

२. मतिराम ग्रन्थावली—कृष्णबिहारी मिश्र; तृतीय संस्करण पृ०२२०–२२१ ।

३. बिहारी की वाग्विभूति—डा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र।

"केशव-केशवराय मनौ कमलासन के सिर ऊपरे सौहैं"[1]

केशव ने अपने ग्रन्थों में अपना नाम केशवदास, केशवराय[2] और केशव-केशवराय—तीनों प्रकार से लिखा है। अतः डा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'केशव-केशवराय' प्रसिद्ध कवि केशवदास का ही पर्यायवाची है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केशव और बिहारी के सम्बन्ध के विरोध में कही गई सभी युक्तियाँ निराधार, संदिग्ध एवं महत्वहीन हैं जबकि इसके पक्ष में मिलने वाले प्रमाण पर्याप्त सुदृढ़ एवं विश्वसनीय हैं। प्रसिद्ध कवि केशव का नाम, जाति, जन्मस्थान, निवास-स्थान, व्यवसाय, उनके कुल-गुरु का नाम, उनकी पुत्र-वधू का परिचय, उनकी शिष्या—पातुर राय का उल्लेख, उनके जीवन की घटनाएँ (जैसे ओरछा को छोड़ कर तीर्थवास कर लेना) उनका जीवन-काल और उनका वंश-वृक्ष आदि सभी तथ्य उन्हें बिहारी का पिता सिद्ध करते हैं। यदि इतने प्रमाणों के होते हुए भी हम शङ्का करें तो बिहारी और केशव का सम्बन्ध ही नहीं, प्राचीन युग के अनेक कवियों का अस्तित्व ही सन्दिग्ध हो जायगा, कदाचित् उनके अस्तित्व के पक्ष में इतने प्रमाण न मिलें जितने इस विषय में यहाँ दिये गये हैं।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, संस्करण पाँचवाँ पृष्ठ २२१ पर उद्धृत।

२. 'विज्ञान-गीता' में केशवदास ने अपना नाम केशवराय लिखा है—

तिनके केशवराय सुत भाषा कवि मतिमन्द।
करी ज्ञान गीता प्रगट श्री परमानन्द कन्द॥

१३. बिहारी रीतिबद्ध थे या रीतिमुक्त ?

सामान्यतः रीतिकाल के कवियों को दो वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है —एक वे जिन्होंने काव्य शास्त्र के नियमों को ध्यान में रखकर काव्य रचना की और दूसरे वे जिन्होंने सर्वथा स्वतन्त्र दृष्टिकोण से कविताएँ लिखीं। प्रथम वर्ग के कवियों को 'रीतिबद्ध' कहा जाता है, जबकि दूसरे वर्ग के कवि 'रीतिमुक्त' या स्वतन्त्र कहे जाते हैं। बिहारी ने स्पष्ट रूप से तो रीति के नियमों का प्रतिपादन नहीं किया किन्तु फिर भी वे रीति के नियमों से प्रभावित अवश्य दिखाई पड़ते हैं। आचार्य शुक्ल जी का मत था कि बिहारी ने अपने दोहों की रचना करते समय रीति के लक्षणों को ध्यान में रक्खा था। अतः उन्हें रीतिबद्ध मानना उचित होगा। दूसरी ओर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी इसका सशक्त विरोध करते हुए लिखते हैं कि सतसई में नायिकाओं के उदाहरण खोज लेना यह सिद्ध नहीं करता कि बिहारी कोई रीति-ग्रन्थ लिख रहे थे। यदि इसी प्रकार हम उदाहरण ढूँढने लगें, तो सूर, तुलसी, घनानन्द, बोधा, ठाकुर आदि सभी कवि रीतिबद्ध सिद्ध हो जायेंगे। डा० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस विवाद को शान्त करने के लिए एक युक्ति निकाली। उन्होंने इन कवियों को तीन वर्गों में विभक्त करते हुए एक तीसरी श्रेणी 'रीतिसिद्ध' कवियों की और निश्चित की है। उनका मत है कि बिहारी न रीति-बद्ध हैं और न रीतिमुक्त, अपितु वे रीतिसिद्ध हैं किन्तु मिश्र जी का यह मत विद्वानों को अभी तक स्वीकार नहीं हुआ। अतः हम यहाँ अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से इस समस्या पर विचार करना उचित समझते हैं।

रीतिबद्ध कवियों ने मुख्यतः चार विषय अपनाये हैं—१–नखशिख-वर्णन, २–नायिका भेद-निरूपण, ३–शृङ्गार रस के विभिन्न अङ्गों का वर्णन, ४–षड्ऋतु-वर्णन। बिहारी की सतसई में इन सभी विषयों का प्रतिपादन तो हुआ है किन्तु हमें देखना यह है कि बिहारी ने ऐसा जानबूझ कर किया है

या स्वतः ही स्वाभाविक रूप से इन विषयों का समावेश उनके काव्य में हो गया। सर्वप्रथम नखशिख-वर्णन को ही लीजिए। बिहारी ने प्रत्येक दोहे में अलग-अलग काव्य-शास्त्रियों द्वारा गिनाए हुए सब अङ्गों का वर्णन किया है। कोई भी अङ्ग अछूता नहीं रहा। यहां तक कि पैर के टखने या नायिका की चिबुक तक का वर्णन किया गया है। हम नहीं मानते कि पैर के टखने का वर्णन भी सौन्दर्य की स्वाभाविक प्रेरणा से किया जा सकता है। अपितु वह अङ्गों की सूची को पूरा करने के लिये ही किया गया है। इस प्रकार के दोहों में अनुभूति का भी अभाव है। इसी प्रकार नायिका भेद को भी लीजिये। प्रेम की सच्ची प्रेरणा से काव्य लिखने वाले कवि का आलम्बन एक ही होगा। उसका रूप, उसकी अवस्था, उसका स्वभाव और उसकी चारित्रिक प्रवृत्तियाँ सर्वत्र एक सी ही दृष्टिगोचर होंगी। किन्तु बिहारी के काव्य में तो नायिका के शत-शत रूप उपलब्ध होते हैं। कहीं वह पन्द्रह वर्ष की अज्ञात यौवना के रूप में उपस्थित हुई है तो कहीं वह पचास वर्ष की प्रौढा के रूप में। कहीं वह सरल हृदया है, तो कहीं वह कुटिलता की चरम सीमा पर पहुँच जाती है। कहीं वह स्वकीया है तो कहीं परकीया। आश्चर्य है कि बिहारी के इस संग्रहालय में ये सारे रूप बिना किसी प्रयास के उपस्थित हो गये। बिहारी के काव्य में नायिका के ये रूप ढूँढने नहीं पड़ते अपितु वे अनायास ही उपलब्ध हो जाते हैं। यही कारण है कि बिहारी की नायिका से एक बार परिचय प्राप्त कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। अपितु प्रत्येक दोहे में उसका नया परिचय प्राप्त करना पड़ता है। घनानन्द, बोधा और ठाकुर के काव्य में ऐसा नहीं होता। घनानन्द की सुजान और बोधा की सुभान सर्वत्र एक ही रूप और एक ही अवस्था में दिखाई देती है। अतः यह कहना कि इन स्वतन्त्र कवियों में भी ढूँढने पर नायिका-भेद के उदाहरण मिल सकते हैं, उचित नहीं।

बिहारी ने कई प्रसङ्गों की बार-बार आवृत्ति भी काव्यशास्त्र के लक्षणों की पूर्ति के निमित्त ही की है। इतना ही नहीं वे कई स्थानों पर पारिभाषिक शब्द का भी उल्लेख कर देते हैं। आचार्यों ने मान के तीन भेद किये हैं—दीर्घ मान, मध्य मान और लघु मान। बिहारी ने तीनों ढङ्ग से मान

का वर्णन किया है। कुछ पंक्तियाँ देखिये :—

मोहि लजावत निलजये, हुलसी मिलत सब गात ।
भानु उदै की ओस लौं, मानु न जान्यौ जात ॥

यहाँ लघुमान का वर्णन किया गया हे। अब दीर्घमान का भी एक उदाहरण उल्लेखनीय हैं :—

विधि विधि कौन टरै टरै नहीं परै हु पानु ।
चितै कितै तैं लै धरयो इतो इतै तन मानु ॥

यदि बिहारी के सामने लक्षण पूर्ति का उद्देश्य नहीं होता तो उन्हें दो प्रकार के मान का वर्णन करने को आवश्यकता नहीं पड़ती । पहले में मानवती नायिका अल्पवयस्का है, जो मान करने की कला में अनाड़ी है। जबकि दूसरे दोहे में किसी प्रौढा के दीर्घमान का चित्रण किया गया है। इतना ही नहीं कवि ने दोनों दोहों में "मान" शब्द का उल्लेख भी कर दिया।

उपर्युक्त विवेचना से सिद्ध है कि बिहारी के सामने लक्षण पूर्त्ति का लक्ष्य निश्चित रूप से रहा है। अतः डा० द्विवेदी जी से सहमत होना कठिन है। यहाँ एक प्रश्न और उपस्थित होता है कि ऐसी परिस्थिति में श्री मिश्र जी के 'रीति-सिद्ध' वाले मत को क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाय ! इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि 'रीतिसिद्ध' शब्द से ऐसा प्रतीत होता है मानो रीति का ज्ञान होने के कारण बिहारी के दोहों में रीति का प्रतिपादन स्वतः ही हो गया। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। बिहारी ने जानबूझ कर रीति का प्रतिपादन किया है। अतः उन्हें रीतिबद्ध घोषित करना एक नई भ्रान्ति को जन्म देना होगा। परन्तु हम बिहारी को रीतिबद्ध कह कर भी उनके साथ न्याय नहीं कर सकेंगे। उन्होंने अपने काव्य में लक्षणों की परिभाषा नहीं दी। अतः ऐसी स्थिति में उन्हें रीतिबद्ध (देव पद्माकर आदि) कवियों की पंक्ति में बिठा देना कहाँ तक उचित होगा ? अन्ततः कुछ तो विशिष्टता स्वीकार करनी ही होगी। हमारे विचार से उन्हें या उनके काव्य को "रीति-समन्वित" कहना उचित होगा। स्मरण रहे बिहारी ने सतसई के लगभग चार-पाँच सौ दोहों में ही रीति का समन्वय किया है। शेष दोहे ऐसे हैं, जिनका रीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक तो वे दोहे, जो

प्राचीन संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के कवियों की उक्तियों पर आधारित हैं, तथा दूसरे, भक्ति, नीति और वैराग्य सम्बन्धी दोहे रीतिमुक्त हैं। उनकी अनेक अन्योक्तियाँ और व्यंग्योक्तियाँ भी विभिन्न परिस्थितियों से प्रेरित हैं और उनमें रीति का प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। अतः कहना चाहिए, जिस प्रकार बिहारी ने अपने युग की अन्य प्रवृत्तियों जैसे भक्ति, नीति, आदि का समन्वय अपने काव्य में किया है, उसी प्रकार रीति का समन्वय भी उन्होंने जानबूझ कर लोकरुचि को तुष्ट करने के लिए किया है।

१४. हाव व अनुभाव-योजना में बिहारी की सफलता

इससे पूर्व कि हम बिहारी की हाव व अनुभाव-योजना पर विचार करें हमें हाव और अनुभावों का स्वरूप व अन्तर स्पष्ट कर लेना चाहिए। बिहारी की वाग्विभूति के लेखक श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने दोनों के अन्तर को स्पष्ट करते हुए बताया है कि हाव स्वाभाविक चेष्टाओं को कहते हैं जब कि अनुभाव भावों से प्रेरित होते हैं। वे यह सिद्ध करते हैं कि हावों में भाव की प्रेरणा नहीं होती किन्तु आगे चल कर वे हावों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिनके पीछे भावों की प्रेरणा स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। वस्तुतः श्री मिश्र ने हावों का यह स्पष्टीकरण भ्रामक रूप में किया है। उनकी यह मान्यता कि हाव के पीछे भाव की प्रेरणा नहीं होती निराधार है। साहित्य दर्पणकार ने हाव की परिभाषा करते हुए स्पष्ट रूप में लिखा है :—

भ्रूनेत्रादि विकारस्तु संभोगेच्छा प्रकाशकः।
भाव एवाल्प संलक्ष्यते विकारो हाव उच्यते॥

आचार्य विश्वनाथ ने स्पष्ट रूप से हावों के पीछे भाव की प्रेरणा स्वीकार की है। अन्य आचार्यों ने भी हावों की परिभाषा इसी प्रकार की दी है।

अनुभाव भी भाव की प्रेरणा से प्रस्फुटित होते हैं। ऐसी स्थिति में हाव और अनुभाव में क्या अन्तर माना जा सकता है? हमारे आचार्यों ने कदाचित् इसका अधिक स्पष्टीकरण नहीं किया है किन्तु हमारे विचार से दोनों में यह अन्तर है :—

१—अनुभावों के अन्तर्गत पुरुष और नारी दोनों की चेष्टाओं को ले सकते हैं किन्तु हाव में केवल नारियों की चेष्टाओं का ही परिगणन किया जाता है।

२—हमारी सभी प्रकार की अनुभूतियों से संबंधित चेष्टाओं को अनुभाव कहा जाता है किन्तु हाव नारी की केवल उन चेष्टाओं को ही कहते हैं जिनके पीछे काम या प्रेम की प्रेरणा हो।

हाव के आचार्यों ने कई भेद किए हैं, जिनकी संख्या बीस तक पहुँच जाती है, जैसे लीला, विलास, विच्छिति, विलोक, किलकिंचित, कुट्टमित आदि। बिहारी ने इन सभी प्रकार के हावों व अनुभावों का चित्रण स्वाभाविक एवं मार्मिक रूप में किया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

जदपि नाहि नाहिं नाहिं वदन लगि जक जाति ॥
तदपि भौंहे हाँसी भरिनु हांसी ये ठहराति ॥

जहाँ नायिका इच्छा होते हुए भी कृत्रिम क्रोध प्रदर्शित करे उसे आचार्यों ने कुट्टमित हाव कहा है। बिहारी के इस दोहे में कुट्टमित हाव का प्रतिपादन सफलता पूर्वक हुआ है। एक दूसरा उदाहरण किलकिंचित हाव का देखिए :—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ ।
सौंह करै भौंहनु हँसै, दैन कहैं नट जाइ ॥

इसी प्रकार विलास हाव का एक सुन्दर उदाहरण देखिए :—

भौंह ऊँचे आंचरू उलटि मौरि मौरि मुंह मोरि ।
नीठि नीठि भीतर गई दीठि दीठि सौं जोरि ॥

सम्भव है कि बिहारी ने इन हावों का निरूपण काव्य-शास्त्र की सहायता से किया हो किन्तु इनके पीछे उनकी व्यक्तिगत अनुभूति का माधुर्य भी परिलक्षित होता है। इसी प्रकार नायिका के अनुभावों का चित्रण करने में भी बिहारी अपनी कवित्व शक्ति एवं रसिक दृष्टि का परिचय देते हैं। यहाँ केवल कुछ दोहे ही उद्धृत किये जाते हैं :—

इत तें उत, उत तें इतै छिन न कहुं ठहराति ।
जक न परति चकरी भई, फिरि आवति फिरि जाति ॥
झटकि चढ़ति उतरति अटा, नेंक न थाकति देह ।
भई रहति नट की अटा, अटकी नागर नेह ॥

अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं। उपर्युक्त दोहों से ही बिहारी के हाव व अनुभाव विधान की कुशलता का परिचय मिल जाता है। इस प्रकार के दोहों की रचना में बिहारी अपने कला-चातुर्य, अलंकार-प्रियता और शब्द-क्रीड़ा को भूल गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इन उक्तियों की रचना में प्रवृत्त होते समय बिहारी सौन्दर्य-साधन में निमग्न हो गए थे। सतसई के अनेक जटिल शुष्क और ऊहात्मक दोहों के रेगिस्तान के बीच ये दोहे नखलिस्तान से प्रतीत होते हैं। आचार्य शुक्ल का यह कहना कि हावों और अनुभावों का जैसा सच्चा विधान बिहारी की कविता में दिखाई पड़ता है, ऐसा हिन्दी के किसी दूसरे कवि में नहीं मिलता, यह कथन बहुत कुछ ठीक है।

१५. क्या कविवर बिहारी फारसी काव्य से प्रभावित थे ?

हिन्दी का अधिकांश मध्यकालीन साहित्य राजाओं और जागीरदारों के आश्रय में लिखा गया था। उस समय के राजाओं व जागीरदारों पर मुगल सम्राटों का अत्यधिक प्रभाव था। प्रायः सभी मुगल सम्राटों ने भारतीय संस्कृति और साहित्य के स्थान पर इस्लामी संस्कृति और फारसी साहित्य को अधिक महत्व दिया जिसके फलस्वरूप उनसे संबंधित छोटे राजाओं का जागीरदारों तथा उनके आश्रय में रहने वाले कवियों पर भी इस्लामी संस्कृति और साहित्य का स्वभाव पड़ना स्वाभाविक था। अतः बिहारी पर भी फारसी प्रभाव की कल्पना विभिन्न विद्वानों द्वारा की गई है।

बिहारी सतसई का मुख्य विषय शृङ्गार है। फारसी साहित्य में भी प्रेम-वर्णन को प्रमुखता प्राप्त है। बिहारी के शृङ्गार-वर्णन में फारसी कवियों के प्रेम-वर्णन की निम्नांकित प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं।

(१) सौन्दर्य का संहारक रूप में वर्णन

भारतीय आचार्यों के अनुसार सौन्दर्य का वर्णन इस ढंग से होना चाहिए कि वह आश्रय को रसानुभूति प्रदान करे। किन्तु फारसी साहित्य में सौन्दर्य की मार-काट की चर्चा अधिक की जाती है। बिहारी भी अपने अनेक दोहों में ऐसा करते हैं। कहीं नायिका का सौन्दर्य द्रष्टा को हांसी रूपी फांसी में बांध कर उसकी ठोढ़ी के गड्ढे में डाल देता है।

कहीं कानन चारि नयन मृग रसिक लोगों का शिकार खेलते हुए दिखाई देते हैं। सौन्दर्य के क्षेत्र में इस प्रकार की मारकाट का वर्णन बिहारी ने अनेक स्थानों पर किया है।

(२) नायिका की कोमलता (नजाकत) का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन

बहुत हुआ है किन्तु उसकी नजाकत पर बहुत कम कवियों का ध्यान गया है किन्तु बिहारी में भी फारसी साहित्य की यह प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा में मिलती है। एक दोहे में गुलाब की पंखुडियों के स्पर्श से ही उनकी नायिका के शरीर पर खरोंच लगने की कल्पना की गई है। दूसरे दोहे में फूल की कलियों से उसके शरीर में छाले पड़ जाते हैं। इस अति कोमलता के कारण वस्त्र और आभूषणों को सम्भालने की तो बात ही क्या वह अपने सौन्दर्य का बोझ भी नहीं सम्भाल पाती, जिससे चलते समय उसके पैर टेढ़े पड़ने लगते हैं—

भूषण भारु संभारि है, क्यों इहि तन सुकुमार ।
सूधे पांय न धर परैं, सोभा ही कैं भार ॥

(३) विरह का ऊहात्मक रूप में वर्णन

फारसी काव्य की भांति बिहारी ने विरह का वर्णन भी बहुत चढ़ा बढ़ा कर किया है। कहीं विरह वेदना के कारण नायिका के हृदय में से आग की लपटें उठने लगती हैं, तो कहीं वह सूख कर इतनी दुबली हो जाती है कि मौत भी उसे ऐनक लगा कर ढूंढ पाती है। देखिये—

इत आवति चलि जाति उत चली छह सातक हाथ ।
चढ़ी हिंडोरै सी रहै लगी उसासनु साथ ॥

× × ×

सुनत पथिक मुंह माह निशि चलति लुयें उहिं गाम ।
बिनु बूझैं बिनु हीं कहैं जियति विचारी बाम ॥

(४) मद्यपान का वर्णन

फारसी साहित्य में प्रेम के क्षेत्र में मद्यपान का उल्लेख भी बार-बार किया जाता है। बिहारी के अनेक दोहों में भी मद्यपान की चर्चा हुई।

(५) प्रेम के क्षेत्र में लोक मर्यादा और परलोक की उपेक्षा

फारसी का कवि स्वर्ग का आनन्द लूटने की अपेक्षा प्रेम की आग में जलना अधिक पसन्द करता है। यह बात बिहारी में भी मिलती है —

जो न जुगति पिय मिलन की धूरि मुकुति मुँह दीन ।
जो लहियै संग सजन तौ घरक नरक हूँ की न ॥

इसी प्रकार वे "नीति नेह पुर नाहि," कह कर प्रेम के क्षेत्र में लोक नीति की अवहेलना को स्वीकार कर लेते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बिहारी-काव्य की उपर्युक्त प्रवृत्तियां फारसी साहित्य के प्रभाव की भ्रान्ति उत्पन्न करती हैं। क्या ये सब प्रवृत्तियां फारसी साहित्य की देन हैं ? क्या प्राचीन संस्कृत और प्राकृत साहित्य में ये प्रवृत्तियां नहीं मिलतीं ? कदाचित् जिन विद्वानों ने संस्कृत और प्राकृत साहित्य के ज्ञान को भुला दिया है, वे इन्हें फारसी साहित्य की देन कह सकते हैं अन्यथा वास्तविकता कुछ और ही है। भवभूति के 'मालती-माधव' में नायिका की चितवन के द्वारा नायक के हृदय को चुरा लेने, पी लेने, तोड़ देने, उखाड़ देने और फिर उसे अपने साथ ले जाने का वर्णन सविस्तार हुआ है। इसी प्रकार नायिका के कटाक्षों से घायल हो जाने की बात, भवभूति, श्री हर्ष, दण्डी आदि ने बार-बार कही है। भर्तृहरि ने अपने शतक में नायिका के इस सौन्दर्य रूपी ठग द्वारा रसिक के मन के लूटे जाने का वर्णन किया है। प्रेम के समक्ष लोक मर्यादाओं और स्वर्ग को तुच्छ बनाने की तो बात ही क्या अमरूक जैसे कवियों ने प्रणय मदिरा से विह्वल होकर ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक का तिरस्कार किया है। विरह की अतिशयोक्तिपूर्ण बात भी प्राचीन भारतीय साहित्य के पाठक के लिए कोई नई नहीं। बिहारी ने तो केवल शरीर सूख जाने का वर्णन किया है, जबकि बाण ने अपनी कादम्बरी में विरह के कारण नायक की मृत्यु तक दिखाई है। शिशुपाल व अन्य काव्यों में मद्यपान का वर्णन भी हुआ है। अतः इन प्रवृत्तियों को अभारतीय बताना उचित नहीं। हमारे पास इस बात के अनेक प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि बिहारी ने प्राचीन प्राकृत और संस्कृत का अनुशीलन किया था जब कि फारसी भाषा या फारसी साहित्य के उनके द्वारा अध्ययन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः अधिक सम्भव है कि बिहारी ने हमारे प्राचीन कवियों से ही प्रेरणा ग्रहण की हो। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो फारसी साहित्य से बिहारी के शृङ्गार वर्णन में अनेक महत्वपूर्ण भेद दृष्टिगत होंगे। फारसी का कवि नायक का विरह दिखाता है जबकि बिहारी ने नायिका के विरह का चित्रण किया है। दूसरे, फारसी-साहित्य में प्रिय की प्राप्ति के लिए नायक को

अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता है, जब कि बिहारी के नायक की सहायता के लिए दूतियाँ हर समय विद्यमान रहती हैं, जिनसे उसे कोई कष्ट नहीं करना पड़ता है। तीसरे, फारसी-साहित्य में प्रेम का क्षेत्र बहुत व्यापक है। वहां नायक वन, समुद्रों की खाक छानता फिरता है, जब कि बिहारी के नायक महोदय कभी-कभी ही घर की चहारदिवारी से बाहर निकलते हैं। चौथे, फारसी साहित्य में वियोग वर्णन को प्रमुखता मिलती है, जबकि बिहारी ने संयोग का वर्णन अधिक किया है। इन तथ्यों को देखते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि बिहारी फारसी साहित्य से प्रभावित थे। वस्तुतः आचार्य शुक्ल के युग में हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में यह प्रथा थी कि हिन्दी साहित्य की हर दूषित प्रवृत्ति को फारसी या अंग्रेजी का प्रभाव कह कर टाल दिया जाता था, संभवतः यही बात बिहारी के साथ हुई है।

---

१६. बिहारी बड़े या देव ?

बिहारी और देव की महत्ता को लेकर विद्वानों द्वारा बहुत कुछ लिखा जा चुका है तथा परस्पर विरोधी मतों का प्रतिपादन भी बार-बार हो चुका है। हमारा उद्देश्य यहां उक्त विवाद में न पड़ कर दोनों के शृङ्गार निरूपण की सामान्य विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन करना मात्र है।

अन्य रीतिबद्ध कवियों तथा बिहारी की भाँति देव के शृङ्गार सम्बन्धी दृष्टिकोण में रसिकता का ही प्राधान्य है। उनका प्रेम एकोन्मुखी नहीं है, किसी भी सुन्दरी को देख कर, चाहे वह शहर में रहने वाली हो या देहात में निवास करने वाली, उनका मन चंचल हो उठता है—

कौन गनै पुर, बन, नगर, कामिनी एकै रीत !
देखत हरै विवेक को, चित्त हरै करि प्रीत !!

देव परनारी से प्रेम का निषेध करते हैं, इसलिए नहीं कि यह मर्यादा विरुद्ध है अपितु इसलिए कि इसमें थोड़ी जोखिम उठानी पड़ती है—कभी शरीर की पूजा हो सकने की सम्भावना रहती है; कभी अँधेरे-उजाले घर से निकलना पड़ता है और कभी सर्दी-गरमी वर्षा सहन करनी पड़ती है।

नारी के नख-शिख का चित्रण देव ने भी विस्तार से किया है; जैसे—

चंचल चितौन चित चुभी चित चोर-चारी,
मोर वारी बेसरि, सुकेसरि की आड वह !
गोरे-गोरे गोलनि की, हँसि हँसि बोलन की
कोमल कपोलन की जी में गडी गाड वह !!

यहाँ शब्दालंकारों का प्रयोग प्रभूत मात्रा में मिलता है अतः अलंकारिकता की प्रवृत्ति देव में बिहारी से कम नहीं है किन्तु फिर भी दोनों में सूक्ष्म अन्तर है। एक तो बिहारी विभिन्न अङ्गों का निरूपण अलग-अलग दोहों में करते हैं जिससे उनका कोई समन्वित प्रभाव उत्पन्न नहीं होता जब कि देव ने यहाँ केसर की आड, सुन्दर बेसर, चितवन की चंचलता, अधरों की स्मिति एवं कपोलों की गाड का वर्णन एक साथ कर दिया है जो पर्याप्त प्रभावोत्पादक

सिद्ध होता है। दूसरे देव में अलङ्कारिकता अर्थ-ग्रहण में बाधक नहीं होती प्रत्युत् भाव के स्पष्टीकरण में वह सहायक होती है। तीसरे, बिहारी के नख-शिख वर्णन में उनकी धर्म, दर्शन, ज्योतिष, गणित एवं नीतिशास्त्र की विद्वता का शुष्क पुट होता है जबकि देव का चित्रण अनुभूति की तरलता से सराबोर है।

नायिकाओं की विभिन्न चेष्टाओं और मुद्राओं के अङ्कन में बिहारी ने अपनी ज्ञान की गठरी को भूलकर अनुभूतियों की विधि का उपयोग किया है; फलतः इस क्षेत्र में वे देव से अधिक सफल सिद्ध होते हैं; देखिये—

विहँसति सकुचति सी, दिऐं कुच आँचर बिच बाँह ।
भीजैं पट तट कौं चली, न्हाइ सरोवर माँहि ॥

—बिहारी

पीत अङ्ग सारी गोरे अङ्ग मिल गई 'देव'
श्रीफल उरोज आभा आभा सै अधिक सी ।
छूटी अलकनि, झलकनि जल बूंदनि की,
बिना बेंदी बदन, बदन शोभा विकसी ॥
तजि तजि कुंज पुंज ऊपर मधुप पुंज
गुंजरत मंजुबर, बौलै बाल पिकसी ।
नीबी उकसाय, नेक नैनन हँसाय हँसि
ससि मुखी सकुचि सरोवर से निकसी ॥

—देव

यहाँ दोनों कवियों ने सद्यःस्नाता की छवि का अङ्कन करनें का प्रयत्न किया है। बिहारी के चित्र का साइज छोटा है; रङ्ग सादा है, किन्तु फिर भी उसमें दृश्य की एक झाँकी पाठक के नेत्रों के समक्ष प्रस्तुत हो जाती है। देव सारा चित्र एक साथ पाठक को नहीं दिखाते, पीली साड़ी, श्रीफल-उरोज, अलकें, जल-बूंदें, बेंदी रहित ललाट, उसकी पिक सदृश्य वाणी, नीबी की उकसाहट, चितवन की मुस्कराहट एवं चेहरे का सङ्कोच—इन सबको क्रमशः प्रस्तुत करते हैं। पहले वे नायिका के मध्य भाग को लेते हैं, फिर उर्ध्व को और फिर अधोभाग को—यह क्रम भी पाठक की दृष्टि की स्थिरता में बाधक

सिद्ध होता है। दूसरे चित्रकार का कार्य रूपरेखाओं का अङ्कन है, ध्वनि-लेखन नहीं, किन्तु देव अपने मूल उद्देश्य को भूल कर उसकी पिक सदृश्य वाणी का भी लेखन करने लगते हैं। साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि नायिका तो इस समय अकेली थी, मौन थी, देव ने उसकी वाणी कहां से सुन ली। तीसरे, बिहारी ने नायिका का चित्र उसकी अबोधावस्था में खींचा है—उसे इसका पता नहीं लगने दिया कि कोई उसका चित्र उतार रहा है; जबकि लगता है देव की नायिका को चित्रकार की उपस्थिति का ज्ञान है अन्यथा उसे नीबी को उकसाने की, नैनों से नैंक हँसने की, संकुचित होकर सरोवर से निकलने की क्या आवश्यकता थी ? बिहारी ने संकोच एवं मुस्कराहट का उल्लेख किया है पर उसके आगे 'सी' लगाकर उसे सामान्य चेष्टा का रूप दे दिया है।

वस्तुतः देव ने एक नौसिखए कलाकार की भांति शक्ति, श्रम, स्याही और रंग का व्यय तो अधिक किया है किन्तु उनका चित्र ठीक नहीं बन सका। वे चित्रांकन के समय इधर-उधर देखने लग जाते हैं; उनकी लेखनी हिल जाती है; उनका आलम्बन भी स्थिर रूप में स्थित नहीं रह पाता—फलतः उनके चित्र में नायिका की केवल एक ही मुद्रा नहीं, अनेक मुद्राएँ घुल-मिल जाती हैं; जिससे वह बिगड़ जाता है। हां, सद्यःस्नाता की शारीरिक विशेषताओं की एक लम्बी सूची प्रस्तुत करने की दृष्टि से देव सफल हैं; चित्रकारिता के अभ्यास में वे बिहारी से बहुत पीछे हैं।

नायिका की भाव-प्रेरित चेष्टाओं—हावों के निरूपण में भी बिहारी देव से अधिक कुशल हैं—

इत तैं उत, उत तैं इतै छिनु न कहू ठहराति।
जक न परति, चकरी भई, फिरि आवति फिरि जाति॥—२०६
झटकि चढ़ति उतरति अटा, नैंक न थाकति देह।
भई रहति नट कौ बटा, अटकै नागर नेह॥—१९४

—बिहारी

खरी दुपहरी हरी-भरी, फरी कुंज मंजु
गुंज अलि पुंजन को 'देव' हियो हरि जात।
सीरे नद-नीर, तरु सीतल, गहीर छांह

सोवैं परे पथिक, पुकारैं पिकी करि जात ।।
ऐसे में किसोरी भोरी, कोरी कुम्हिलाने मुख
पंकज रे पांय धरा धीरज सों धरि जात ।।
सोहैं घनस्याम-मग हेरति हँथेरी ओट
ऊँचै धाम बाम चढ़ि आवति उतरि जात ।।

—देव

यहां बिहारी ने जो बात थोड़े से शब्दों में कही थी उसी का विस्तृत वर्णन देव ने किया है। बिहारी के चित्रण में लक्ष्य की एकाग्रता के कारण पाठक का सारा ध्यान एक ही बिन्दु पर केन्द्रित हो जाता है तथा उसमें स्थूल-वर्णन की अपेक्षा भावात्मकता की व्यंजना अधिक होने के कारण वह सीधा हृदय को प्रभावित करता है किन्तु देव में दृश्य की अति विस्तृतता, वर्णन की इतिवृत्तात्मकता एवं शैली की शिथिलता के कारण उसका प्रभाव मन्द पड़ जाता है। वस्तुतः चित्रण के क्षेत्र में बिहारी तीर की भांति लक्ष्य की ओर अग्रसर हो जाते हैं किन्तु देव दाएँ-बाएँ देखने का लोभ संवरण नहीं कर पाते; इसी से वे इधर-उधर भटक जाते हैं।

सौन्दर्याकर्षण एवं प्रणयानुभूतियों के चित्रण में बिहारी ने व्यंजना शक्ति का प्रयोग अधिक किया है जबकि देव में अभिधा की प्रधानता है। इससे देव में शब्दों की भरमार अधिक है; भावनाओं का प्रस्फुटन कम, जबकि बिहारी में शब्द कम और भाव-व्यंजना अधिक है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

फिरि-फिरि चितु उत हीं रहतु, टुटी लाज की नाव ।
अंग-अंग छबि झौंर में भयौ भौंर की नाव ।।—१०

—बिहारी

प्रेम पयोधि परौ गहिरे अभिमान को फेन न रह्यो गहि रे मन ।
कोप-तरंगन सों बहिरे पछिताय पुकारत क्यों बहि रे मन !
'देव' जू लाज-जहाज ते कूदि रह्यो मुख मूंदि, अजौं रहि रे मन ।
जोरत, तोरत, प्रीति तू ही, अब तेरी अनीति तुही सहि रे मन ।।

—देव

उपर्युक्त काव्यांशों में सौन्दर्य के आकर्षण, मन की विवशता एवं लोक-लज्जा की उपेक्षा के चित्रण के लिए दोनों ही कवियों ने समुद्र और नौका का रूपक प्रस्तुत किया है किन्तु जहां देव ने 'प्रेम-पयोधि', 'अभिमान-फेन', 'कोप-तरंगन' और 'लाज के जहाज' का उल्लेख करके सम्पूर्ण अंगों का वर्णन किया वहां बिहारी ने केवल 'भयौ भौंर की नाव' से ही उनकी व्यंजना की है। देव का वाच्यार्थ सरल एवं स्पष्ट है किन्तु बिहारी के व्यंग्यार्थ की सी प्रभावोत्पादिनी शक्ति उसमें नहीं मिलती।

शृङ्गार रस के विभिन्न अंगों—हाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि के चित्रण में जहां शास्त्रीय लक्षणों की पूर्ति का प्रयास किया गया है, दोनों ही कवियों का काव्यत्व किसी न किसी मात्रा में शिथिल हो गया है किन्तु फिर भी इस क्षेत्र में बिहारी देव से अधिक समर्थ एवं सफल प्रतीत होते हैं। देखिए—

तजी संक सकुचित न चित बोलत बाकु कु बाकु ।
दिन छिनदा छाकी रहति, छुटतु न छिनु छबि छाकु ॥ — २१८

— बिहारी

धुर ते मधुर, मधु-रस हु बिधुर करै
मधु-रस बेधि उर गुरु रस फूली है ।
ध्रुव-प्रह्लाद उर हुव अह्लाद, जासों
प्रभुता त्रिलोक हूँ की तिल सम तुली है ।
बदम से वेद-मतवारे मतवारे परे
मोहै मुनि-देव 'देव' सूली उर सूली है ।
प्यालो भरि देरी मेरी सुरति-कलारी तेरी
प्रेम-मदिरा सों मोहि मेरी सुधि भूली है ।

— देव

यहाँ आचार्यों द्वारा निरूपित 'मद'[1] संचारी भाव का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। बिहारी ने रूप-आसव-पान से विह्वल प्रेमिका की अनुभूतियों

१. मद—संचारी भाव का विवेचन—दशरूपक—धनंजय; पृ० १६६।

की व्यंजना की है जबकि देव ने प्रेम-मदिरा-पान से सम्बन्धित विभिन्न विषयों—प्याला, मधुबाला, बेसुधि आदि का वर्णन किया है, फिर भी जो स्वाभाविकता उपर्युक्त दोहे में है वह देव के छन्द में नहीं है। देव ने सुरति को मधुबाला का, प्रेम को मदिरा का रूप दे दिया है किन्तु प्याला किसका प्रतीक है—इसे उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। दूसरे, प्रेमी जबकि प्रेम-मदिरा से पहले ही बेसुध हो रहा है—तो फिर सुरति से और प्रेम-पूरित प्याले की याचना क्यों करता है ? तीसरे यह कहना कि "मैं अपनी सुधि भूल गया हूँ" अपनी चैतन्यता प्रकट करता है। कोई भी बेसुध व्यक्ति अपने आपको बेसुध नहीं बताता; और यदि वह बताता है तो इसका अर्थ है उसे सुधि है। अस्तु, देव ने येन-केन-प्रकारेण लक्षण-पूर्त्ति कर दी है किन्तु वे इसमें काव्यत्व की दृष्टि से सफल नहीं कहे जा सकते हैं।

प्रणयानुभूतियों के क्षेत्र में जहां देव लक्षण-पूर्त्ति के उद्देश्य को भूलकर सहज स्वाभाविक रूप से काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए हैं, वहाँ उनके वर्णन में पर्याप्त मार्मिकता आ गई है—

मूरति जो मन मोहन की,
मन मोहनी कै थिर ह्वै थिरकी-सी ।
'देव' गुपाल को नाम सुने
सियराति सुधा छतियाँ छिरकी-सी ॥
नीके झरोखा ह्वै झाँकि सकै नहिं,
नैनन लाज घटा घिरकी-सी ।
पूरन प्रीति हिये हिरकी,
खिरकी खिरकीन फिरै फिरकी-सी ॥

—देव

यहाँ अनुराग की प्रारम्भिक अवस्था का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक रूप में हुआ है। एक ओर बाला-युवती का हृदय रूपासक्ति से विह्वल हो रहा है, दूसरी ओर वह लज्जा के भार से अवनत हो रही है। नायिका की विभिन्न चेष्टाओं—झरोखे से देखना, खिड़कियों के चक्कर काटना—से उसके हृदय की भाव-विभोर दशा का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है।

प्रणय-दशा के क्रमिक विकास के साथ देव ने संयोगकालीन दृश्यों की भी आयोजना विस्तार से की है। कहीं वर्षा की रिम-झिम बूँदों से सुशोभित वातावरण में कुंजों के समीप नायिका की अचानक प्रिय से भेंट हो जाती है (५९), कहीं प्रेमी-प्रेमिका आलिंगनबद्ध होकर झूला झूलने में तन्मय हो रहे हैं (६९), कहीं वे बाग-बाटिकाओं के बीच घूमते हुए प्रकृति की मनोहर छटा के अवलोकन के साथ-साथ अपने प्रेम-पूर्ण हृदय का उल्लास व्यक्त करते दिखाई पड़ते हैं (६८)। ऐसे दृश्यों में कवि स्थूल ऐन्द्रिय-तृप्ति को भूलकर भावना की सूक्ष्म प्रवृत्तियों के उद्घाटन में ही लीन है—

चौगुनी रङ्ग चढ़ी चित में,
चुनरी के चुचात, लला के निचोरत। —पृ० ४०

वर्षा के कारण चूनरी भीग गई; अवश्य ही उसका रङ्ग धुल गया है, फीका पड़ गया है—किन्तु प्रिय के द्वारा निचोड़े जाने के कारण उसके हृदय को आज वह 'चौगुनी रङ्ग चढ़ी' हुई प्रतीत हो रही है।

संयोग कालीन दृश्यों का चित्रण बिहारी ने भी किया है किन्तु उनमें नायिका के चेष्टागत सौन्दर्य की ही अभिव्यक्ति अधिक है; उसके हृदय की सूक्ष्म भावनाओं की व्यंजना की ओर उनका ध्यान कम है। फिर भी यह अन्तर बहुत अधिक खटकने वाला नहीं है—बिहारी के पाठक को भावजन्य माधुर्य न सही, चेष्टागत सौन्दर्य तो मिल ही जाता है; किन्तु वियोगानुभूतियों के क्षेत्र में बिहारी और देव दो विरोधी दिशाओं की ओर अग्रसर हो जाते हैं। यह ठीक है कि प्रयत्नपूर्वक ढूँढने पर वियोग-वर्णन में बिहारी के कुछ भाव-पूर्ण दोहे तथा देव के कुछ चमत्कार-पूर्ण छन्द मिल सकते हैं; किन्तु साधारणतः एक में चमत्कारिकता का प्राधान्य है जबकि दूसरे में भावात्मकता का। बिहारी के वियोग-वर्णन पर विस्तृत प्रकाश पहले डाला जा चुका है, यहाँ देव की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

आई नहीं तन में तरुताई, भई नहीं स्याम के सङ्ग संयोगिनि।
कौने सिखाइ धौं सीख कहा, सुमिरैं धरि ध्यान मनोजुग जोगिनि॥
भोजन बास न हास बिलास, उसास भरै मनौ दीरघ रोगिनि।
आँखिन ते अँसुआ नहिं सूखत, एकहि बार ह्वै बैठि बियोगिनि॥

वे बतियाँ छतियाँ लहकैं, दहकैं बिरहागिनि की उर आचैं ।
वा बाँसुरी को परयो रसु री, इन कानन मोहन मन्त्र से माचैं ॥
को लगि ध्यान धरे मुनि लौं, रहिए कहिए गुन बेद से बाचैं ।
सूझत ना सखि आन कछू, निसि द्यौस वेई अँखियान मैं नाचैं ॥

—वही; छ० ५३

'देव' घरी पल जात घुरीं,
अँसुवान के नीर उसेस समीरन ।
आहन जाति अहीर अहै,
तुम्हें कान्ह कहा कहौं काहू की पीर न ।

—वही; छ० ५४

नेह रच्यो, बिरहागि तच्यो, पिय पेम पच्यौ पजरैं तन तूल सो !
सासनि दूखि, उसासनि रूखि, गयो मुख सूखि गुलाब के फूल सो !

—देव-रत्नावली; छ० ५८

साँसन ही सौं समीर गयो,
अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि !
तेज गयो गुन लै अपनो,
अरु भूमि गई तनु की तनुता करि !
'देव' जियै मिलिबे ही की आस,
कि आस हु पास अकास रह्यो भरि !
जा दिन ते मुख फेरि रहे हँसि,
हेरि हियो जू लियो हरि जू हरि !

—दे० र०; छ० ८३

उपर्युक्त छन्दों में हम देखते हैं कि देव ने भी केवल नायिकाओं का ही—नायकों का नहीं—विरह वर्णन किया है; उनकी वियोगिनियाँ भी आँसू बहाती हैं; विरहाग्नि से उनका हृदय जलता है; असह्य वेदना के कारण वे भी मरणासन्न अवस्था के समीप पहुँच जाती हैं—किन्तु यहाँ बिहारी सतसई की भाँति जल-प्लावन, अग्निकाण्ड और प्रलय के दृश्य दृष्टिगोचर नहीं होते । प्रिय की मूर्ति का आँखों में नाचना, रात-दिन आँसू बहाते रहना, मुख का

गुलाब के फूल की तरह सूख जाना और श्वास, अश्रु, कान्ति, पुष्टता एवं मिलनाकांक्षाओं की विदाई के साथ-साथ पंच-भौतिक तत्त्वों का क्षीण हो जाना—आदि उक्तियों में अस्वाभाविकता के लिए रंच-मात्र भी स्थान नहीं है। वेदनानुभूतियों की छटपटाहट के कारण उनका हृदय चंचल और उद्विग्न होता है किन्तु वे सरकस की लड़कियों की भाँति अपने शारीरिक क्रिया-कलापों का तमाशा नहीं दिखातीं, किसी निष्ठुर की प्रतीक्षा करते-करते वे अचेत और बेसुध हो गई हैं, किन्तु वे काठ की पुतलियों की भाँति अपनी निर्जीवता का प्रदर्शन नहीं करतीं !

विरहानुभूतियों के चित्रण में देव की एक बड़ी भारी विशेषता है—आत्म-निवेदन के रूप में विरहोद्गारों की अभिव्यक्ति ! आत्माभिव्यक्ति की शैली के प्रयोग के कारण नायिका के दैन्य, रोष, उपालम्भ आदि की व्यंजना अत्यन्त मार्मिक रूप में हुई है—

आहन जात अहीर अहै, तुम्हें कान्ह, कहा कहौं,
काहू की पीर न ! —दे० र०; छ० ५४

× × ×

ऐसे निरमोही सदा मोही में बसत,
अरु मोही ते निकस फेरि मोहि न मिलत हो।
—वही; छ० १५५

× × ×

प्यारे पराये सौं कौन परेखो,
गरे परि कौ, लगि प्यारी कहैए ! —वही; छ० ११६

× × ×

मंद मुसक्याय लै, समाय जी में ज्याय लै रे,
प्याइले पियूष प्यासी, अधर सुधा की हूँ ! —वही

× × ×

ए अँखियाँ सखियाँ न हमारी ए,
जाय मिली जल बूँद ज्यौं कूप में ! —वही; छ० १३०

× × ×

कैसी भई, हौ कहो किन कैसे हु,
कान्ह कहाँ है, कहा बकती हौ !—वही; छ० ११३

× × ×

रावरे रूप लला ललचानी ये,
जानी न काहू बिकानि औ ऐसी ।

... ...

न्याय निबैरौ न हौ यह नेह को,
जानत हौ तुम हूँ हम जैसी !
देखिबे ही को भरौं सिसकी,
तिनते रिसकी चरचा कहौं कैसी ! —वही; छन्द ८७

× × ×

काहे को मेरो कहावत मेरो जु
पै मन मेरो न मेरो कह्यौ करै ! —वही; ८२
साँवरे लाल को सांवरे रूप में,
नैननि को कजरा करि राख्यौ । —वही; ७८

× × ×

कहा लगि लाल कछू कहिए,
इतनी सहिए सब रावरे काज । —वही; ५०

× × ×

साथ में राखिए नाथ, उन्हें,
हम हाथ में चाहति चारि चुरी ये ! —वही

× × ×

सबते सब भाँति भली हरिनी,
निसिबासर पास रहै पिय कै । —वही; छ० २१६

इस प्रकार सरस उक्तियाँ बिहारी में भी कहीं-कहीं मिलती हैं किन्तु प्रायः उन सब में खंडिता नायिका का रोष और उपालम्भ ही मुखरित है ! उनमें उपेक्षिता पत्नी के दुःख की तो व्यंजना हुई है किन्तु प्रणय की गम्भीरता का आभास उनमें नहीं मिलता । बिहारी की नायिका अपने व्यंग्यपूर्ण शब्दों

से परस्त्रीगामी पति के हृदय को बेधने का प्रयत्न करती है, द्रवित करने का नहीं; उसकी वाणी में कठोरता है, दैन्यता नहीं; उसके स्वर में तीव्रता है, लोच नहीं। यही कारण है कि हम उसे चतुर, प्रवीण और उद्विग्नता तो कह सकते हैं किन्तु देव की नायिकाओं की सी आर्द्र कोमलता, तरल भावुकता एवं स्निग्ध वाचालता उसमें नहीं मिलती।

अस्तु, एक ही युग, एक ही भाषा और एक ही परम्परा के इन दोनों कलाकारों की प्रतिभा का विकास दो भिन्न क्षेत्रों में हुआ। एक के पास पांडित्य है, अध्ययन है, दृष्टि की सूक्ष्मता है और शब्दों का अगाध भंडार है तो दूसरे के पास अनुभूतियों का अविरल स्रोत, छन्दों की कमनीयता और भाषा की कोमलता है। जहां तक सौन्दर्य के सूक्ष्म चित्रण का प्रश्न है; नायिकाओं की मुंह-बोलती तस्वीर खींचने की बात है, बिहारी देव से बहुत आगे हैं, किन्तु भावों की तरल अभिव्यक्ति में देव के समक्ष बिहारी शुष्क, उदास और फीके से दिखाई पड़ते हैं। देव का काव्य-क्षेत्र भी व्यापक है; संयोगकालीन दृश्यों की जैसी विविधता उसमें है, उसका बिहारी सतसई में अभाव है। और वियोगानुभूतियों की दृष्टि से तो देव के वैभव के सम्मुख बिहारी अकिंचन से प्रतीत होते हैं। फिर भी जो विद्वान बिहारी को बड़ा सिद्ध करना चाहते हैं; उनकी बात भी हम अस्वीकार नहीं कर सकते। अवश्य ही बिहारी वय में देव से लगभग ६०–७० वर्ष बड़े थे।

१७. कहिगो अबीर पै अहीर को कहे नहीं !

हमारे मध्यकालीन जीवन में होली का त्योहार युवक और युवतियों के लिए वसन्त का मादक सन्देश लेकर आता रहा है। होली के मुक्त वातावरण में युवक और युवतियां जिस प्रकार परस्पर रङ्ग डालते थे, उससे उनके कपड़े तो रङ्ग ही जाते थे, किन्तु कभी-कभी छीटे हृदय के अन्तस्तल तक भी पहुँच जाते थे। अबीर का लेप चेहरे को तो विद्रूप करता ही था, किन्तु कभी-कभी उसकी किर किर उनकी आंखों को भी बेचैन कर देती थी। भला हमारे रीति कालीन कवि लोग इन दृश्यों को कैसे भूल सकते थे। जहां भक्त कवियों ने साधना की पिचकारी में ज्ञान का रङ्ग भरकर किसी अदृश्य को लक्ष्य बनाया, वहाँ शृङ्गारी कवियों ने धरती के चलते-फिरते पुतलों से ही होली खेली, वही होली जो रङ्ग और पिचकारी से सर्व साधारण द्वारा खेली जाती है, उसमें अलौकिकता और असाधारणता कुछ नहीं है। इन कवियों में पद्माकर का स्थान सबसे ऊँचा है। उनकी मूर्तिविधायिनी कला ने होली की प्रवीण नायिकाओं के सजीव चित्र उपस्थित करने में अपूर्व कौशल का परिचय दिया है। उनके होली सम्बन्धी कवित्त किसी भी सहृदय के हृदय को गुदगुदाने की पूरी क्षमता रखते हैं।

रीतिकालीन कवियों की ही तरह पद्माकर की नायिका भी बड़ी ढीठ है। अपनी भावनाओं को प्रकृत रूप में ही व्यक्त कर देने में वह कोई झिझक नहीं करती। अपने नैनों के नीर में अबीर घोल कर, अपने किसी चितचोर पर पिचकारी चला पाने की गहरी आकांक्षा व्यक्त करती हुई अपनी सखी से वह स्पष्ट कह देती है—

फागुन में का गुन विचारि ना दिखाई देत,
एतो बार लाइ उन कानन में नाई आउ,

हमारे कहे वीर वाहि धाय लगि धाइ आउ
जोरि जो धरि है बेदरद के दुआरे होरी,
मेरी विरहागि की उलूकन लौं लाई आउ ।
एरी इन नैन के नीर में अबीर घोरि
बोरि पिचकारी चितचोर पै चलाइ आउ ।

एक दूसरी युवती ने होली खेलने में जो अद्‌भुत चातुर्य प्रदर्शित किया, वह भी द्रष्टव्य है। वह कुछ अन्य युवतियों में मिलकर छिपती हुई अपने प्रीतम से होरी खेलने गई, किन्तु हंस बगुलों में मिलकर भी छिपता नहीं। उसकी विलक्षण टेढ़ी नजर के कारण सब युवकों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित होगया। अबीर की धुंध में अपने मुंह को फिरा कर वह कुछ इस ढङ्ग से मुसकराई कि कलेजे के कतरे-कतरे हो गए। यद्यपि वह दुबली पतली सी थी, किन्तु वह होली के सभी शूरमाओं को घायल कर गई :

चोरिन गोरिन में मिलि कै
इति आई ही हाल गुवाल वहाँ की,
को न विलोकि रह्यो 'पद्माकर'
वा तिय की अवलोकनि बांकी ।
बीर अबीर की धूँधरी में,
कछु फेर सो कै मुख फेरि कै झांकी,
कै गई काटि करेजन के,
कतरे कतरे पतरे करिहाँ की ।

रात भर होली खेलने के बाद नायक नायिकाओं की जैसी दशा हो गई, उसका वर्णन करने में भी पद्माकर ने अपूर्व कल्पना शक्ति का परिचय दिया है। आलस्य से भरी देह, रोली से आरक्त कपोल, नींद की खुमारी से भरी हुई आंखें, झपझपाती हुई पलकें, लालिमा से युक्त अधर और अबीर से सनी हुई अलकों का एक सौन्दर्य चित्र उपस्थित कर दिया गया है :

गोकुल में गोपिन गोविन्द संग खेलीं फाग,
राति भरि प्रात समै ऐसी छवि झलकैं ।

नींद भरे नयन कछू झपैं पलकैं ।
लाली भरे अधर बहाली भरे मुखवर,
कवि पद्माकर विलोकै को न ललकै,
भाग भरे लाल औ सुहाग भरे सब अंग,
पीक भरी पलकैं अबीर भरी अलकैं ।

होली के रङ्ग और अबीर में सराबोर हो जाने के बाद लोग कपड़े निचोड़ने और सुखाने में लग जाते हैं। मन्दभागियों की दृष्टि में उत्सव समाप्त हो जाता है। पर कवि की अन्तर्दृष्टि अब भी 'चौपर पचौवर' करके चूनरी निचोड़ती हुई सुकुमारियों के कक्ष में पहुँच कर अपने लिए रस का सागर ढूंढ लेती है। इसी रस की दो-चार बूंदें कवि पद्माकर ने अपने पाठकों के लिए भी सुरक्षित रखी हैं :

घाघरे की घूमनि सु उरुन दुबीचे दाबि,
आँगोहू उतारि सुकुमारी मुख मोरै है ,
दंतनि अधर दाबि दूनरि भई सी चापि,
चौवर पचौवर के चूनरि निचोरै है ।

सम्भवतः पद्माकर की इस सुकुमारी को चूनरी निचोड़ने के दारुण श्रम में लीन देख कर किसी सहृदय का हृदय संवेदना से घनीभूत हो सकता है, किन्तु बात इतनी ही नहीं है। चूनरी को जैसे-तैसे निचोड़ा जा सकता है और रङ्ग भी जैसे-तैसे धोया जा सकता है और आँखों में पड़ी हुई अबीर को भी ज्यों-त्यों निकाला जा सकता है, किन्तु होली खेलते समय किसी अहीर किशोरी के रूप में जो कण नेत्रों में पड़ गए थे, उन्हें निकालने का कोई भी यत्न सफल नहीं हो रहा है। इसी कारण नायिका की जैसी दुर्दशा हो रही है वह नायिका के मुंह से सुनिए :

धोई धोई हारी 'पद्माकर' तिहारी सौंह,
अब तो उपाय एकौ चित्त पै चढ़ै नहीं,
कैसी करौं ? कहाँ जाऊँ ? कासों कहौं ? कौन सुनै ?
कोऊ तो निकासौ जासों दरद बढ़ै नहीं ।

हमारे कहे वीर वाहि धाय लगि धाइ आउ
जोरि जो धरि है बेदरद के दुआरे होरी,
मेरी विरहागि की उलूकन लौं लाई आउ ।
एरी इन नैन के नीर में अबीर घोरि
बोरि पिचकारी चितचोर पै चलाइ आउ ।

एक दूसरी युवती ने होली खेलने में जो अद्‌भुत चातुर्य प्रदर्शित किया, वह भी द्रष्टव्य है। वह कुछ अन्य युवतियों में मिलकर छिपती हुई अपने प्रीतम से होरी खेलने गई, किन्तु हंस बगुलों में मिलकर भी छिपता नहीं। उसकी विलक्षण टेढ़ी नजर के कारण सब युवकों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित होगया। अबीर की धुंध में अपने मुंह को फिरा कर वह कुछ इस ढङ्ग से मुसकराई कि कलेजे के कतरे-कतरे हो गए। यद्यपि वह दुबली पतली सी थी, किन्तु वह होली के सभी शूरमाओं को घायल कर गई :

चोरिन गोरिन में मिलि कै
इति आई ही हाल गुवाल वहां की,
को न विलोकि रह्यो 'पद्माकर'
वा तिय की अवलोकनि बांकी ।
बीर अबीर की धूँधरी में,
कछु फेर सो कै मुख फेरि कै झांकी,
कै गई काटि करेजन के,
कतरे कतरे पतरे करिहां की ।

रात भर होली खेलने के बाद नायक नायिकाओं की जैसी दशा हो गई, उसका वर्णन करने में भी पद्माकर ने अपूर्व कल्पना शक्ति का परिचय दिया है। आलस्य से भरी देह, रोली से आरक्त कपोल, नींद की खुमारी से भरी हुई आंखें, झपझपाती हुई पलकें, लालिमा से युक्त अधर और अबीर से सनी हुई अलकों का एक सौन्दर्य चित्र उपस्थित कर दिया गया है :

गोकुल में गोपिन गोविन्द संग खेलीं फाग,
राति भरि प्रात समै ऐसी छवि झलकैं ।

नींद भरे नयन कछू झपैं पलकैं ।
लाली भरे अधर बहाली भरे मुखवर,
कवि पद्माकर विलोकैं को न ललकैं,
भाग भरे लाल औ सुहाग भरे सब अंग,
पीक भरी पलकैं अबीर भरी अलकैं ।

होली के रङ्ग और अबीर में सराबोर हो जाने के बाद लोग कपड़े निचोड़ने और सुखाने में लग जाते हैं। मन्दभागियों की दृष्टि में उत्सव समाप्त हो जाता है। पर कवि की अन्तर्दृष्टि अब भी 'चौपर पचौवर' करके चूनरी निचोड़ती हुई सुकुमारियों के कक्ष में पहुँच कर अपने लिए रस का सागर ढूँढ लेती है। इसी रस की दो-चार बूँदें कवि पद्माकर ने अपने पाठकों के लिए भी सुरक्षित रखी हैं :

घाघरे की घूमनि सु उरुन दुबीचे दाबि,
आँगोहू उतारि सुकुमारी मुख मोरै है ,
दंतनि अधर दाबि दूनरि भई सी चापि,
चौवर पचौवर के चूनरि निचोरै है ।

सम्भवत: पद्माकर की इस सुकुमारी को चूनरी निचोड़ने के दारुण श्रम में लीन देख कर किसी सहृदय का हृदय संवेदना से घनीभूत हो सकता है, किन्तु बात इतनी ही नहीं है। चूनरी को जैसे-तैसे निचोड़ा जा सकता है और रङ्ग भी जैसे-तैसे धोया जा सकता है और आँखों में पड़ी हुई अबीर को भी ज्यों-त्यों निकाला जा सकता है, किन्तु होली खेलते समय किसी अहीर किशोरी के रूप में जो कण नेत्रों में पड़ गए थे, उन्हें निकालने का कोई भी यत्न सफल नहीं हो रहा है। इसी कारण नायिका की जैसी दुर्दशा हो रही है वह नायिका के मुंह से सुनिए :

धोई धोई हारी 'पद्माकर' तिहारी सौंह,
अब तो उपाय एकौ चित्त पै चढ़ै नहीं,
कैसी करौं ? कहाँ जाऊँ ? कासों कहौं ? कौन सुनै ?
कोऊ तो निकासौ जासों दरद बढ़ै नहीं ।

एरी, मेरे बीर, जैसे तैसे इन आँखिन तें,
कढिगो अबीर, पै अहीर को कढै नहीं ।

होली के इस आनन्दमय उत्सव के बीच कवि को उन प्रवीण प्रेमिकाओं का भी ध्यान है जिनके गात, प्रियतम के वियोग के कारण बिना होरी खेले ही पीले पड़ गए हैं। ऐसी ही नायिका की विरह दशा का एक चित्र इन पंक्तियों में देखिए :

लागत बसन्त के सु पाती लिखी प्रीतम को
प्यारी परवीन है हमारी सुधि आनबो ।
कहै पद्माकर इहाँ को यो हवाल
बिरहानल की ज्वाल सो दावानल ते मानबो
ऊब को, उसासन को, पूरो परगास सो तो
निपट उसास पौन हूँ ते पहिचानबो ।
नैनन को ढंग सों अनंग पिचकारिन तें
गातन को रंग पीरे पातन तें जानबो ।

किन्तु नायिका की दीन दशा का वर्णन भी नायकराज के निष्ठुर हृदय को प्रभावित नहीं कर पाता। वह किसी 'कुब्जा के कलोलनि में पग' कर घर की राह भूल जाते हैं। ऋतुराज वसन्त भी इन अबलाओं को निपट अकेली समझ कर क्रूरता का परिचय देने लगता है। ऋतुराज के इस निष्ठुर अत्याचार की कहानी का वर्णन कवियों द्वारा लिखित इतिहास में अनेकों स्थलों पर हुआ है। परन्तु भारतीय नारी भले ही वह रीतिकाल की क्यों न हो, सहनशीलता की साक्षात् मूर्ति होती है। अपने समस्त कष्टों और सारी वेदनाओं को वह चाय के घूंट की तरह पी जाती है। वह अपने प्रियतम को दोष देती है और साथ ही ऋतुराज वसन्त को। देखिए :

कान्ह पगे कुबजा के कलोलनि
डोलनि छोड दई हर भाँती ।
माधुरि मूरति देखे बिना,
'पद्माकर' लागे न भूमि सुहाती
का कहिये उनको सजनि
यह बात है अपने भाग समाती

दोष वसन्त को दीजे कहा जो,
उलहै न करील की डारन पातां ।

इस तरह पद्माकर ने होली के विभिन्न पक्षों को लेकर अनेक मार्मिक चित्र उपस्थित किए हैं। ये सभी चित्र एक से एक बढ़ कर कहे जा सकते हैं, पर इनमें सबसे बढ़ कर सुन्दर चित्र उस अल्हड़ युवती का है, जिसने 'फागु की भीर' का पूरा-पूरा लाभ उठा कर नखखट गोपाल को पकड़ लिया और फिर उसे भी लेजा कर पूरी तरह अपनी मनभाई करके ऊपर से अबीर की झोली उँडेल कर गालों में रोली मींड कर, कमर से पीताम्बर छीन कर उन्हें घर का रास्ता बता दिया और फिर बड़ी शान से मुस्करा कर कहा, 'लला, फिर आना होली खेलने' सचमुच ऐसी हठीली नारियां समस्त शृङ्गारी साहित्य में दिवा लेकर ढूंढने पर भी कदाचित् एक-दो ही दृष्टिगोचर हों। एक झलक देखिए :

फागु की भीर अभीरिन में,
गहि गोविन्द लै गई भीतर गोरी ।
भाइ करी मन की 'पद्माकर'
ऊपर नाइ अबीर की झोरी ।
छीनि पिताम्बर कम्मर तें,
सु विदा दई मीड़ि कपोलन रोरी ।
नैन नचाय, कही मुसुकाय,
लला, फिर आइयो खेलन होरी ।

कवि पद्माकर के ऐसे सजीव चित्रों पर ही मुग्ध होकर आचार्य शुक्ल जी ने लिखा था, "इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हाव-भाव पूर्ण मूर्ति विधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है।" वस्तुतः पद्माकर के काव्य में एक प्रसन्न वदना, सजीव, सौन्दर्य मूर्ति, बैठी दिखाई पड़ती है। भले ही आज हम 'प्राण सी सुकुमार' छायावादिनी एवं 'पौरुष सी कठोर' प्रगतिवादिनी के दर्शनों में लीन होकर उसे भूल जाएँ, किन्तु वह तो हमें फिर भी आमन्त्रण दे रही है :

साँझ के, सबेरे, दिन दसवें दिवारी फाग,
कबहुँ भले जू भले, आइबो तौ करिए ।

१८. रीतिमुक्त या स्वच्छन्द प्रेममार्गी काव्यधारा की सामान्य विशेषताएँ

जिस समय हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल में विभिन्न दरबारी कवि रीतिबद्ध काव्य की रचना कर रहे थे, उसी समय में कुछ ऐसे कवियों का भी आविर्भाव हुआ जिन्होंने रीति तत्वों की उपेक्षा करते हुए स्वतन्त्र रूप से काव्य रचना की। इन कवियों में घनानन्द, बोधा, आलम, निवाज़, ठाकुर आदि प्रमुख हैं। इनके काव्य की प्रमुख विशेषताएँ या सामान्य प्रवृत्तियां ये हैं—

(१) काव्य रचना का प्रेरणा स्रोत निजी जीवन

यद्यपि इन कवियों में से कुछ का सम्बन्ध विभिन्न राजाओं के दरबार से भी रहा किन्तु फिर भी इन्होंने केवल अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए काव्य रचना नहीं की। इनकी काव्य-रचना का प्रेरणा स्रोत इनका वैयक्तिक जीवन ही था। इन्होंने अपने जीवन में प्रेम और विरह की ऐसी अनुभूतियां प्राप्त कीं जिन्होंने इनका काव्य-रचना के लिए विवश कर दिया। यह कविता नहीं लिखते थे, अपितु कविता स्वतः ही इनकी अनुभूतियों से प्रेरित होकर उच्छ्वसित हो जाती थी। घनानन्द ने लिखा है—

"लोग हैं लागि कवित्त बनावत,
मोहि तो मेरे कवि कवित बनावत।"

इसी प्रकार इस धारा के अन्य कवियों ने भी प्रयत्न पूर्वक कविता नही लिखी, अपितु उसमें उनकी भावनाओं के सहज स्वाभाविक उद्‌गार हैं। इनके बहुत से समकालीन कवि रीति के लक्षणों को ध्यान में रख कर कविता करते थे, जो इन्हें पसन्द न था। ठाकुर ने ऐसे कवियों की आलोचना करते हुए लिखा है—

"सीखि लीनो मीन मृग खंजन कमल नयन,
सीखि लीनो जस और प्रताप को कहानो है।

... ...

छैल सो बनाय आय मेलत सभा के बीचि,
लोगन कबित्त कीबो खेलि करि जानो है।"

इससे स्पष्ट प्रकट है कि इस धारा के कवियों ने कविता के वास्तविक महत्व को समझा था। यही कारण है कि उनकी कविता में बाह्य शरीर के चित्रण के स्थान पर हृदय की सच्ची पुकार मिलती है।

(२) स्वच्छन्द प्रेम

जो प्रेम समाज की मर्यादाओं के प्रतिकूल हो, उसे स्वच्छन्द प्रेम का नाम दिया जाता है। हिन्दी के इन कवियों का प्रेम भी स्वच्छन्द प्रेम की कोटि में आता है। इन कवियों ने जाति, समाज और धर्म की अवहेलना करते हुए अपने जीवन में ऐसी नायिकाओं से प्रेम किया था जो कि दूसरे धर्म की अनुयायिनी थीं। घनानन्द की सुजान, बोधा की सुभान, आलम की शेख, आदि नायिकाएँ जाति की मुसलमान थीं। ऐसी स्थिति में इन कवियों को प्रेम के क्षेत्र में विविध कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मित्रों का उपहास, समाज की निन्दा और आश्रयदाताओं के विरोध का इन्हें सामना करना पड़ा। इन्हें जीवन में अनेक कष्ट सहने पड़े किन्तु फिर भी वे अपने प्रेम-मार्ग से पीछे न हटे। इनके प्रेम में सच्चाई और एकोन्मुखता के दर्शन होते हैं। बोधा के शब्दों में वे अपनी प्रेयसी के लिए संसार के वैभव का ठुकराने के लिए सहर्ष प्रस्तुत हैं—

"एक सुभान के आनन पै, कुरबान जहां लगि रूप जहां को।
जानि मिले तो जहान मिलै, नहीं जान मिलै तो जहान कहां को॥"

प्रेम की इसी अनन्यता के कारण इनके शृङ्गार वणन में स्वच्छता, पवित्रता और गम्भीरता मिलती है जिसका रीतिबद्ध कवियों में अभाव है।

(३) सौन्दर्य का सूक्ष्म रूप में चित्रण

जहां रीतिबद्ध कवियों ने अपने काव्य में नारी के स्थूल अंगों की नाप-जोख की है, वहां इन्होंने अपनी प्रेयसियों के सौन्दर्य का वर्णन अत्यन्त सूक्ष्म रूप में किया है। वह उनके नखशिख का वर्णन न करके उसके स्थान पर सौन्दय की अनुभूतिपूर्ण झलक प्रस्तुत करते हैं। घनानन्द के अनुसार—

"अंग-अंग नरंग उठे द्युति की,
परिहैं मनु रूप अबै धर च्वै।"

अर्थात् नायिका के प्रत्येक अंग से सौन्दर्य की लहरें उठ रही हैं, मानो अभी उसका रूप धरती पर चू पड़ेगा। इसी भांति वे स्थूल विशेषताओं के स्थान पर सूक्ष्म सौन्दर्य का चित्रण करते हैं। नायिका के होंठों की लाली की अपेक्षा इन्हें उसकी मुस्कराहट अधिक आकर्षित करती है। देखिये—

"छवि को सदन, गोरो वदन रुचिर भाल,
रस निचुरत मृदु मीठी मुस्क्यानि में।"

उसकी मीठी मुस्कराहट में रस टपक रहा है। यह वाक्य हमें छायावादी सौन्दर्य पद्धति का स्मरण कराता है। यहां 'मीठी' का प्रयोग विशेषण विपर्यय के रूप में हुआ है जो कि छायावाद की विशेषता मानी जाती है। इसी प्रकार अन्य कवियों ने भी सौन्दर्य का अंकन सूक्ष्म रूप में ही किया है।

(४) विरह की प्रधानता

इन प्रेमी कवियों का जीवन नायिका की प्रतीक्षा और उसकी स्मृति में ही व्यतीत हुआ था। समाज के विरोध के कारण वे अपने जीवन में संयोग की घड़ियां प्राप्त करने में असफल रहे। आलम ने अवश्य हिन्दू धर्म छोड़कर अपनी प्रेयसी शेख के सान्निध्य का सुख प्राप्त किया, किन्तु शेष सब कवियों का जीवन तो विरह में कराहते-कराहते ही व्यतीत हो गया। यही कारण है कि इनके काव्य में सर्वत्र विरह वेदना का ही चित्रण मार्मिक रूप में हुआ है। जहाँ स्थूल मिलन के दृश्यों का इनके काव्य में सर्वथा अभाव है, वहाँ विरह की प्रत्येक भावदशा का चित्रण इनके काव्य में अनुभूतिपूर्ण शब्दों में मिलता है। विरह की विकलता का आभास निम्नाङ्कित पंक्तियों में देखिये :

"कबहुँ मिलिबो, कबहुँ मिलिबो, यह धीरज ही में धरिबो करै।
उर तें कढि आवै गरै ते फिरै, मन की मन ही में सिरैबो करै।
कवि बोधा न चाव, सरि कबहुँ नित ही हरवा सौ हिरैबो करै,
सहते ही बनै कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबो करै।"

इन कवियों को समाज से भी संघर्ष करना पड़ा था। किन्तु लोगों के उपहास और निन्दा से इनके प्रेम में न्यूनता नहीं आई। अपितु इन्होंने समाज

के नेताओं को साफ-साफ ललकारते हुए कहा था :

"कवि ठाकुर प्रीति करि है गोपाल सौं, टेर कहूँ सुनो ऊँचे गलै,
हमें नीकि लगी सो करि हमने, तुम्हें नीकि लगो न लगो तो भलै ।"

बोधा के शब्दों में :

"कवि बोधा कहे मैं स्वाद कहा, को हमारी कही पुनि मानतु है,
हमें पूरी लगी कै अधूरी लगी, यह जीव हमारो ही जानतु है ।"

दूसरी ओर भारतेन्दु की नायिका ऐसे व्यक्तियों को जो कि प्रेमी से उसका हाल-चाल केवल उसका उपहास करने के लिए ही पूछते हैं, उन्हें वह पागल की संज्ञा देती हुई कहती है :

"मारग प्रेम को, को समझै, हरिचंद यथार्थ होत यथा है,
बावरे हैं बृज के सगरै, मोहि नाहक पूछत कौन व्यथा है ।"

विरह वर्णन के क्षेत्र में प्रेमी प्रेमिकाओं के द्वारा परस्पर उपालम्भ दिए जाने की भी प्रथा रही है। इन कवियों के काव्य में भी उपालम्भ की व्यंजना अत्यन्त मार्मिक रूप में हुई है :

"घनानन्द प्यारे सुजान सुनो, तब आई सबै भाँति भोरत है ।
मन माँहि जो तोरन की ही तो, कहो विस्वासी, स्नेह क्यों जोरत है ।"

इसी प्रकार सन्देशों का आदान-प्रदान भी इन कवियों के प्रणय लोक में हुआ है। भारतेन्दु की नायिका अपना अन्तिम संदेश अपने प्रिय को पहुँचाने के लिए किस प्रकार विकल है, इसका अनुमान निम्नाङ्कित पंक्ति से किया जा सकता है :

"व्याकुल हों, तड़पों बिनु प्रीतम, कोऊ तो नेक दया उर लाओ,
आवै न आवै पियारो अरे कोऊ हाल तो जायके मेरो सुनाओ ।"

घनानन्द तो केवल अपने प्रिय के पैरों की धूल की ही प्राप्ति के लिए विकल हैं। वे उसकी पैरों की धूल को अपनी आंखों में लगाये रखना चाहते हैं। इसी लिए वह कहते हैं :

"धूरि तिन पायन की, हाहा नैकु आनि दे ।"

किन्तु जब कोई व्यक्ति उनकी प्रिय सुजान का सन्देश लेकर आता है तो उन्हें अत्यधिक आश्चर्य होता है। सन्देश की अपेक्षा वे यह जानने को

लालायित हो उठते हैं कि उनके निष्ठुर प्रिय को उनकी याद कैसे आई ? कैसे आज उनको पत्र लिखा ? वे सन्देशवाहक से पूछते हैं :

"हाय निर्दयी को हमारी सुधि कैसे आई,
कौन विधि दीनी पाति दीन जानि के मनौ ।"

वस्तुत: इनके काव्य में विरह सम्बन्धी विभिन्न प्रसङ्गों का चित्रण मार्मिक रूप में हुआ है । विरह व्यंजना के क्षेत्र में हिन्दी का कोई कवि इनकी समानता नहीं कर सकता । विद्यापति ने विरह के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है किन्तु उसमें विरह की वेदना की वह गम्भीरता कहाँ जो इनके काव्य में मिलती है । साँवरे के विरह में रात-दिन आँसू बहाने वाली गोपियों के विरह की अभिव्यक्ति सूर ने मार्मिक शब्दों में की है किन्तु उसमें इन कवियों की सी अनुभूति का अभाव है । गोपियों को केवल एक ही दुःख था कि वह अपने प्रिय कृष्ण से दूर रहती थीं । उनका प्रिय कृष्ण इतना महान था कि उसके कारण गोपियों को समाज का उपहास नहीं सहन करना पड़ा, जबकि इन कवियों का तो इतना भी सौभाग्य नहीं कि इनके विरहजन्य घावों के लिए समाज की सहानुभूति का मरहम प्राप्त होता । आलम के शब्दों में :

"कहिबे को व्यथा, सुनिबे को हँसी, को दया सुनिके उर आनतु है ।"

अर्थात् इनके पास तो कहने को व्यथा, सुनने के लिये समाज की हँसी ही थी । कोई भी इनकी विरह वेदना का हाल सुन कर सहानुभूति नहीं दिखाता था ।

(५) वैयक्तिकता

हिन्दी में इनसे पूर्व और भी अनेक कवियों ने प्रेम और विरह की कविताएँ लिखीं, किन्तु इन कवियों की एक विशेषता ऐसी है जो पूर्ववर्ती कवियों में नहीं मिलती । वह है वैयक्तिकता । जहां पूर्ववर्ती कवियों ने दूसरों के प्रेम और विरह के गीत गाए, वहाँ इन्होंने अपने हृदय की पीड़ा को अपने ही शब्दों में सहज स्वाभाविक रूप में व्यक्त किया । इन्होंने अपनी प्रेम कहानी सुनाने के लिये न ही राधा कृष्ण का आवरण उधार लिया और न ही किसी पद्मिनी या रत्नसेन की ओट ली । दूसरे, इन्होंने सृष्टि के किसी अन्य प्राणी को सम्बोधित करके कविताएँ नहीं लिखीं, अपितु अपनी ही

प्रेयसियों सुभान या सुजान को लक्ष्य करके काव्य रचना की। परवर्ती हिन्दी काव्य में अवश्य वैयक्तिकता का गुण मिलता है, जैसे छायावादी कवियों में किन्तु इससे पूर्व हिन्दी के किसी भी कवि का इतना साहस न हुआ कि वह अपने लौकिक पात्र से लौकिक प्रेम की अनुभूतियों को इस प्रकार निस्संकोच रूप में प्रस्तुत कर देता।

(६) शैली

इन कवियों ने अपने काव्य में सर्वत्र मुक्तक शैली का प्रयोग करते हुए कवित्त, सवैया आदि छन्दों का व्यवहार किया है। इन्होंने ब्रजभाषा का प्रयोग सफलता पूर्वक किया है। इनकी भाषा में सरसता और कोमलता तो है ही, साथ ही उसमें ऐसी नवीनता भी है जिससे कि अर्थ की दृष्टि से भी उसके प्रभाव में अभिवृद्धि हुई है। इन्होंने लक्षणा शक्ति के प्रयोग द्वारा ब्रजभाषा को नई शक्ति प्रदान की। इन्होंने अनेक ऐसे अलङ्कारों का प्रयोग किया जो आगे चल कर छायावादी काव्य में हैं। उदाहरण के लिए विरोधाभास, विशेषण विपर्यय, मानवीकरण आदि अलङ्कार ऐसे हैं जोकि अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव से छायावादी काव्य में प्रयुक्त बताये जाते हैं, किन्तु इन कवियों के काव्य में इन अलङ्कारों का प्रयोग हुआ है। अतः इन अलङ्कारों को अंग्रेजी साहित्य की देन बताना उचित नहीं।

अन्त में हम कह सकते हैं कि इनकी कविता सच्ची अनुभूति से पूर्ण है। भाव पक्ष और कला पक्ष—दोनों की दृष्टि से इनका काव्य प्रौढ है। यदि हम इस काव्यधारा के सर्वश्रेष्ठ कवि घनानन्द को हिन्दी शृङ्गारी कवियों में सर्वश्रेष्ठ मानें तो अनुचित नहीं होगा।

---

*

१६. भारतेन्दु राज-भक्त थे या राष्ट्र-भक्त ?

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का आविर्भाव प्रथम स्वातन्त्र्य युद्ध १८५७ ई० से सात वर्ष पूर्व तथा उनका देहावसान कांग्रेस की स्थापना १८८५ ई० से एक वर्ष पूर्व हुआ था। साधारणतः लोगों की धारणा है कि १८५७ के संघर्ष की असफलता ने हमारी राष्ट्रीय चेतना को कुचल दिया था, उसका पुनर्विकास कांग्रेस की स्थापना के अनन्तर ही हुआ—ऐसी स्थिति में भारतेन्दु का जीवन-काल राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से शून्य था। उस युग में थोड़ी-बहुत राष्ट्रीयता मिलती भी है तो वह राज-भक्ति से इतनी मिश्रित है कि उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण करना कठिन है। स्वयं भारतेन्दु ने कई ऐसी कविताएँ लिखी थीं, जो साधारणतः राज-भक्ति से समन्वित प्रतीत होती हैं, जैसे महारानी विक्टोरिया के पति के देहान्त पर 'अलवरत वर्णन अन्तर्लापिका', ड्यूक आफ एडिनबरा के आगमन पर 'राजकुमार सुस्वागत पत्र', वायसराय रिपन की स्तुति में 'रिपनाष्टक' आदि आदि। अस्तु, भारतेन्दु राज-भक्त थे या राष्ट्र-भक्त ? इसका समाधान हमारे प्रारम्भिक आलोचक डा० श्यामसुन्दरदास, आचार्य शुक्ल आदि तो कर ही नहीं पाये थे, आज भी यह प्रश्न अनिर्णीत है, इसका प्रमाण सन् १९५२ में प्रकाशित पुस्तक के एक उद्धरण से मिलता है, 'भारतेन्दु का देश-प्रेम कितनी ही धाराओं में बहता है, पर उसी देश-प्रेम की धारा में बृटिश शासन की प्रशंसा की कीचड़ भी कहीं-कहीं देखने को मिल जाती है। पता नहीं, उस युग की कौन-सी आवश्यकता थी।' यदि भारतेन्दु साहित्य की इस विरोधी प्रकृति को 'पता नहीं' कह कर टालने की अपेक्षा तत्कालीन युग की परिस्थितियों को प्रकाश में रख कर समझने का प्रयास किया जाय तो हमारा विश्वास है कि उसका रहस्य स्पष्ट रूप से उद्भासित हो सकता है।

भारतेन्दु के बाल्यकाल में ही भारत की जनता ने विदेशी शासकों द्वारा

परिचालित बिना घोड़े के चलने वाली दैत्य स्वरूपा विकट धूम्रवाहिनी को, ताम्बे के एक सिक्के के बदले में ही दूर-दूर से सन्देश लेकर आने वाले पत्र-वाहक को तथा व्यापक विद्रोहाग्नि की शत्-शत् ज्वालाओं को मेघ सदृश्य शान्त कर देने वाली अमित सैन्य-शक्ति को प्रथम बार अपने-अपने चक्षुओं से देखा था और उसके अनन्तर स्नेह, प्यार एवं क्षमा से परिपूर्ण महाराणी का घोषणा-पत्र भी पहली बार उसने अपनी श्रोत्रेन्द्रिय से सुना था। अस्तु, शक्ति के साथ-साथ उदारता का समन्वय देखकर विदेशी शासक के प्रति वह गद्गद् हो गई। जिसे वह कल तक फिरङ्गी कहकर घृणा की दृष्टि से देखती थी, उसे आज अनन्त शाक्तिधारी देव-स्वरूप समझने लग गई। ऐसी परिस्थिति में एक ग्यारह वर्षीय अबोध बालक का विक्टोरिया के प्रति सौजन्यतापूर्ण कविता लिख देना किसी विशेष स्वार्थ से प्रेरित नहीं माना जा सकता। आगे चलकर वायसराय रिपन की स्तुति में भी कवि ने जो कुछ लिखा है वह वैयक्तिक लाभ की भावना से नहीं, अपितु इसलिए कि रिपन अपनी नीति के कारण भारतीय जनता में अत्यन्त लोकप्रिय हो गये थे। अपने राष्ट्र का हित करने वाले व्यक्ति के प्रति श्रद्धा प्रकट करना राष्ट्रीयता का ही एक अंग है। आज यदि मिस्र की जनता नेहरू के प्रति सम्मान प्रकट करती है तो इससे उसकी राष्ट्र-भक्ति में कोई न्यूनता नहीं आती।

किन्तु ज्यों-ज्यों कवि की बुद्धि परिपक्व होती गई तथा नये-नये अनुभव संचित होते गए, उसे विदेशी शासन की वास्तविकता का बोध होने लगा। सन् १८६४ ई० में जब देखते-देखते गायकवाड को गद्दी से उतार दिया गया तो उसे प्रतीत हुआ, मानो महाराणी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र एक छल था, केवल परिस्थिति को नियन्त्रित करने का कपट-कौशल मात्र था। अस्तु, जिस लेखनी ने कभी प्रशंसा के गीत लिखे थे, वही अब विद्रोह के शत्-शत् स्वरों में फूट पड़ी। अपने 'विषस्य विषमौषधम्' नाटक में भारतेन्दु ने लिखा : "धन्य है ईश्वर ! सन् १५९९ में जो लोग सौदागरी करने आये थे, वे आज स्वतन्त्र राजाओं को यों दूध की मक्खी बना देते हैं।" इसी प्रकार 'नीलदेवी' नाटक में उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषित किया, "दुष्ट म्लेच्छ ! मार मार मार हमारा देश, हम राजा, हम रानी, हम मंत्री, बंदर की थैली में चूने की कमान।"

भारतेन्दु का यह विद्रोह-भाव दिन-प्रति-दिन अधिक प्रबल होता गया। 'भारत दुर्दशा' में उन्होंने अँग्रेज शासक को 'भारत दुर्दैव' के रूप में चित्रित करते हुए उसके मुंह से कहलवाया है :—

उपजा ईश्वर कोप से, औ आया भारत बीच ।
छार खार सब हिन्द करूँ, मैं तो उत्तम नहीं नीच ॥
काफिर काला नीच पुकारूँ, तोड़ूं पैर औ हाथ ।
दूं इनको सन्तोष खुशामद, कायरता भी साथ ॥
सब के ऊपर टैक्स लगाऊँ, धन है मुझ को धन्न ॥
मुझे तुम सहज न जानो जी !
मुझे इक राक्षस मानो जी !

तत्कालीन शासकों की नीति की आलोचना करते हुए वे इस पात्र के मुंह से कहलवाते हैं—"हा ! हा ! कुछ पढ़े-लिखे मिलकर देश सुधारा चाहते हैं। हहा ! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों का दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को हुक्म दूंगा कि इनको डिसलायल्टी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना बड़ा जो मेरा मित्र हो, उसको उतना बड़ा मेडल और खिताब दो।" विदेशी सरकार की कटु आलोचना के साथ-साथ उन्होंने इस नाटक में भारतवासियों की अकर्मण्यता पर भी स्थान-स्थान पर व्यंग्य किया है। सबसे अधिक दुःख उन्हें इस बात का था कि तत्कालीन नरेश इतने आसक्त हो गये थे कि वे मिलकर भी गुलामी की जंजीरों को तोड़ने में असमर्थ थे :

"वही उदैपुर, जैपुर, रीवाँ, पन्ना आदिक राज ।
परबस भए न सोच सकहिं कछु, करि निज बल बेकाज ।"

दूसरी ओर जनता में चाटुकारिता की मनोवृत्ति पनप रही थी। कुछ नेता मिलकर भारत दुर्दैव अँग्रेज को भगाने की योजना बनाते हैं किन्तु बीच में ही एक महाशय पूछते हैं, "क्यों भाई साहब, इस कमेटी में आने से कमिश्नर हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे ?" वस्तुतः भारतेन्दु अँग्रेजों के विरुद्ध कोई ठोस कदम उठाना चाहते थे, इसी उद्देश्य से वे चित्तौड़ के राणा से मिलने के लिए भी गये थे किन्तु उन्हें साथ देने वाला

कोई भी नहीं मिला। भारतेन्दु की इन प्रवृत्तियों पर शासकों की भी नजर पड़ गई थी, फलतः उनकी पत्रिका 'कवि वचन सुधा' पर पाबन्दी लगा दी गई।

भारतेन्दु के क्रान्तिकारी रूप का पूर्ण विकास 'विजय वैजयन्ती' कविता में मिलता है, जो उन्होंने अपनी मृत्यु से दो वर्ष पूर्व अँग्रेजों की अफगान विजय के अवसर पर लिखी थी। उस समय सारा देश दीपावली मनाने में व्यस्त था। अँग्रेजों की विजय पर भारतवासी खुशी क्यों मनाएँ -- यह कवि की समझ में नहीं आ रहा था, अतः उन्होंने इस कविता में भारतीयों को सम्बोधित करके लिखा : "आर्य लोगों को क्या मिला, जो प्रसन्न हो रहे हैं ? सब लोग आज जय-जय क्यों कह रहे हैं, कुछ समझ में नहीं आता ? क्या तुम्हारी भूमि का कर या टैक्स माफ हो गया है ? क्या जन साधारण के लिए सिविल सर्विस की राह खुल गई ?" इसी कविता में आगे चल करके स्पष्ट करते हैं कि अफगान विजय से अँग्रेजों को ही लाभ है - "इसका श्रेय अँग्रेजों को मिलेगा, रूस की रोक होगी, ब्रिटेन का व्यापार बढ़ेगा, किन्तु भारतीयों के पल्ले तो केवल शोक ही पड़ेगा।.....बेचारे भारतीय तो केवल युद्ध में मरने के लिए ही हैं, द्रव्य से सहायता करने के लिए हैं।"

सुजस मिलै अँगरेज को, होय रूस की रोक ।
बढ़ै बृटिश वाणिज्य पै हम को केवल सोक ॥

× × ×

ये तो केवल मरन हित द्रव्य देन हित दीन ।

अन्त में वे अँग्रेजों की कुटिल नीति पर भी प्रकाश डालते हैं..... "शत्रु शत्रु को लड़वा कर दूर खड़े हो कर तमाशा देखना, जो प्रबल दीखे, उससे मिल जाना,.....यही है अँग्रेजों की नीति का रहस्य। स्ट्रैची, डिजरैली, लिटन आदि सभी मन में कपट नीति के जाल हैं, हाय, भारत उनके जाल में फँस कर जर्जर हो गया है।"[1] उपर्युक्त शब्द बतलाएँगे कि भारतेन्दु अपने

१. सत्रु सत्रु लड़वाई, दूर रहि लखिय तमासा ।
प्रबल देखिए जाहि, ताहि मिलि दीजै आसा ॥
स्ट्रैची, डिजरैली, लिटन, चितय नीति के जाल ।
फँसि भारत जरजर भयो, काबुल युद्ध अकाल ॥

युग से कितने आगे थे। १८८५ में जबकि कांग्रेस की स्थापना भी नहीं हुई थी, भारत में कितने ऐसे लोग थे, जो शासकों की ऐसी कठोर आलोचना इतने स्पष्ट शब्दों में करने का सामर्थ्य रखते थे।

कुछ लोगों को यह भ्रम है कि भारतेन्दु की राष्ट्रीयता संकुचित हिन्दू राष्ट्रीयता के रूप में थी, किन्तु ऐसी बात नहीं है। उन्होंने अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति अपना गहरा अनुराग प्रकट किया। जो लोग धार्मिक विद्वेष फैला कर भारतीय एकता को दुर्बल करने में लगे हुए थे उनसे भारतेन्दु को बहुत चिढ़ थी। ध्यान रहे दयानन्द सरस्वती भी भारतेन्दु के समकालीन थे। यद्यपि स्वामी जी आर्यधर्म के उद्धार में लगे हुए थे, किन्तु दूसरे धर्मों का खण्डन करने वाला मार्ग भारतेन्दु जी को पसन्द नहीं था, अतः इसी मतभेद के कारण उन्होंने स्वामी जी की नीति का विरोध किया···

खण्डन जग में काको कीजै।
सब मत तो अपने ही हैं
इनको कहा उत्तर दीजै॥

× × ×

अपने ही पै क्रोधि बावरे अपनो काटै अङ्ग।
"हरिचन्द" ऐसे मतवारेन को कहा कीजै सङ्ग॥

—(भारतेन्दु ग्रन्थावली, २। १३६)

इसी प्रकार मुसलमानों को अपना भाई समझते हुए अपने बलिया वाले भाषण में उन्होंने कहा था, "आप लोगों में जाति नहीं, खाने पीने में चूल्हा चौका नहीं·····फिर भी बड़े सोच की बात है कि मुसलमानों ने अपनी दशा कुछ सुधारी नहीं। अभी तक बहुतों को यही ज्ञान है कि दिल्ली, लखनऊ की बादशाहत कायम है।"

वस्तुतः भारतेन्दु की व्यापक राष्ट्रीयता में सभी धर्मों, सभी भाषाओं को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। भारतेन्दु ने उर्दू, मराठी, गुजराती, पंजाबी, राजस्थानी आदि भाषाओं में भी काव्य रचना की थी, (द्रष्टव्य·····भारतेन्दु ग्रन्थावली, खण्ड २)। इस दृष्टि से वे अपने युग से बहुत आगे थे। जिस

समय बङ्गाल में बङ्किमचन्द्र अपने 'आनन्दमठ' में यह लिख रहे थे, "हमारी लड़ाई अंग्रेजों से नहीं, मुसलमानों से है"·····भारतेन्दु इसके विपरीत इस सत्य का प्रचार कर रहे थे, कि यदि मुसलमानी राज्य हैजे का रोग था तो अंग्रेजी राज्य क्षय का। (बादशाह दर्पण की भूमिका) उनका कथन था—"जब तक सौ दो सौ मनुष्य बदनाम न हो जायेंगे, कैद न होंगे, वरन् जान से न मारे जायेंगे तब तक कोई भी देश न सुधरेगा।"

अस्तु, भारतेन्दु साहित्य के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि १८५७ के अनन्तर राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम प्रवर्त्तक नेता भारतेन्दु थे। यह देश का दुर्भाग्य था कि उनका देहान्त ३४ वर्ष की अल्पावस्था में ही हो गया, यदि वे कुछ वर्ष भी और जीवित रहते तो कांग्रेस का आरम्भिक स्वरूप कुछ और ही होता।

यह भी खेद का विषय है कि ऐसे महान व्यक्ति का नाम भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन के इतिहास में अभी तक अङ्कित नहीं किया गया। इसे हिन्दी आलोचकों की अकर्मण्यता कहें या राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास लेखकों की अल्पज्ञता !

२०. द्विवेदी-युगीन कवियों की शृंगार-भावना

'द्विवेदी-मण्डल' का निर्माण महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'सरस्वती' (१९०३) के सम्पादक के रूप में अवतरित होने के साथ-साथ आरम्भ होता है। भारतेन्दु द्वारा परिवर्तित शृङ्गारात्मकता एवं सुधारवाद की प्रवृत्तियों में से द्विवेदी जी ने पहली का अवरोध किया एवं दूसरी का पूरी तरह पोषण। इन्हीं दिनों देश का राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक वातावरण भी एक नवीन क्रान्ति का अनुभव कर रहा था। राजनीति के क्षेत्र में इण्डियन नेशनल काँग्रेस की स्थापना तथा धर्म एवं समाज के क्षेत्र में आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज आदि द्वारा भारी विचार-परिवर्तन हो रहे थे। हमारे साहित्यकारों पर भी इस वातावरण का पर्याप्त प्रभाव पड़ा और वे राष्ट्रीय नेताओं को पूरी तरह कलम का सहयोग देने के लिए तैयार हो गये। क्रान्ति के बिगुल के सामने शृङ्गार की बाँसुरी सदा से ही उपेक्षित होती आई है, इसलिए इस युग में भी साहित्यकारों द्वारा शृङ्गार का बहिष्कार किया जाना स्वाभाविक था। लगभग पन्द्रह-बीस वर्षों में द्विवेदी जी के नेतृत्व में पर्याप्त संख्या में सुधारात्मक एवं आदर्शमय काव्य-ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी, तथा जिसमें शृङ्गार की सर्वथा उपेक्षा की गई थी। इसलिए सन् १९२४ ई० में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति पद से भाषण देते हुए 'हरिऔध' जी ने बड़े सन्तोष के साथ शृङ्गार रस की पराजय का उल्लेख करते हुए कहा था—"सौभाग्य की बात है कि दृष्टिकोण बदला है, परम कमनीय कलेवरा शृङ्गार रस की कविता सुन्दरी कवि मानस-समुच्चय सिंहासन से धीरे-धीरे उतर रही है और उस पर लोकोत्तर कान्तिवती जातीय राग रंजिता कविता देवी सादर समासीन हो रही है।"

(महाकवि हरिऔध : गिरिजादत्त शुक्ल पृष्ठ २६४)

उपर्युक्त शब्दों में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है—यद्यपि यहाँ शृङ्गार के पतन का स्वागत किया गया है पर उसे 'परम कमनीय' विशेषण

से भी भूषित किया गया है। यही बात इस बात की द्योतक है कि शृङ्गार का बहिष्कार होते रहने पर भी वह इन कवियों के हृदय के किसी एक कोने में छिपा बैठा रहा और अवसर आने पर प्रकट हो गया। इस मण्डल की श्रेष्ठ काव्य-रचनाएँ 'प्रिय-प्रवास', 'वैदेही वनवास', 'साकेत', 'यशोधरा' आदि में उसी बहिष्कृत शृङ्गाररस ने अपने क्रिया-कलापों का प्रदर्शन किया है। इतना अवश्य है कि अब उसका रूप स्थान-स्थान पर सुधारवाद के आवरण से प्रच्छन्न हो गया।

शृङ्गार-चित्रण

द्विवेदी-मण्डल के कवियों ने प्रायः प्रबन्ध काव्य लिखे हैं, अतः इनके काव्यों में भावानुकूल परिस्थितियों, वातावरण एवं प्रकृति का यथेष्ट चित्रण मिलता है जिसे हम रति-भावना के उद्दीपन के रूप में भी ग्रहण कर सकते हैं। संयोग-वियोग के अवसरों पर आश्रय की भावनाओं को उद्दीप्त कर देने वाली प्रकृति के चित्रणों से 'प्रिय-प्रवास' और 'साकेत' परिपूर्ण हैं। कृष्ण-वियोग के समय राधा की मनःस्थिति के रङ्ग से रंजित प्रकृति का एक चित्र द्रष्टव्य है—

"यह सकल दिशाएँ आज रो सी रही हैं।
यह सदन हमारा है हमें काट खाता।
मन उचट रहा है चैन पाता नहीं है।
विजन विपिन में है भागता सा दिखाता है।"

रीतिकालीन कवियों से इनके उद्दीपन-चित्रण की कुछ विशेषताएँ ये हैं—

(१) इन्होंने प्रकृति के अनुरंजित रूप का मूल कारण आश्रय की व्यक्तिगत परिस्थिति को ही माना। रीतिकालीन कवियों की तरह से प्रकृति को ही मूल-प्रेरक मान कर उसे भला-बुरा नहीं कहा (यथा—ह्वै के द्विजराज, काज करत कसाइ कै!")

(२) इन्होंने परम्परानुसार षड्ऋतु एवं बारहमासा वर्णन नहीं किया।

(३) इन्होंने प्रकृति के विभिन्न अङ्गों को व्यापक दृष्टि से देख कर उनका वर्णन किया।

आलम्बन-चित्रण

द्विवेदी-मण्डल के कवियों ने यथा-स्थान नारी-सौन्दर्य का चित्रण बड़े विस्तार के साथ किया है। इनके काव्य की नायिकाएँ प्रायः प्राचीन आदर्श श्रद्धामयी नारियाँ—सीता, राधा, ऊर्मिला आदि हैं। प्रिय-प्रवास की 'राधा' के सौन्दर्य की एक झलक देखिये—

"रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेन्दु विम्बानना।
तन्वङ्गी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली॥
× × ×
नाना भाव विभाव हाव-कुशला आमोद आपूरिता।
लीला-लोल-कटाक्ष-पात निपुणा भ्रूभङ्गिमा पण्डिता।
× × ×
राधा थीं सुमना प्रसन्न-वदना स्त्रीजाति रत्नोपमा।

—(प्रि० प्र० चतुर्थ सर्ग ४-८)

इसी प्रकार साकेत की ऊर्मिला का एक चित्र है—

"यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई,
आप विधि के हाथ से ढाली गई।
× × ×
शाण पर सब अङ्ग मानो चढ़ चुके,
प्राण फिर उनमें पड़े जब गढ़ चुके।
झलकता आता अभी तारुण्य है,
आ गुराई से मिला आरुण्य है!"

—(प्रथम सर्ग)

इन कवियों ने नारी-सौन्दर्य का चित्रण निरपेक्ष दृष्टि से किया है। रीतिकालीन कवि नारी-सौन्दर्य में अपनी अनुभूति का पुट देकर उसे अत्यधिक मोहक बना देता था, किन्तु इन कवियों का उद्देश्य उनसे भिन्न था। ये इन नारी-पात्रों के प्रति पाठक की श्रद्धा-पूर्ण दृष्टि को आकर्षित करना चाहते हैं—वासनापूर्ण दृष्टि नहीं। इनके आदर्श पात्र किसी भी दृष्टि से न्यून नहीं

हैं—सौन्दर्य की दृष्टि से भी नहीं—बस इसी तथ्य को सिद्ध करने के लिए ये कवि अपने पात्रों को सौन्दर्य-श्री से भारावनत करते हैं।

कवियों के इसी दृष्टिकोण के फलस्वरूप नारी के कुछ अङ्ग विशेषों एवं उसके हाव-भावादि के चित्रण का इनके काव्य में सर्वथा अभाव है।

आश्रय-चित्रण

जैसा कि पहले कहा गया है, ये कवि जान-बूझ कर शृङ्गार-रस की उपेक्षा करने की चेष्टा कर रहे थे, अतः इनके काव्य में शृङ्गार की विविध परिस्थितियों एवं भावदशाओं का चित्रण सम्भव नहीं था। शृङ्गार रस के अधिराज कृष्ण जैसे पात्र को लेकर लिखे गये काव्यों में भी शृङ्गार को गौण स्थान मिला है। 'प्रिय-प्रवास' और 'साकेत' में शृङ्गार-रस की कोटि में जो वर्णन आ सकता है वह सारा वियोग शृङ्गार ही है; संयोग तो किंचित् मात्र ही है। प्रिय-प्रवास की गोपिकाएं अपनी संयोग अनुभूतियों का वर्णन उद्धव के समक्ष पूर्व-स्मृति के रूप में करती हैं। वह वर्णन संयोग के उल्लास से ओत-प्रोत नहीं है अपितु वह वियोग के आँसुओं से ही आर्द्र है; अतः प्रभाव की दृष्टि से वह 'संयोग-वर्णन' के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता। 'साकेत' के प्रथम-सर्ग में ऊर्मिला-लक्ष्मण की संयुक्त झाँकी में उनके मधुर दाम्पत्य के दर्शन अवश्य होते हैं। इस दृश्य में संलाप के द्वारा दोनों के हृदयस्थ प्रेम का निदर्शन कराया गया है—

ऊर्मिला बोली 'अजी, तुम जग गये ?
स्वप्न-निधि से नयन कब से लग गये ?'

इस प्रश्न का उत्तर लक्ष्मण इन मधुर शब्दों में देते हैं—

"मोहनी ने मन्त्र पढ़ जब से छुआ !"

इसी प्रकार एक अन्य प्रसङ्ग में जब लक्ष्मण अपने आपको प्रेयसी का दास तक घोषित कर देते हैं तो ऊर्मिला चट एक चतुर तरुणी की भाँति विनोद पूर्वक कहती है—

"दास बनने का बहाना किसलिए ?
क्या मुझे दासी कहाना, इसलिए ?"

इन संयोग चित्रों में अन्तरङ्ग जीवन की एक स्वच्छ एवं मधुर वृत्तियों का चित्रण किया गया है। इन चित्रों में शारीरिकता का लवलेश भी नहीं है। यदि इस प्रकार के संलाप कुछ अधिक मात्रा में, कुछ अधिक कोमल स्वरों में होते तो भी 'संयोग-वर्णन' के अभाव की पूर्त्ति हो सकती थी, किन्तु ऐसे दृश्य भी इनके काव्य में बहुत थोड़े हैं।

'प्रिय-प्रवास' और 'साकेत' दोनों ही वियोगानुभूतियों के चित्रण के लक्ष्य से लिखी गई काव्य-कृतियाँ हैं, दोनों में ही वियोग चित्रण को अन्य सब विषयों की अपेक्षा अधिक विस्तार दिया गया है। पर जहाँ 'साकेत' का वियोग केवल 'शृङ्गार रस' से सम्बन्ध रखता है, 'प्रिय-प्रवास' का वात्सल्य, एवं मैत्री भाव से भी। 'प्रिय-प्रवास' में कवि ने कृष्ण के मथुरागमन से पूर्व तथा उद्धव-आगमनोपरान्त राधा की हृदय-दशा के उद्घाटन के पहले यशोदा के वात्सल्य-पूर्ण हृदय का सूक्ष्म-चित्र अङ्कित किया है। अतः प्रिय-प्रवास के वियोग पक्ष में भी शृङ्गार का स्थान 'वात्सल्य' के बाद ही है। राधा की अवतारणा कवि ने 'चतुर्थ-सर्ग' में की है जबकि वह कृष्ण-प्रवास के प्रसङ्ग से व्याकुल है। भावी घटना से त्रस्त हृदय का कवि ने अत्यन्त ही मार्मिक चित्र उपस्थित किया है—

"अयि सखि ! अवलोके खिन्नता तू कहेगी।
प्रिय स्वजन किसी के क्या न जाते कहीं हैं।
पर हृदय न जाने दग्ध क्यों हो रहा है।
सब जगत हमें है शून्य होता दिखाता !"

(४–३१)

कृष्ण-विदा बेला का वर्णन करते समय कवि ने राधा के वेदना-पूर्ण हृदय का अत्यन्त सफलतापूर्वक निदर्शन कराया है। विरहिणी राधा 'पवन' को दूत बनाकर कृष्ण के पास संदेश भी भेजती है। सम्भवतः कालिदास के 'मेघदूत' से ही कवि को इसकी प्रेरणा मिली होगी क्योंकि इसमें भी मूल-सन्देश की अपेक्षा मार्ग की घटनाओं का, अपने दुःख की अपेक्षा सन्देश-वाहक (पवन या मेघ) की अनुभूतियों एवं क्रिया-कलापों का वर्णन अधिक है। 'मेघदूत' का यक्ष अपने-आपको शोकातुरता के कारण जड़प्रायः मानता है; अतः

उसका निर्जीव मेघ से संलाप करना क्षम्य कहा जा सकता है, किन्तु 'प्रिय-प्रवास' की राधा पूरी तरह सचेत और संयमावस्था में है, अतः पवन के साथ उसका इतना लम्बा-चौड़ा वार्तालाप अस्वाभाविकता ही उत्पन्न करता है। भावोन्माद की अवस्था में विरह-व्यथित प्राणी—संसार की तो क्या—स्वयं अपनी ही सुध-बुध भूल जाता है; किन्तु 'प्रिय-प्रवास' की राधा के साथ ऐसा नहीं होता। वह पवन को सन्देश देते समय मार्ग में मिलने वाले पथिकों, श्रमिकों, कृषक-ललनाओं, वन, उपवन आदि-आदि का ऐसा वर्णन करती है जो मस्तिष्क की पूर्ण शान्तावस्था एवं सचेत बुद्धि द्वारा ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त उसके शब्दों से वेदनापूर्ण चंचल उत्तेजित अवस्था का भान नहीं होता; उसके स्वर में आतुरता, आकुलता नहीं टपकती, अपितु ऐसा लगता है मानो कोई समाज-सेविका अपनी शिष्या पवन-पुत्री को परोपकार का पाठ बड़ी ही शान्ति से पढ़ा रही हो! इसमें कोई सन्देह नहीं कि इससे कवि की राधा परोपकारशीलता के गुण से भूषित हो गई, पर इससे एक असङ्गति भी उत्पन्न हो गई जो भावुकता एवं मनोविज्ञान की दृष्टि से उचित नहीं। जहाँ राधा की सभी मानसिक वृत्तियों का कृष्ण में—प्रेमाधार में—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से केन्द्रीकरण हो जाना चाहिए था, वहाँ कवि ने विकेन्द्रीकरण कर दिया है। और अन्त में राधा का सम्बन्ध कृष्ण के स्थूल व्यक्तित्व के साथ इतना ही रह जाता है कि—

'प्यारे जीवें, जग-हित करें, गेह चाहे न आवें!'

कवि ने यहाँ राधिका के प्रेम का उन्नयन—विश्व-प्रेम में दिखाया है जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित नहीं। प्रेम का उन्नयन कुछ विशेष परिस्थितियों में हो सकता है; या तो कृष्ण इतनी अधिक दूर चले जाते जहाँ से लौटना उनके वश की बात न होती; या वे राधा को स्पष्टतः निराश कर देते कि 'मैं तुम से प्रेम नहीं करता'। केवल प्रेमी के प्रवास चले जाने के कुछ वर्षों पश्चात्—और वह भी दस-बीस मील पर ही—प्रेमिका का यह कहना कि 'वे चाहे घर न आवें' उचित प्रतीत नहीं होता। प्रेमिका के लिए प्रेमी के व्यक्तित्व का सामीप्य—उसके लिए सबसे बड़ी आकांक्षा होती है।

सूरदास की गोपियों ने इसी परिस्थिति में कृष्ण को बुरा-भला कहा है; वे 'प्रिय-प्रवास' की राधा की तरह शान्त और संयमित नहीं रह सकी थीं ! उनकी वेदना ने बुद्धि और नीति के बाँध को चकनाचूर कर दिया था। वस्तुतः प्रेमिका के लिए यही स्वाभाविक है ! पर द्विवेदी-मण्डल के कवियों की नायिकाओं का हृदय तो प्रेम के क्षेत्र में 'वेदना-प्रूफ' प्रतीत होता है !

२१. साकेत में वियोग-वर्णन

साकेत की रचना ऊर्मिला के विरहोद्गारों की अभिव्यंजना के लक्ष्य से ही हुई थी; अतः उसमें विरह-वर्णन का आधिक्य होना स्वाभाविक ही है। कुछ विद्वानों ने ऊर्मिला के अतिशय अश्रुवर्षण को अनुचित माना है, किन्तु हमारे विचार से ऊर्मिला की परिस्थितियों को देखते हुए ऐसा नहीं कहा जा सकता। चौदह वर्ष पश्चात् तो लक्ष्मण के आने की आशा थी, यह तथ्य भी उसकी परिस्थिति की कठोरता को कम नहीं करता। यदि ऊर्मिला के दृष्टिकोण से विचार करें तो यह तथ्य निराशा-जनक ही था, क्योंकि यदि अवधि की सीमा न होती तो वह किसी भी समय उनके पुनरागमन की आशा कर सकती थी। चौदह वर्ष पश्चात् भी न जाने क्या घटित हो सकता है? अतः हमें कवि का यह कथन कि 'नवम सर्ग मेरी भावना के अनुसार आज भी अधूरा है.' उचित प्रतीत होता है।

साकेत के विरह-वर्णन को यदि हम प्रभावोत्पादन की दृष्टि से परखें तो निराशा ही होगी। ऊर्मिला कभी भोजन के थाल को ठुकराती है, कभी वीणा, पुस्तक, तूलिका आदि की गिनती करती है; कभी चित्रकूट गिरि की स्तुति में लम्बा गीत गाती है; कभी वन के दृश्यों का चित्रण करती है; कभी सारिका से वार्तालाप करती है; कभी वेदना को बालिका समझकर गोद में लेती है; कभी दीपक और पतङ्ग पर दार्शनिक विचार प्रकट करती है; कभी 'गूँगी निंदिया' को बुलाती है और फिर क्रमशः चातक, घन, इन्दुबधू, खंजन, भ्रमरी, क्रौंच पक्षी, मयङ्क आदि से विचार-विनिमय करती है। कदाचित् बाह्य संसार का कोई पदार्थ नहीं—जिसे विरहिणी ऊर्मिला देखती नहीं या जिससे बात-चीत नहीं करती। और तो और मकड़ी तक से उसने प्यार किया है! यह माना जाता है कि विरह-वेदना में प्राणी गति-शून्य एवं मौन हो जाता है; उसकी इन्द्रियाँ प्रिय के ध्यान में इस तरह लीन हो जाती हैं कि वे बाह्य संसार को देखकर भी उनकी अनुभूति प्राप्त नहीं करतीं। पर ऊर्मिला की दशा इससे विपरीत दिखाई गई है। इससे पाठक यह तो

अनुभव करता है कि ऊर्मिला कुछ उद्विग्न-सी है, कुछ दिक्षिप्त-सी है; किन्तु उसके हृदय की प्रणय-भावना का परिचय उसे नहीं मिलता। इतने लम्बे-चौड़े नवम सर्ग में लक्ष्मण से सीधा सम्बन्ध रखने वाले छन्द दस-बीस ही हैं। वस्तुतः हृदय की सूक्ष्म वेदनाओं की अभिव्यंजना के लिए कवि ने जिस इतिवृत्तात्मक एवं बाह्य निरूपणात्मक शैली का आश्रय लिया है वह सफल सिद्ध नहीं हुई।

दूसरे, कवि ने बीच-बीच में 'वेदना', 'निद्रा', 'काम', 'मलयानल' आदि का मानवीकरण करके ऐसे पात्रों के रूप में उपस्थित कर दिया है, जिनसे ऊर्मिला बात करती है और कभी उन्हें बुलाती है, कभी धमकाती है तथा कभी उन्हें दुतकार देती है। यथा 'कामदेव' से वह कहती है—

"मुझे फूल मत मारो !
मैं अबला बाल वियोगिनी कुछ तो दया विचारो !"

इस प्रकार के वार्तालाप प्रसङ्ग की स्वाभाविकता को नष्ट कर देते हैं। कवि अपनी बात कहने के लिए मानवीकरण कर सकता है किन्तु इस सीमा तक नहीं कि काव्यगत पात्र ही उनसे आलाप, सम्भाषण करना आरम्भ कर दे।

साकेत के गीतों की प्रशंसा में भी बहुत कुछ कहा गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आत्म-वेदना की अभिव्यक्ति के लिए गीत एक श्रेष्ठ साधन है, पर साकेत के गीतों में विरहिणी ऊर्मिला वैयक्तिक दुःख को अभिव्यक्त नहीं करती अपितु वह बाह्य संसार के ही गुण-गान करती है। 'ओ गौरव-गिरि उच्च उदार', 'वेदने तू भी भली बनी !', 'विरह संग अभिसार भी !', 'दोनों ओर प्रेम पलता है !' आदि सभी गीतों में ऊर्मिला ने बाह्य संसार का वर्णन किया है। यह समझ में नहीं आता कि विरह-वेदना के सागर में डूबी हुई असहाय नवयुवती बाला को प्रकृति-गुण-गान की क्या आवश्यकता पड़ गई ! वह दार्शनिक की भांति विरह के गुण-दोषों का विवेचन करती है—किसानों के महत्त्व का अङ्कन करती है ! इन गीतों में किसी व्यथित नारी का वेदनापूर्ण स्वर सुनाई नहीं देता, लगता है वहाँ कोई कवि अपनी कवित्व-शक्ति का प्रदर्शन; दार्शनिकता एवं अलङ्कारिकता का प्रदर्शन कर रहा है !

साकेत के विरह-वर्णन को अति आदर्शवाद से भी ठेस पहुँची है। वेदना के इन कठोरतम शब्दों में भी—रनिवास की वासिनी होते हुए भी ऊर्मिला खेती-बारी के हाल-चाल तो पूछती ही है, साथ ही वह बीस पंक्तियों में कृषक की महानता के विषय पर एक उपदेशपूर्ण व्याख्यान भी देती है। लक्ष्मण को स्वप्न में भी घर आया देखकर वह चीख पडती है—लौट जाओ ! लौट जाओ !! (प्रिय, फिरो ! फिरो हा ! फिरो, फिरो !) कहना न होगा कि ऊर्मिला को आदर्शवादिनी बनाने की धुन में ही ये सारे अनावश्यक एवं अस्वाभाविक प्रसङ्ग जोड़े गये हैं। आदर्शवादी एवं मर्यादा-शील तुलसी भी कम न थे, किन्तु उनके भी दृढ़-प्रतिज्ञ दशरथ वेदना के अतिशय वेग में सुमन्त को कहते हैं—"रथ चढ़ाइ देखराइ बनु, फिरेहु गएँ दिन चारि।" यही नहीं वे एक क्षीण आशा भी—यद्यपि यह आशा एक भ्रममात्र ही थी—रखते हैं कि कदाचित् राम लौट आवेंगे। इसीलिए सुमन्त के लौटने पर पूछते हैं—

"आने फेरि कि बनहि सिधाए।"

भावना के प्रबल वेग में मनुष्य का कुछ क्षणों के लिए बुद्धि-व्यापार एवं नीति-नियमों को भूल जाना ही स्वाभाविक है ! इसीलिए तुलसी ने ऐसा लिखा है, इससे दशरथ की महानता को आघात नहीं पहुँचता, अपितु उनके वात्सल्य-भाव की दृढ़ता का ही पता लगता है !

द्विवेदी-मण्डल के काव्य-ग्रन्थों के चित्रण की स्वाभाविकता को ठेस पहुँचाने वाला एक और तथ्य है पौराणिक पात्रों की वास्तविक बुराइयों—न्यूनताओं पर लीपापोती करने का प्रयास। परम्परागत चरित्र के अनुसार कृष्ण एक रस-लोलुप-भ्रमर ही सिद्ध होते हैं, जो मथुरा में जाकर गोपियों को भुला देते हैं। इसीलिए सूरदास, नन्ददास आदि प्राचीन कवियों ने भ्रमरगीत प्रसंग में उन्हें पर्याप्त उपालम्भ का भागी बनाया है। पर 'हरिऔध' जी ने प्रिय-प्रवास के श्रीकृष्ण को सच्चा प्रेमी सिद्ध करने के लिए उनसे कहलवाया है—

"देखो यद्यपि है अपार, ब्रज के प्रस्थान की कामना।
होता मैं तब भी निरस्त, नित हूँ व्यापी द्विधा में पड़ा॥"

—(नवम सर्ग)

केवल कार्य-व्यस्तता के कारण ही एक व्यक्ति का अपने परिजनों से—जो कि केवल तीन-चार कोस की ही दूरी पर बैठे हैं—कभी न मिल पाना उचित कारण नहीं कहा जा सकता।

इसी प्रकार लक्ष्मण का भी परम्परागत जीवन-चरित्र भ्रातृत्व से ही ओत-प्रोत है जिसमें दाम्पत्य-भाव सदैव उपेक्षित रहा। पर गुप्तजी ने साकेत में लक्ष्मण को दाम्पत्य-भाव से भी पूर्णतः ओत-प्रोत दिखाया है। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है—लक्ष्मण अपने साथ ऊर्मिला को वन में क्यों नहीं ले गये? या लक्ष्मण ऊर्मिला को छोड़ कर राम के साथ क्यों गये? यदि यह कहा जाय कि लक्ष्मण के साथ न जाने पर या ऊर्मिला के साथ ले जाने पर राम की पूरी तरह सेवा नहीं हो सकती थी तो यह भी उचित नहीं। जहां तक सेवा का सम्बन्ध है, राम अपने साथ एक-दो विश्वास पात्र सेवक ले जा सकते थे। यदि सीता साथ जा सकती थी तो ऊर्मिला को भी ले जाने में कोई आपत्ति नहीं थी। अन्यथा राम के लिए भी यह उचित नहीं था कि वे लक्ष्मण को अपने साथ ले जाते। लक्ष्मण को तो बनवास जाने की शर्त वरदान में भी नहीं थी, अतः यदि राम चाहते तो उन्हें भी भरत की ही भांति अयोध्या लौटा सकते थे।

वस्तुतः जैसा दाम्पत्य-भाव गुप्तजी ने लक्ष्मण में दिखाया है वह उनके क्रिया-कलापों से मेल नहीं खाता। यह भी आश्चर्य की बात है कि ऊर्मिला ने भी वन में जाने का आग्रह एक बार भी नहीं किया, जबकि यह बात मर्यादा-विरुद्ध भी नहीं थी।

वस्तुतः इन कवियों ने जिन पौराणिक व ऐतिहासिक कथानकों को अपनाया उनकी मुख्य घटनाओं में तो वे परिवर्तन कर नहीं सकते थे, और ऐसा किए बिना चरित्र का विकास दिखाना असंगत बेमेल सिद्ध हुआ।

रस-सृष्टि

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि इन कवियों ने शृङ्गार की केवल एक ही दशा—विरह को ही अपने काव्य में स्थान दिया। पर वह भी अति-आदर्शवादिता, अस्वाभाविक चित्रण एवं इतिवृत्तात्मक शैली के कारण प्रभाव-

शून्य हो गया है। वस्तुतः इन कवियों का उद्देश्य भी प्रणय-भाव का विकास करना नहीं था। अतः इनके काव्यों में शृङ्गार का चरम-विकास संभव नहीं था। जिस प्रेम-रस के वैभव से हिन्दी का अधिकांश काव्य ओत-प्रोत है, उस पर इतना कठोर नियंत्रण करने का श्रेय सबसे पहले द्विवेदी-मंडल के कवियों को ही है। इन कवियों की आदर्शवादिता एवं मर्यादाशीलता तुलसी की आदर्शवादिता एवं मर्यादाशीलता से भी आगे बढ़ जाती है।

२२. 'गुञ्जन' का कवि उन्मन क्यों ?

महाकवि पन्त ने अपने गुञ्जन की भूमिका में लिखा है कि 'यह मेरे प्राणों का उन्मन गुञ्जन' है। इस संग्रह का नाम भी 'गुञ्जन' है। इसकी प्रथम कविता में भी इसी उन्मन गुंजन का भाव व्यक्त है—

"उन्मन उन्मन गुंजन।
नववय के अलियों का गुंजन॥"

अतः इस पंक्ति का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है। हमारे अनेक विद्वानों ने भी इस पंक्ति की व्याख्या की है किन्तु फिर भी वे इसे भली-भांति स्पष्ट नहीं कर पाए। इन विद्वानों ने यहां 'उन्मन' का अर्थ उदासीन करते हुए बताया है कि गुंजन में कवि ने अपनी उदासीनता को व्यक्त किया है। या यों कहिए कि गुंजन का कवि उदास है। इस उदासीनता का कारण क्या है ? इसका उत्तर देते हुए श्री शान्तिप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "पन्त का पूर्व कवि कठिन बचपन नहीं कोमल बचपन लेकर आया था। इस लिए इसकी कोमलता में करुणा का संस्कार भी था। आज के असह्य पीड़न को देख कर वह अपनी हँसी-खुशी को भूल गया।" डा० कन्हैयालाल सहल ने भी 'उन्मन' का अर्थ उदासी करते हुए इस का मूल कारण भौतिक दुःखों को ही बताया है। वे लिखते हैं—"मनुष्य की व्याधि की कोई सीमा नहीं तो फिर उस का गुंजन उन्मन न हो तो क्या हो।" हमारे विचार से यहाँ "उन्मन" का अर्थ उदासी करना उपयुक्त नहीं। उदास व्यक्ति गुंजन न करके गुम-सुम रहता है। गुंजन के पीछे तो हृदय के उल्लास और सुखमय अनुभूतियों की अभिव्यक्ति होती है। अतः गुंजन के साथ उदास विशेषण ही असंगत है। उदास और गुंजन का कोई मेल नहीं। दूसरे, गुंजन का कवि कहीं भी उदास नहीं दिखाई देता। उदास वह होता है जो दुःख से डरता है। किन्तु गुंजन का कवि तो सुख के साथ-साथ दुःख का आलिंगन करने को भी प्रस्तुत है। उदास व्यक्ति घर बसाने की बात नहीं सोचता। उसका मुख जंगल की ओर रहता है। गुंजन का कवि अपनी "भावी पत्नी" की प्रतीक्षा में व्यस्त रहता

है। अपने हृदय-मन्दिर की दीवारों को भावनाओं के सौन्दर्य द्वारा शत-शत बार सुसज्जित करता है। वास्तव में "उन्मन" शब्द के कई अर्थ हैं—उदास, चंचल आदि। चंचलता और गुंजार का मेल भी है। जब हृदय में प्रेम की चंचलता उमड़ती है तो वह शत-शत गीतों में स्वतः ही गुंजरित हो उठता है। गुंजन की प्रथम कविता में भी हृदय की इसी चंचलता का चित्रण मिलता है। कुछ पंक्तियां देखिये—

नीले-नीले ताम्र बौर,
रे गंध-अंध मदमस्त भौंर।

× × ×

अर्थात् भँवरे वसन्त में कलियों के सौन्दर्य को देख कर चंचल हो उठते हैं। यही चंचलता उनके गीतों में फूट पड़ती है। क्या वसन्त में गुंजार करने वाले भंवरे को उदास माना जा सकता है ?

इस सारी कविता में एक रूपक दिया गया है जिससे 'उन्मन' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। वसन्त इसमें यौवन का प्रतीक है, फूली हुई कलियाँ नवयुवतियों की प्रतीक हैं, गुंजार या गुंजन छायावादी गीतों का प्रतीक है। जिस प्रकार कलियों के रस को लूटने के लिए भंवरे चंचल हो उठते हैं, उसी भांति संसार के सौन्दर्य को पाने के लिए हमारे ये तरुण कवि जिनमें पन्त भी हैं, चंचल हो उठते हैं। इसका प्रमाण निम्नांकित पंक्तियों से मिल सकता है–

छाया उन्मन-उन्मन गुंजन, नववय के अलियों का गुंजन
जीवन मधु संचय को उन्मन × ×

अस्तु, इस कविता से स्पष्ट है कि गुंजन का कवि उदास नहीं चंचल है। जो उदासी और चंचलता को एक समझते हैं, वे भूल करते हैं। उदासी के कारण व्यक्ति निष्क्रिय हो जाता है जबकि चंचलता के कारण व्यक्ति अति-क्रियाशील हो जाता है। गुंजन का कवि निष्क्रिय नहीं अपितु क्रियाशील है।

प्रश्न है कि इस चंचलता का कारण क्या है ? इसके उत्तर में हम निम्नांकित आधार प्रस्तुत कर सकते हैं—

(१) जैसा कि ऊपर कहा गया है कि कवि की यह चंचलता वैसी ही है जैसी वसन्त रूपी यौवन के आगमन के कारण नव प्रस्फुटित कलियों को

देख कर भंवरे चंचल होने लगते हैं। गुंजन की रचना-काल के समय कवि अपने यौवन की चरम सीमा पर था। अतः उसका चंचल होना स्वाभाविक है। गुंजन की कुछ कविताएँ भी कवि की इस उत्तेजित अवस्था को सूचित करती हैं। 'भावी पत्नी के प्रति' कविता में स्थूल मिलन का चित्रण जिन शब्दों में किया है, वह उनकी वासनाजन्य चंचलता का प्रमाण है।

(२) अब तक कवि का दृष्टिकोण पलायनवादी था, किन्तु गुंजन में आकर उसका दृष्टिकोण प्रवृत्ति मूलक हो गया। जहां निवृत्ति उदासीनता को जन्म देती है वहां प्रवृत्ति सांसारिक चंचलता को।

(३) अब तक कवि नारी-सौन्दर्य को केवल देखने की वस्तु समझता था, किन्तु गुंजन में आकर वह उसके उपयोग का आकांक्षी होता है। अस्तु, उपयोग की लालसा से चंचलता का आना स्वाभाविक है।

उपर्युक्त परिस्थितियों ने मिल कर 'गुंजन' के कवि को इतना चंचल बना दिया है कि वह एक क्षण के लिए भी पूर्ण शान्ति नहीं प्राप्त कर पाता। चाहे वह स्वच्छ, मधुरशील चांदनी रात में नौका-विहार कर रहा हो या वह संध्याकालीन अरुणिमा में प्रस्फुटित प्रथम नक्षत्र के दर्शनों के साक्षात्कार में लीन हो रहा हो उसके हृदय में परिस्थितियों की कटुता का विस्फोट और अतृप्त वासना का उद्वेलन इस प्रकार हो उठता है कि वह अपनी प्रसन्नता को भूल कर चंचल हो उठता है।

---

२३. "पथिक! प्रेम की राह अनोखी"

(प्रसाद के 'प्रेम-पथिक' का विवेचन)

प्रसाद का 'प्रेम-पथिक' मूलरूप में ब्रजभाषा में लिखा गया था, जिसका कुछ अंश "इन्दु" में प्रकाशित हो चुका था। इसी का परिवर्तित, परिवर्द्धित एवं रूपान्तरित संस्करण खड़ी बोली में सन् १९१४ ई० में प्रकाशित हुआ। यह एक प्रणय भावनाओं से ओत-प्रोत कल्पना प्रधान छोटा सा प्रबन्ध काव्य है। कवि आत्माभिव्यंजक शैली में अपने विगत जीवन की करुण गाथा एक तपस्विनी को सुनाता है जिसकी कुटिया में वह विश्राम के लिए रात्रि व्यतीत करता है। तापसीबाला उससे प्रश्न करती है, 'हे पथिक, अपना यह वेश बना कर वन-वन में क्यों फिरते हो ?' इसके उत्तर में वह प्रेम मार्ग का राही अपने अतीत की कष्टपूर्ण स्मृतियों को अनुभूति पूर्ण शब्दों में सुनाने लगता है। उसकी बाल्यावस्था में ही पिता का देहान्त हो जाने के कारण उसका लालन-पोषण पिता के मित्र के घर में हुआ। उसी घर में उसका परिचय एक अपूर्व सुन्दरी बाला पुतली के साथ हुआ। उसके साहचर्य के कारण कवि का जीवन प्रसन्नता और माधुर्य से ओत-प्रोत हो गया था—

नित्य नई क्रीडा होती थी सुख से था संसार बना।
खेल खेल कर खुली हृदय की कली मधुर मकरन्द हुआ॥

× × ×

शीतल पवन लिये अङ्गों को कँपा दिया करती थी जो,
वे जाड़े की लम्बी रातें बातों में कट जाती थीं।
नया नया उल्लास कुसुम अवचय का मन में उठता था,
संध्या और सवेरा दोनों ही प्रकाशमय होता था।

× × ×

भद्रे, वे सब बीती बातें कैसे कहूँ, गिनाऊँ मैं।

इसी प्रकार दोनों के जीवन की मधुर चर्या चल रही थी कि एक दिन उन्होंने देखा, घर में सभी परिजन और पौरजन एकत्रित होकर किसी विशेष

समारोह का आयोजन कर रहे हैं। पूछने पर बताया गया, तुम्हारे चाचा की पुतली का फल-दान जा रहा है। वह अल्हड़ किशोर इसका कोई अर्थ नहीं समझ सका। उसे क्या पता था कि इस फल-दान में उसके जीवन की समस्त आशाओं और मधुरिमाओं का बलिदान निहित है। और एक दिन उसने अपने आश्चर्य विह्वल नेत्रों से देखा कि पुतली का विवाह उस व्यक्ति से हो रहा है जिससे वह जरा भी परिचित नहीं, उसका हृदय रो पड़ा ... ...

किन्तु कौन सुनता उस शहनाई में हृत्तन्त्री झङ्कार।
जो नौबतखाने में बजती थी अपनी गहरी धुन में,
रूखा शीशा जो टूटे सो सब कोई सुन पाता है,
कुचला जाना हृदय कुसुम का किसे सुनाई पड़ता है।

× × ×

खड़ा देखता था मैं भी घर के कोने से अभिनय को,
जीवन की सर्वस्व, प्रेम की पुतली, किसको अर्पित है?

× × ×

भग्न हृदय उस गृह से बिछुड़ा, जैसा टूटा फल तरु से।

अन्त में अपनी कहानी सुनाने के अनन्तर जब पथिक ने तापसी के व्यथापूर्ण चेहरे की ओर देखा तो उसे ज्ञात हुआ कि वह कोई और नहीं, उसकी बाल सहचरी पुतली ही है। पति की मृत्यु के अनन्तर घर के वातावरण से निराश होकर, इस सुनसान प्रदेश में वह इस प्रकार जीवन बिताने के लिए बाध्य होगई थी। युगों के बाद दो भूले-भटके प्राण फिर मिले, किन्तु उनका यह मिलन क्षुद्र शारीरिक मिलन नहीं था, दो आत्माओं का दिव्य आध्यात्मिक स्तर का मिलन था।

प्रेरणा-स्रोत

यद्यपि यह रचना कवि की निजी अनुभूतियों से ओत-प्रोत है, किन्तु इसके कथानक का मूल स्रोत श्रीधर पाठक द्वारा अनुवादित 'एकान्तवासी योगी' (मूल रचना गोल्डस्मिथ का हर्मिट) है। दोनों की कथावस्तु में गहरा साम्य है, दोनों में ही प्रेमी-प्रेमिका में से एक आश्रयदाता है और दूसरा

पथिक। दोनों में ही पथिक अपने निराश प्रेम की कहानी सुनाता है और अन्त में श्रोता कोई और नहीं, वही व्यक्ति सिद्ध होता है, जिसके लिए पथिक दुःखी है। प्रसाद जी ने 'एकान्तवासी योगी' के कथानक में भारतीयता लाने के लिए यत्र-तत्र परिवर्तन भी कर दिया है। भारत में पथिकों का आतिथ्य गृहस्वामिनियों द्वारा ही होने की परम्परा रही है, अतः 'प्रेम पथिक' में भी पथिक पुरुष है और आश्रयदाता स्त्री। इसके अतिरिक्त पाठक जी के प्रेमी युग्म के प्रणय की असफलता का कारण नायिका की उपेक्षा है, जबकि प्रसाद ने पारिवारिक एवं सामाजिक परिस्थितियों को व्यवधान के रूप में चित्रित किया है। 'एकान्तवासी योगी' में प्रेम का उदय सौन्दर्य की प्रेरणा से होता है तथा उसका स्वरूप प्रारम्भ में एकांगी रहता है जबकि प्रसाद जी ने उसका क्रमिक विकास साहचर्य द्वारा दिखाते हुए उसे उभयपक्षीय व्यंजित किया है जो अधिक मार्मिक है। यह भी ध्यान रहे कि बीसवीं शताब्दी में प्रेम के क्षेत्र में निराश होने वाले भारतीय नवयुवकों में से अधिकांश को असफलता का सामना माता-पिता द्वारा कन्याओं के विवाह में होने वाले हस्तक्षेप के कारण ही करना पड़ता है। सुमित्रानन्दन पन्त ने अपनी 'ग्रन्थि' में भी प्रणय की दुखान्त परिणति के मूल में इन्हीं परिस्थितियों का वर्णन किया है। उनमें भी माता-पिता के द्वारा नायिका का ग्रन्थि-बन्धन किसी और से हो जाता है, और नायक का हृदय इन शब्दों में उफन पड़ता है·····

कौन दोषी है ? यही तो न्याय है।
वह मधुप बिंध कर तड़पता है, उधर
दग्ध चातक तरसता है, विश्व का
नियम है यह, रो, अभागे हृदय, रो।

अस्तु, कहना चाहिए कि 'प्रेम पथिक' का बाह्य ढाँचा पाश्चात्य रचना 'एकान्तवासी' 'गोल्डस्मिथ के हर्मिट' से गृहीत है किन्तु उसकी अन्तरात्मा कवि के अपने युग, समाज और जीवन की अनुभूतियों से अनुप्राणित है।

काव्यत्व

काव्यत्व की दृष्टि से 'प्रेम-पथिक' एक अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की रचना है। यद्यपि इस प्रकार के लघु प्रबन्ध काव्य—'अयोध्या का उद्धार',

'वन-मिलन', 'महाराणा का महत्व' कवि द्वारा और भी लिखे गये थे किन्तु उनमें लगता है, कवि का मस्तिष्क ही हृदय के कृत्रिम सहयोग से अभिव्यक्त हुआ है, हृदय का जैसा स्वाभाविक स्पन्दन, अनुभूतियों का जैसा अजस्र प्रवाह और अभिव्यक्ति की जैसी प्रौढ़ता इस काव्य में मिलती है, उसका उसमें अभाव है। उस श्रान्त पथिक के रूप में मानो स्वयं कवि ही हमारे नेत्रों के समक्ष उपस्थित हो जाता है और अपने हृदय को खोल कर दिखाने लगता है। प्रायः हिन्दी के आलोचकों और अनुसन्धान-कर्त्ताओं के मुँह से सुना जाता है कि उसे उन्होंने किसी को भी बताया या सुनाया नहीं। किन्तु प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक का विश्वास है, 'प्रेम-पथिक' में जिस पुतली का चित्रण किया गया है वह कवि के हृदय की ही कोई पुतली थी, उसके जीवन सम्बन्धी इतिवृत्त में भले ही परिवर्तन कर दिया गया हो। अपनी ही प्रेयसी का गठबन्धन किसी और के साथ होते देखकर पथिक ने जिस शोकाकुल अवस्था का अनुभव किया था उसमें कवि की ही स्वानुभूतियाँ व्यंजित हैं। इस काव्य का एक-एक शब्द अनुभूति से इस प्रकार अनुप्राणित है मानो यह लिखा नहीं गया, कवि के हृदय से स्वतः ही उच्छ्वसित हुआ है। कथा के आरम्भ में ही कवि का हृदय भावोच्छ्वास से उद्वेलित हो उठता है—

शुभे, अतीत कथाएँ यद्यपि कष्ट हृदय को देती हैं।
तो भी वज्र हृदय कर अपना, उसको तुम्हें सुनाता हूँ।

× × ×

कहाँ मित्रता कैसी बातें ! अरे कल्पना हैं सब ये
सच्चा मित्र कहाँ मिलता है ! दुखी हृदय की छाया सा।

काव्य के प्रारम्भ में नायक नायिका के बाल्यकाल की क्रीड़ाओं एवं चेष्टाओं के निरूपण में भी कवि ने अत्यन्त स्वाभाविकता से काम लिया है। प्रकृति के चतुर्दिक वातावरण के चित्रण में छायावादी शैली का पूर्वाभास मिला है। छायावादी कवि के लिए प्रकृति उसकी सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यक्ति में सहायक के रूप में उपस्थित होती है। छत के एकान्त भाग में नवकिशोरी बाला और उसके प्रेमी युवक की प्रेमपूर्ण चेष्टाओं की अभिव्यंजना शुभ्र मेघखण्ड और उज्ज्वल शशि के मिलन दृश्यों द्वारा की गई है—

क्या था ? कैसी वह रजनी थी ? पूर्ण चन्द्र था सिर पर भी
हम दोनों थे छत पर बैठे, देख रहे थे प्रकृति कला
सचमुच निर्मल नील गगन था, छिटक रहे थे नव तारे
मेघखण्ड उस स्वच्छ सुधामय विधु को एक लगा ढँकने,

रसवादी दृष्टि से यहाँ प्रकृति का वातावरण नायक-नायिका की कोमल भावनाओं के लिए 'उद्दीपन' का कार्य करता है। रस के अन्य अवयवों, अनुभाव, संचारी-भाव आदि का भी चित्रण इस काव्य में सहज स्वाभाविक रूप से हो गया है। यहाँ केवल 'स्मृति' संचारी-भाव का एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

प्रेम सिन्धु में प्रतिबिम्बित हो, शत शत रूप बनाता था।
धीरे धीरे बीती बातें याद लगीं पड़ने मुझ को
शैशव के सब सुखद दिवस जो स्वप्न सदृश थे बीत गये,
सचमुच तन्द्रा सी मुझ को फिर लगी, मोह में मुग्ध हुआ।

प्रसाद प्रेम के स्वच्छ, मधुर एवं पवित्र स्वरूप को ही स्वीकार करते हैं। इस काव्य में भी, यद्यपि यह यौवन की मधुर कल्पनाओं से ओत-प्रोत है, वासना-पूर्ति की क्षुद्र लालसा कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती। उनकी दृष्टि आलम्बन के स्थूल सौन्दर्य की अपेक्षा उसके हृदय के माधुर्य की ओर ही अधिक उन्मुख रहती है। नारी सौन्दर्य का आख्यान सारे काव्य में केवल एक स्थल पर किया गया है, किन्तु उसमें भी कवि की लेखनी संयम और मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करती·····

कहाँ स्निग्ध सौन्दर्य तुम्हारा ! वह लावण्य कहाँ है अब ?
वे सब अलस कटाक्ष कहाँ हैं ! वे घुंघराले बाल कहाँ !
वह उन्मादक रूप, शिशिर के बूंद सदृश क्या ढुलक गया ?
सच है, या कि स्वप्न है, क्या आश्चर्य आज मैं देख रहा !

यहाँ वक्ता के स्वर में सौन्दर्योपभोग की कामना कम है, प्रिया की ऐश्वर्य-श्री के क्षरित हो जाने की वेदना और उसके प्रति सहानुभूति की ध्वनि ही अधिक व्यंजित हो रही है। प्रिय के पुरातन सम्बन्ध के साथ-साथ उसके

रूप-वैभव की भी स्मृति आना मन की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जिसे हम कामुकता से ग्रस्त नहीं कह सकते।

सन्देश

कवि के दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति भी, 'प्रेम-पथिक' में प्रेरणा-दायक शब्दों में हुई है। युवक-युवतियों के प्रणयोच्छ्वास को अन्धानुरक्ति बताते हुए कवि ने उच्छृङ्खल प्रेम की ओर भर्त्सना की है। प्रणय का सच्चा स्वरूप निष्काम और निःस्वार्थ प्रेम में ही निहित है। इस प्रकार का प्रेम व्यक्ति विशेष तक ही सीमित नहीं रहता, उसके प्रभाव से समष्टि के सभी प्राणी आत्मीयजन से प्रतीत होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में संसार व्यक्ति के लिए एक आनन्द का स्रोत बन जाता है और उसकी आत्मा किसी अलौकिक शक्ति के सान्निध्य का अनुभव करने लगती है। वस्तुतः प्रेम का यह व्यापक रूप ही प्रभु का स्वरूप है—

प्रेम पवित्र पदार्थ, न इसमें कहीं कपट की छाया हो।
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्तिमात्र में बना रहे।
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है, जहाँ कि सब को समता है।

जो व्यक्ति प्रेम के संकुचित स्वरूप को लेकर चलते हैं उन्हें अन्त में निराशा और दुःख का सामना करना पड़ता है। किन्तु इसके विचारानुसार दुःख-सुख दोनों लीलामय की ही लीला है। अस्तु, जिसे हम दुःख समझते हैं उसमें भी समष्टि के सुख और कल्याण की कोई-न-कोई बात निहित रहती है। वस्तुतः हमारे प्रेम का लक्ष्य सांसारिक स्थूल मिलन नहीं, विश्वात्मा से हमारी आत्मा का अक्षय सम्मेलन होना चाहिए—

आओ गले नहीं प्रत्युत् हम हृदय हृदय से मिल जायें।
जीवन पथ में सरिता होकर उस सागर तक दौड़ चलें॥

२४. प्रसाद का 'आँसू' : एक विश्लेषण

प्रसाद की रचनाओं में 'आँसू' का बहुत ऊँचा स्थान है। इसका प्रथम संस्करण सन् १९२५ ई० में प्रकाशित हुआ था। सात-आठ वर्षों के पश्चात् इसका दूसरा संस्करण निकला जिसमें कुछ छन्दों का क्रम बदल दिया गया तथा कुछ नये छन्द जोड़ दिये गये। वस्तुतः प्रथम संस्करण के प्रकाशन के अनन्तर प्रसाद की विचारधारा में जो नया विकास हुआ उसी का प्रभाव द्वितीय संस्करण के परिवर्द्धित अंशों में दिखाई पड़ता है। 'आँसू' के नवीनतम रूप में प्रसाद कोरे भावुक प्रेमी ही नहीं हैं, एक चिन्तनशील दार्शनिक भी हैं, अतः वे प्रणयानुभूतियों के साथ-साथ जीवन के लिए एक नया आदर्श भी प्रस्तुत करते हैं।

वस्तु तत्व

यद्यपि 'आँसू' एक विरही हृदय के सहज स्वाभाविक उच्छ्वास के रूप में ही प्रस्तुत है, कथानक की रूप-रेखायें उसमें स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर नहीं होतीं, किन्तु फिर भी अतीत की अभिव्यंजना इसमें योजनाबद्ध ढंग से हुई है, जिससे प्रणयगाथा के सूक्ष्म संकेत उपलब्ध हो जाते हैं। आरम्भ में कवि पाठक को सम्बोधित करके "अवकाश भला है किनको सुनने को करुण कथायें", अपनी दुःख गाथा सुनाने के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार करता है, तदनन्तर उस अज्ञात के प्रथम दर्शन की अनुभूतियों का चित्रण करता हुआ बताता है कि किस प्रकार उनका सम्बन्ध धीरे-धीरे प्रारम्भिक परिचय से घनिष्टता में परिणत हो गया। उनके प्रणय सम्बन्ध के मूल में आलम्बन का सौन्दर्य ही प्रेरक तत्व था, इस तथ्य का आभास प्रिय के रूप वैभव सम्बन्धी वर्णन से मिल जाता है। पूर्वराग के अनन्तर उनके जीवन में मिलन की मधुर घड़ियों का प्रवेश होता है, कवि की चेतना आनन्द-मदिरा के पान में लवलीन होकर बेसुध हो जाती है। जब उसकी आँख खुलती है तो पता चलता है कि वह रूप की मोहमाया एक छलना मात्र थी, जिस व्यक्ति से प्यार किया था, वह हृदयहीन सिद्ध हुआ :

"वह रूप रूप था केवल
या हृदय रहा भी उसमें,
जड़ता की सब माया थी
चैतन्य समझ कर मुझमें।"

कवि का विरही हृदय कातरता से ओत-प्रोत हो गया है। वह दैन्य एवं उपालम्भ भरे शब्दों में अनुनय-विनय करता है, अपनी वेदनापूर्ण अवस्था का वर्णन करता हुआ प्रिय के हृदय को पिघलाने का प्रयत्न करता है, उसे आशा थी कि एक न एक दिन प्रियतम अवश्य पसीज कर उसे दर्शन देंगे, किन्तु सब कुछ व्यर्थ ! उस निष्ठुर पर इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। अन्त में कवि व्यापक दार्शनिक धरातल पर पहुँच कर अपनी वेदना को भुला देने, उसे लोक कल्याणकारी रूप देने के प्रयास में लीन हो जाता है।

प्रेमानुभूतियों की व्यंजना

इस काव्य का आरम्भ ही शृङ्गार के वियोग पक्ष से होता है। अतीत की स्मृतियाँ कवि के हृदय में जलते हुए स्फुलिंगों की भाँति धधक रही हैं, लगता है मानो श्वासें भी चल चल कर उस अग्नि को और भी अधिक प्रदीप्त कर रही हैं। उसे क्या पता था कि प्रणयसिंधु के कोमल तल में बाडव ज्वाला छिपी हुई है, उस समय तो प्यासी मछली की भाँति उसकी आँखें सौन्दर्य नीर के आकर्षण में भटक गईं, किन्तु अब उसे सारा संसार वेदनामय प्रतीत होता है—

"बुलबुले सिन्धु के फूटे
नक्षत्र मालिका टूटी
नभ मुक्त कुंतला धरणी
दिखलाई देती लूटी।"

शोक-संतप्त-प्राणी को सारा विश्व शोक-ग्रसित दिखाई देता है, यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। कालिदास के शोक-ग्रसित पुरुरवा को भी वन में भटकते हुए गजराज के उदासीन मुख से वियोग संतप्त प्राणी की वेदना का अनुभव हुआ था, सूरदास की गोपियों को भी अपनी ही वेदना का प्रतिबिम्ब पशु

पक्षियों की दुःखपूर्ण मुद्रा में दिखाई दिया था। किसी वंचक को हृदय लुटा देने वाले प्रणयी प्रसाद को भी आज कुछ ऐसा ही अनुभव हो रहा है। नभ, धरती, सिंधु सब कुछ उसे रिक्त, शून्य, वंचित दिखाई पड़ रहे हैं।

किस प्रकार प्रणय की वे मधुर अभिलाषायें मन में उदित हुई थी और फिर वे अपार व्यथा को जन्म देकर लुप्त हो गई। सुख की वे रंगीन कल्पनाएँ किस प्रकार पलकों को भिगोकर स्वप्न की भाँति विलीन हो गई, जब इन सब बातों पर वह निराश प्रेमी विचार करता है तो उसका हृदय कांप उठता है—

"मादक थी मोहमयी थी
मन बहलाने की क्रीड़ा
अब हृदय हिला देती है
वह मधुर प्रेम की पीड़ा।"

और फिर अतीत का सारा इतिहास नेत्रों के समक्ष उपस्थित हो जाता है। प्रथम मिलन की वह मधुर रात्रि ! तारों के दीप चारों ओर जगमगा रहे थे। चांदनी मुस्करा रही थी। तुम मेरे पास आये। अपरिचित थे, किन्तु ऐसा लगा हम युग-युगों से परिचित हैं। जलनिधि का हिमकर से क्या परिचय है ? एक जब अपनी लहरों से आह्वान करता है तो दूसरा अपनी किरण भुजाओं को आगे बढ़ा देता है। हमारा मिलन भी कुछ ऐसा ही था—

"मैं अपलक इन नयनों से, निरखा करता उस छवि को
प्रतिमा डाली भर लाता, कर देता दान सुकवि को।
निर्झर सा झिर झिर करता, माधवी कुंज छाया में
चेतना बही जाती थी हो मन्त्र मुग्ध माया में।"

यहाँ कवि ने संयोगानुभूतियों का चित्रण जिस सांकेतिक शैली में किया है वह हिन्दी काव्य के लिये अपूर्व है। अश्लीलता, नग्नता और कामुकता से शून्य, मिलन का ऐसा भव्य चित्रण, विश्व की बहुत थोड़ी रचनाओं में उपलब्ध होगा।

सौन्दर्य चित्रण

संयोगकालीन दृश्यों की भाँति प्रिया के रूप वैभव की स्मृति भी विरही

के हृदय को झकझोर देती है। प्रेयसी की सजीव प्रतिमा में कुछ ऐसी विशेषता थी कि उसकी छवि आंखों में अब तक बसी हुई है, हृदय पर एक अमिट लकीर सी खिची हुई है। उसके समस्त अंग-प्रत्यंगों में एक अपूर्वता थी—

"बांधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से।
मणिवाले फणियों का मुख, क्यों भरा हुआ हीरों से
काली आंखों में कितनी यौवन के मद की लाली
मानिक मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली।"

इस प्रकार कवि उसके सारे नख-शिख का आख्यान विस्तार से करता है। उसमें अनेक परम्परागत उपमानों के साथ-साथ कुछ नई कल्पनाओं का भी प्रयोग किया गया है, फिर भी रीतिकालीन नख-शिख वर्णन की भांति यह उबा देने वाला सिद्ध नहीं होता। अनुभूति के योग के कारण वह पाठक के हृदय को चमत्कृत कर देने में समर्थ है।

उपालम्भ

एक बार हृदय लेकर सदा के लिये विमुख हो जाने वाले निष्ठुर प्रणयी के हृदय को प्रभावित करने के लिये अपनी वेदनापूर्ण गाथा सुनाने के अतिरिक्त प्रेमी के पास और कौन सा उपचार शेष रह जाता है। और यदि वह उपचार भी असफल हो गया तो विवश हृदय अपना क्षोभ व्यंग्य और उपालम्भ के स्वरों में व्यक्त करने के अतिरिक्त और क्या कर सकता है। निष्ठुर श्याम को भी गोप बालायें केवल इतना ही तो कह कर रह गईं, "मधुकर, तुम रस लम्पट लोग।" इन व्यंग्योक्तियों का प्रिय पर कुछ प्रभाव पड़े या न पड़े किन्तु वियोग संतप्त हृदय का भार तो किंचित् मात्रा में हलका हो ही जाता है। प्रसाद भी अपने प्रिय को 'निष्ठुर', 'हृदयहीन' आदि शब्दों से सम्बोधित करते हुए उपालम्भ देते हैं—

लहरों में प्यास भरी है, है भंवर पात्र भी खाली,
मानस का सब रस पीकर लुढ़का दी तुमने प्याली।
मादकता से आये तुम, संज्ञा से चले गये थे,
हम व्याकुल पड़े बिलखते, थे उतरे हुए नशे से॥

× × ×

निष्ठुर, यह क्या छिप जाना ? मेरा भी कोई होगा,
प्रत्याशा विरह निशा की, हम होंगे औ दुःख होगा ।

उपर्युक्त पंक्तियों में असंतोष जनित रोष की अभिव्यक्ति अधिक हुई है, विवश हृदय की कोमल दीनता का भाव कम है। 'मैं' और 'तुम' के अत्यधिक प्रयोग से यह भी स्पष्ट है कि प्रेमी के अहं का विगलन अभी पूर्णतः नहीं हुआ है। फलतः उसमें अपनत्व की पूर्णता नहीं झलकती। किन्तु वेदना की अनुभूति में ज्यों-ज्यों प्रखरता आती है उसके उपालम्भ का स्वर कोमलतर होता चलता है। अन्त में उसका तीक्ष्ण व्यंग्य करुण विवशता में परिणत हो जाता है—

अब छूटता नहीं छुड़ाये, रंग गया हृदय है ऐसा ।
आंसू से धुला निखरता, यह रंग अनोखा कैसा ।।

वेदनानुभूति का विस्तार

अपनी प्रणय गाथा के उत्तरार्द्ध में पहुँचते-पहुँचते कवि का हृदय वेदना की अनन्त धाराओं से आक्रान्त हो जाता है। कभी वह अतीत की मधुर स्मृतियों से हर्ष-विह्वल हो उठता है, कभी प्रियतम के रूप वैभव का आख्यान करता हुआ सौन्दर्यानुभूतियों से तरंगित हो जाता है, कभी निष्ठुर की कठोर उदासीनता के ध्यान से उत्तेजित स्वरों में उफन पड़ता है तो कभी दैन्य, विवशता, ग्लानि और अनुताप ते पीड़ित होने लगता है। भावनाओं के इस ज्वार में कवि के मानस की सघन वेदना का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है—

मणि द्वीप लिये निज कर में, पथ दिखलाने को आये ।
वह पावक पुंज हुआ अब किरनों की लट बिखराये ।।

× × ×

नाविक, इस सूने तट पर, किन लहरों में खे लाया ।
इस बीहड़ वेला में क्या अब तक था कोई आया !
यह पारावार तरल हो, फेनिल हो गरल उगलता ।
मथ डाला किस तृष्णा से, तल में बड़वानल जलता ।।

× × ×

अवकाश शून्य फैला है, है शक्ति न और सहारा ।
अपदार्थ तिरूँगा मैं क्या, हो भी कुछ कूल किनारा ।

उपर्युक्त पंक्तियों में वेदना की तीव्र प्रतिक्रिया के फलस्वरूप क्रमशः अनुताप, ग्लानि और निराशा की व्यंजना हुई है, किन्तु आगे चलकर कवि की इस असीम वेदना का प्रत्यावर्तन होने लगता है, उसकी चंचल व्यथा स्थिर मनोदशा का रूप ग्रहण करने लगती है और उसकी निराशा की शुष्क लता में मिलनाकांक्षा के पल्लव प्रस्फुटित होने लगते हैं—

चमकूंगा धूल कणों में, सौरभ हो उड़ जाऊँगा।
पाऊँगा कहीं तुम्हें तो ग्रह पथ में टकराऊँगा॥

साधारण प्रेमी निराशा की घोर अवस्था में पहुँचने के अनन्तर निर्वेद और वैराग्य की भावनाओं से ग्रस्त हो जाता है किन्तु प्रसाद अपनी सुदृढ़ दार्शनिकता और व्यापक अनुभूतियों के कारण पुनः स्वस्थ तथा सबल हो उठते हैं और संसार के असीम सौन्दर्य में अपने प्रियतम की रूप-सुधा का दर्शन करने लगते हैं—

प्राची के अरुण मुकुर में, सुन्दर प्रतिबिम्ब तुम्हारा।
उस अलस उषा में देखूं, अपनी आंखों का तारा॥

तत्व चिन्तन

लौकिक प्रेम से निराश होकर व्यक्ति या तो आत्म-हनन की ओर अग्रसर हो जाता है अथवा वह संसार के दुःखी और सन्तप्त प्राणियों की वेदना में अपनी अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब देखता हुआ उनकी सुश्रूषा में लीन हो जाता है। प्रसाद दूसरी कोटि में आते हैं, उनके सभी प्रेम-काव्यों की परिणति निराशा में प्रेमी प्रेमियों के सम्बन्ध की अस्थिरता में होती है किन्तु दूसरे ही क्षण मानो वे या उनके नायक संभल जाते हैं और अपनी इस कटु अनुभूति को उच्च दार्शनिकता के धरातल पर संजोकर उसे मंगलकारी रूप प्रदान कर देते हैं। यह बात उनके 'प्रेम पथिक', 'आंसू', 'कामायनी' आदि काव्यों में ही नहीं, अजातशत्रु, स्कन्धगुप्त और चन्द्रगुप्त जैसे नाटकों में भी मिलती है। प्रसाद ने अपने नेत्र ऐश्वर्य सौन्दर्य श्री से परिपूरित घर में खोले थे, यौवन उनका प्रेम की उन्मादिनी कल्पनाओं में बीता और जीवन की प्रौढता में पहुँच कर उन्होंने संसार की उस क्षण-भंगुरता का साक्षात्कार किया जिसने उन्हें किसी अलौकिक सत्ता और निर्वेदमूलक दर्शन का आश्रय

ग्रहण करने को बाध्य कर दिया। इस प्रकार प्रसाद का जीवन श्रद्धा और इड़ा, भावना और ज्ञान, प्रेम और वैराग्य के समन्वय का सुन्दर उदाहरण है जिसकी प्रतिच्छाया उनकी सभी रचनाओं की सुख-दुःखमय परिणति में मिलती है। 'आंसू' का कवि भी कामायनीकार की इसी प्रौढ़ समन्विति की ओर अग्रसर है।

अपनी प्रेमानुभूतियों की विशद व्यंजना के अनन्तर 'आंसू' में कवि सबसे पूर्व जिस सत्य का अनुभव करता है, वह है सांसारिक सम्बन्धों की क्षण-भंगुरता। अपने प्रणय की असफल गाथा सुनाने के अनन्तर ज्यों ही कवि प्रकृति की बाह्य चेष्टाओं पर दृष्टिपात करता है तो उसे लगता है बाह्य जगत के सभी पदार्थ जड़ और चेतन, उसी की भांति किसी न किसी शोक से ग्रस्त हैं—

कलियों को उन्मुख देखा, सुनते वह कपट कहानी।
फिर देखा उड़ जाते भी मधुकर को कर मनमानी॥

× × ×

सूनी कुटिया के कोने में रजनी भर जलते जाना।
लघु स्नेह भरे दीपक का, देखा है फिर बुझ जाना॥

दूसरों की दुःखपूर्ण अवस्थाओं को देख कर कवि के व्यथाग्रस्त हृदय को कुछ शान्ति का अनुभव होता है। धीरे-धीरे वह लौकिक आलम्बन को भूलकर किसी अलौकिक सौन्दर्य की ओर उन्मुख होता है। विश्व के कण-कण में उसे उसी की लीला के संकेत दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसी स्थिति में कुरूप वस्तुओं में भी उसे किसी सुरूप का, दुःखद घटनाओं में भी किसी व्यापक सुख की व्यवस्था का आभास होने लगता है। अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि दुःख भी जीवन के लिए अपरिहार्य है और जो अपरिहार्य है उसके लिए शोक कैसा। अस्तु, हृदय की निगूढ वेदनाओं से आप्लावित आँसू भी विश्व के लिए सौख्य और मङ्गल के उपकरण लेकर बरसेंगे, यह आशा कवि के अशान्त मन को आश्वस्त कर देती है—

सब का निचोड़ लेकर तुम, सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन सा, आंसू इस विश्व सदन में।

२५. कामायनी के तीन पक्ष : इतिवृत्त, पात्र और भाव-व्यंजना

'कामायनी' प्रसाद की प्रौढतम काव्य-रचना है। यह प्रबन्ध काव्य एकाएक गीतिकार प्रसाद की लेखनी से प्रसूत हुआ, ऐसा नहीं है। प्रसाद के मानस में 'कामायनी' का अवतरण बहुत पूर्व हो चुका था। 'चित्राधार', 'कानन-कुसुम', 'लहर' में मुक्तक रचनाओं के साथ-साथ छोटी-छोटी आख्यानक कविताओं का संग्रह स्पष्ट बता रहा था कि कवि मूल रूप में भले ही स्वच्छंद गीतियों का गायक हो किन्तु प्रबन्धात्मकता की ओर भी उसका आकर्षण अवश्य रहा है, राजकुमार कुश, बालक भरत, महाराणा प्रताप, गुरु गोविन्द सिंह के आत्मोत्सर्गी पुत्रों का चित्रण कवि की अतीत गाथाओं में रुचि के साथ-साथ प्राचीन महापुरुषों के प्रति उसकी उस श्रद्धा को भी व्यंजित कर रहा था जो मनु को नया रूप प्रदान करने में समर्थ हुई। 'प्रेम राज्य', 'प्रेम पथिक' और 'आँसू' के अस्पष्ट प्रणयोद्गार भी श्रद्धा और मनु की प्रणय लीला की मधुर भूमिका तैयार कर रहे थे और साथ ही इन रचनाओं में निहित चिन्तन कामायनी के अपूर्व सन्देश की सामग्री प्रस्तुत कर रहा था। अस्तु, प्रसाद की ये आरम्भिक काव्य प्रवृत्तियाँ 'झरना' और 'लहर' की कुशल भावाभिव्यक्ति से सम्पन्न होकर अपनी अधिक विकसित और प्रौढ अवस्था में 'कामायनी' के रूप में प्रस्फुटित हुईं। प्रसाद की पूर्व रचनाओं के अध्ययन के अनन्तर कामायनी को पढ़कर ऐसा लगता है मानो यही वह मंजिल है, जहाँ तक पहुँचने के लिए हम अब तक आगे बढ़ रहे थे।

इतिवृत्त

हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर किसी शिला की शीतल 'छाँह' में बैठा हुआ एक पुरुष गीले नयनों से प्रलय प्रवाह देख रहा था। यही था, कामायनी का नायक, मनु। सारी पृथ्वी जल प्लावन में मग्न हो गई थी, मनु के भी कुल परिवार और समाज के सभी व्यक्ति उसमें सदा के लिए

विलीन हो गये थे । वह किसी प्रकार एक नौका का आश्रय पाकर बच गया था ।

धीरे-धीरे अतीत के सुख स्वप्नों की स्मृति मनु को 'चिन्ताग्रस्त' कर देती है । किन्तु प्रकृति के अद्भुत सौन्दर्य और धरती के नये निखरे हुए रूप के दर्शन से उसमें नई 'आशा' का संचार होता है । उसके एकान्त जीवन की निस्तब्धता को भङ्ग करती हुई, यौवन की मधुरिमा और सुख स्वप्नों की कल्पना से लदी हुई एक सुन्दर बाला 'श्रद्धा' ने उसके हृदय कानन में प्रवेश किया । थोड़ी देर के लिए वे 'काम' की विमोहिनी माया व 'वासना' के तरङ्गित आवेश से पुलकित होकर विगत की शोकानुभूतियों को भूल गये और नये संसार की रचना में लीन हो गये । श्रद्धा के नारीत्व ने भी अपने व्यक्तित्व को पुरुष मनु के चरणों में समर्पित करके उसके इस नव विधान में सहयोग दिया ।

किसी नये प्राणी के आगमन की पूर्व सूचना पाकर श्रद्धा उसके स्वागत की तैयारियों में मग्न हो गई । ऐसा करना उसके लिए आवश्यक भी था । किन्तु मनु का अहंग्रसित मन श्रद्धा के मातृत्व की मधुर आकांक्षाओं को ठीक प्रकार न समझ सका । उसकी ईर्ष्या ने यह सन्देह उत्पन्न किया कि श्रद्धा अब किसी और को चाहने लगी है । और वह उसे वहीं छोड़ कर किसी अज्ञात प्रदेश की ओर चला गया ।

घूमते-घूमते मनु सारस्वत प्रदेश में पहुँचे जहाँ उनका साक्षात्कार वहाँ की स्वामिनी तरुणी इड़ा के साथ हुआ । दोनों ने मिलकर राज्य की व्यवस्था और उन्नति का उद्योग किया, जिसमें उन्हें गहरी सफलता मिली । मनु इस सहयोग के बदले इड़ा को ही अपनी वासना-पूर्त्ति का साधन बना लेना चाहते थे, किन्तु उसने इसका भरपूर विरोध किया । प्रजाजन इड़ा की सहायता के लिए आ पहुँचे । मनु सङ्घर्ष में परास्त होकर वहाँ से भाग निकले । श्रद्धा को स्वप्न में इस सारी घटना का ज्ञान होता है तथा वह अपने पुत्र मानव के साथ मनु को ढूँढती हुई आ जाती है । उधर इड़ा भी सहानुभूति से प्रेरित होकर वहीं आ जाती है । श्रद्धा और इड़ा दोनों को एकत्रित देखकर मनु का हृदय ग्लानि से ओत-प्रोत हो जाता है और रात्रि में फिर उन्हें छोड़कर

मनु चल देते हैं। दूसरे दिन श्रद्धा अपने पुत्र को इड़ा के पास छोड़कर मनु को खोजने चली जाती है। अन्त में मनु श्रद्धा का मिलन हो जाता है किन्तु वे पीछे नहीं लौटते, श्रद्धा के पथ-प्रदर्शन में वे और आगे, और ऊँचे स्थान की ओर अग्रसर होते हुए अन्त में 'तीन लोकों' के दर्शन करते हैं, श्रद्धा की स्मित मुस्कान से तीनों लोक मिलकर एक हो जाते हैं, मनु अपार आनन्द का अनुभव करते हैं—

सङ्गीत मनोहर उठता, मुरली बजती जीवन की
सङ्केत कामना बन कर, बतलाती दिशा मिलन की।

× × ×

समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखण्ड घना था।

समरसताजन्य आनन्द की अखण्ड अनुभूतियों से परिपूर्ण उपर्युक्त शब्दों के साथ काव्य समाप्त हो जाता है।

कामायनी के कथानक के विवरण से यह स्पष्ट है कि उसमें बहुत थोड़ी घटनाओं का समावेश है, मनु और श्रद्धा के मिलन और वियोग, पुनर्मिलन और पुनर्वियोग तथा मनु और इड़ा के मिलन की साधारण सी घटनाओं में ही कामायनी का सारा इतिवृत्त सिमटा हुआ है। ये घटनाएँ भी स्वतः घटित न होकर पात्रों की सूक्ष्म भावदशाओं की प्रेरणा से अधिक परिचालित हैं। वस्तुतः कामायनी का सङ्घटन बाह्य वस्तु के योजनाबद्ध विवरण की अपेक्षा मानव वृत्तियों के क्रमिक विकास की ही झाँकी प्रस्तुत करता है। फिर भी 'सङ्घर्ष' सर्ग तक उसकी कथावस्तु मन्द गति से आगे बढ़ती हुई भी स्वाभाविक एवं यथार्थ प्रतीत होती है, किन्तु उसके पश्चात् तो लगता है कवि का स्थान दार्शनिक ने ले लिया है जो आध्यात्मिक गुत्थियों को ही कथा का रूप दे देता है। बार-बार श्रद्धा का मनु को खोज लेना, किसी अज्ञात ऊर्ध्व प्रदेश की ओर दोनों का प्रस्थान करना, तीन लोकों का दर्शन और उनका श्रद्धा की मुस्कान से एक हो जाना और अन्त में आनन्द की अनुभूति होना, ये सब घटनाएँ अस्वाभाविक, अस्पष्ट और असम्बद्ध दिखाई पड़ती हैं। यह ठीक है कि सूक्ष्म भाव व्यंजना के कारण कामायनी के कथानक की ये

न्यूनताएँ अधिक नहीं खटकतीं किन्तु फिर भी कहानीकार और उपन्यासकार प्रसाद की प्रतिभा का स्पर्श भी इसे प्राप्त होता तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस काव्य की संप्रेषणीयता के गुणों में और वृद्धि हो जाती।

पात्र

कामायनी के प्रमुख पात्र, मनु, श्रद्धा और इड़ा हैं। इनके अतिरिक्त किरात, आकुलि, मानव, वृषभ आदि का भी उल्लेख होता है किन्तु उनका काव्य में विशेष महत्व नहीं है। इन तीन प्रमुख पात्रों में से भी सजीव केवल दो ही, मनु और श्रद्धा, प्रतीत होते हैं, इड़ा तो अपने प्रतीकार्थ की साकार मूर्ति है, जिसके निर्माण में कवि की कल्पना का पुट कम है, दार्शनिक की बौद्धिकता का आधार अधिक है। मनु के व्यक्तित्व में पुरुष का सबल और स्वस्थ स्वरूप तो मूर्तिमान है ही उसकी सूक्ष्म मननशीलता, व्यापक स्वार्थ-परता और उच्छृङ्खल कामुकता भी विद्यमान है। नारी के मधुर व्यक्तित्व का स्पर्श पाकर उसकी कोमल भावनाएँ जाग्रत हो जाती हैं। वह अपनी व्यवहार-पटुता के द्वारा उस परिचित अतिथि की भी सूक्ष्म वृत्तियों को इस प्रकार झंकृत कर देता है कि वह आत्म-समर्पण के लिए विवश हो जाती है। किन्तु भारत का पुरुष सदा से ही भ्रमर के आदर्श का अनुयायी रहा है, वह शलभ की भाँति एक लौ पर ही मँडराते हुए जीवन बिताना उचित नहीं समझता, प्रसाद का मनु भी एक कलिका के रसपान के अनन्तर किसी नव कलिका की ओर उन्मुख हो जाता है। यद्यपि कवि ने यहां इस विरक्ति के मूल में ईर्ष्या को प्रधान कारण बताया है, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि अब मातृत्व भार से शिथिल श्रद्धा उसके मनोरंजन और सुख विहार की सामग्रियाँ जुटाने में असमर्थ थी, ऐसी स्थिति में उसका उद्भ्रान्त हो जाना स्वाभाविक था। आगे चलकर सारस्वत नगर में मनु जिस श्रमशीलता, योग्यता, दुश्चेष्टा और वैराग्य का परिचय देते हैं उनके मूल में भी काम चेतना की ही प्रतिक्रिया दृष्टिगोचर होती है। इस दृष्टि से कामायनी के नायक के मानस का विश्लेषण फ्रायड् के सिद्धान्तों के आधार पर सफलता पूर्वक किया जा सकता है और उनकी तुलना मनोविश्लेषणात्मक उपन्यासों के नायकों से भली प्रकार की जा सकती है। श्री इलाचन्द्र जोशी के प्रसिद्ध

उपन्यास 'सन्यासी' के नायक नन्दकिशोर में मनु के व्यक्तित्व और चरित्र से इतना गहरा साम्य मिलता है कि उसे हम दोनों को एक दूसरे का प्रतिरूप कह दें तो अत्युक्ति न होगी। नन्दकिशोर के भी जीवन में शान्ति और जयन्ती जैसी दो सुन्दरियों का प्रवेश होता है, एक श्रद्धा की प्रतिमूर्ति होने के कारण पूर्णतः आत्म-समर्पण कर देती है किन्तु दूसरी में बौद्धिकता की प्रधानता होने के कारण वह नायक को ही एक कड़वी घूंट पिला कर उससे दूर हो जाती है। प्रथम प्रेयसी, या पत्नी से मनु और नन्दकिशोर दोनों का ही पुनर्मिलन होता है किन्तु उनकी गृहस्थी पुनः नहीं बस पाती। शान्ति और श्रद्धा दोनों ही अपने हृदय के टुकड़े, बालकों को उनकी मौसी की गोद में सौंप कर लौकिक मंच से अदृश्य हो जाती हैं तथा नन्दकिशोर और मनु अपनी अतृप्त वासनाओं की प्रतिक्रिया स्वरूप सन्यास धर्म को ग्रहण कर लेते हैं। यद्यपि प्रसाद और जोशी जी के जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण में अन्तर होने के कारण दोनों की कथावस्तुओं और चरित्र चित्रण में कई मौलिक भेद भी दृष्टिगोचर होंगे किन्तु हमारा प्रतिपाद्य यहाँ इतना ही है कि मनु में काम प्रेरणा का विकास आधुनिक मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल हुआ है, यद्यपि कवि ने चेष्टापूर्वक ऐसा नहीं किया होगा।

प्रसाद की 'श्रद्धा' नारीत्व की साकार और सजीव मूर्ति है, शरीर से भी और हृदय से भी। उसके सौन्दर्य के संघटन में कवि ने उषा की अरुणिमा, नभ की नीलिमा, चन्द्र की ज्योत्स्ना, फूलों का लावण्य और दामिनी की मुस्कराहट, प्रकृति के समस्त वैभव पूर्ण अङ्गों की शोभा श्री को एकत्रित करके, कवि की कल्पना और चित्रकार की कला का सामंजस्य प्रस्तुत किया है। उसकी प्रथम दृष्टि से ही मनु के मुमूर्षोन्मुख जीवन में नई आशा, नई चेतना और नये प्राणों का संचार हो जाता है। उसके कोकिल स्वरों की मधुर वाणी में आश्वासन के कोमल शब्दों के उपचार से उसके हृदय के वे सारे घाव ठीक हो जाते हैं जो चंचल अभाव की चपल बालिका ने अपनी कठोर चिन्ताओं द्वारा किये थे। संस्कृत और हिन्दी के अनेक प्राचीन कवियों ने नख-शिख वर्णन प्रणाली का अनुसरण करते हुए नारी के सूक्ष्मातिसूक्ष्म-सौन्दर्य का आख्यान विस्तार पूर्वक किया है किन्तु

प्रसाद की श्रद्धा की अतुल छवि के समक्ष उन सबके वर्णन आकर्षणहीन प्रतीत होंगे। विश्व के अनेक महाकवियों ने प्रबन्ध काव्य लिखे होंगे किन्तु नायिका की केवल एक सूक्ष्म वृत्ति, लज्जा के चित्रण में पूरे के पूरे सर्ग का उपयोग कदाचित् ही किसी ने किया होगा। यदि जल-प्लावन के अनन्तर मनु के जीवन में श्रद्धा का आगमन न होता तो उसके कर्मक्षेत्र की इतिश्री ही हो जाती, ठीक उसी प्रकार हम कहेंगे, 'कामायनी' काव्य में से इस अनुपम सुन्दरी के कोमल, मधुर और दिव्य चरित्र को निकाल लिया जाय तो यह रचना काव्यत्व से शून्य, केवल दार्शनिक उक्तियों का संग्रह मात्र शेष रह जायगी। भारतीय साहित्य के क्षेत्र में उर्वशी के अल्हड़ व्यक्तित्व को चित्रित करने वाले ऋग्वेद के रचयिता से लेकर अनुपम अलङ्कारों से 'कादम्बरी' के व्यक्तित्व को संजोने वाले कविवर बाणभट्ट तक सौन्दर्य-चित्रण की कला में भारतीय कवियों ने जो निपुणता प्राप्त की उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व किसी एक रचना में देखना हो और यदि जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास की नायिकाओं के हृदय की कोमलता, सूर की गोपियों की भाव-प्रवणता, तुलसी की जनकनन्दिनी की शिष्टता और जायसी की पद्मिनी का अदम्य उत्साह, इन सबका सामंजस्य एक ही सुन्दरी में देखना हो, तो हम कहेंगे, प्रसाद की इस 'कामायनी' को देखिए। श्रद्धा के चित्र और चरित्र की एक-एक रेखा में प्रसाद के समस्त जीवन की साधना बोल रही है, उसके एक-एक शब्द में कवि की अनुभूतियों और चिन्ताओं का सार व्यक्त हो रहा है। अस्तु, काव्य के नामकरण के लिए अन्य पात्रों में से किसी को न लेकर इसी को चुनना उसकी महत्ता को देखते हुए सर्वथा उचित ही है, भले ही मनु के समर्थक इसका घोर विरोध करें।

इड़ा के निर्माण में कवि ने सहृदयता का उपयोग नहीं किया·····बुद्धि का प्रयोग किया है, यह उसके प्रथम दर्शन से ही स्पष्ट हो जाता है—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल।

× × ×

वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के विज्ञान ज्ञान
था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार किये।
दूसरा विचारों के नभ को था, मधुर अभय अवलंब दिये।

उपर्युक्त वर्णन से नारी के सौन्दर्य की अनुभूति नहीं होती, दर्शन शास्त्र की किसी गुत्थी का चित्रण ही इसमें मिलता है। लगता है, बालाओं के सौन्दर्य गुणों के सम्बन्ध में कवि को जो कुछ कहना था वह श्रद्धा के विषय में कह चुका था, इस उपेक्षिता इड़ा के लिए कुछ भी शेष न रहा। न उसकी वाणी में नारी की कोमलता है और न ही उसके क्रिया-कलापों में किसी युवती का माधुर्य है, नायक के साथ उसका सारा व्यवहार यन्त्रवत् सा चलता रहता है। सारे काव्य में केवल एक स्थल अवश्य ऐसा है जहाँ यह प्रतीत होता है कि इस पत्थर की मूर्ति के पास भी कोमल भावनाओं से परिपूरित हृदय है। सङ्घर्ष में घायल होकर मनु सरस्वती नदी के किनारे कहीं पड़े हुए थे। उनकी इस क्षत-विक्षत अवस्था को देखकर इड़ा की शुष्क बौद्धिकता के आवरण में भी नारी की सहृदयता का सरल स्रोत फूट पड़ता है—

उसने स्नेह किया था मुझ से, हा अनन्य वह रही नहीं,
सहज लब्ध थी वह अनन्यता पड़ी रह सके जहाँ कहीं।

× × ×

कितना दुखी एक परदेशी, बन उस दिन जो आया था,
जिसके नीचे धरा नहीं थी, शून्य चतुर्दिक छाया था।
वह शासन का सूत्रधार था, नियमन का आधार बना,
अपने निर्मित नव विधान से, स्वयं दण्ड साकार बना।

× × ×

उसके ही सब हुए पराये, सबका ही जो अपना था।

यहाँ उस परदेशी के प्रति इडा की सहानुभूति तो व्यंजित है किन्तु उसमें भावानुकूलता का पूर्ण वेग नहीं मिलता है। हृदय में एक लहर उठती है, पर बौद्धिकता की चट्टान से टकरा कर वह चकनाचूर हो जाती है। यही कारण है कि वह विचार और तर्कों में ही डूबी रही, परदेशी के घावों की मरहम-पट्टी का कोई प्रबन्ध वह नहीं कर सकी।

वस्तुतः कामायनी के सारे कथानक में इड़ा की चारित्रिक प्रवृत्तियाँ प्रतीकार्थ की परतन्त्रता में आबद्ध हैं। उसके व्यक्तित्व का स्वतन्त्र गति से विकास नहीं हुआ। यही कारण है कि उसकी सत्ता का बोध हम एक सजीव पात्र के रूप में नहीं करते।

भाव-व्यंजना

'कामायनी' मानवीय भावों का एक वृहद् चित्रपट है। सूक्ष्म हृदय की कोई ऐसी अनुभूति नहीं जिसका चित्रण इस महाकाव्य में नहीं हुआ हो। आचार्यों द्वारा परिगणित सभी स्थायी और संचारी भावों का निरूपण इसमें अत्यन्त स्वाभाविक ढङ्ग से मिलता है, यद्यपि शृङ्गार और निर्वेद को प्रमुखता दी गई है। 'कामायनी' का आरम्भ मनु के अतीत सम्बन्धी चिन्तन से होता है, जिसका स्थायी भाव की दृष्टि से 'निर्वेद' के साथ सम्बन्ध है, किन्तु श्रद्धा के आगमन के कारण सारा दृश्य शृङ्गार की रंगीनियों में परिवर्तित हो जाता है। श्रद्धा का विपुल सौन्दर्य नायक के हृदय में रतिभावना का उद्रेक करने में पर्याप्त सशक्त था—

नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ वन बीच गुलाबी रंग।

× × ×

घिर रहे थे घुंघराले बाल, अंस अवलम्बित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार, सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुस्कान, रक्त किसलय पर से विश्राम,
अरुण की एक किरण अम्लान, अधिक अलसाई हो अभिराम।

यहाँ श्रद्धा की रूप-माधुरी साकार रूप में प्रस्तुत कर दी गई है, किन्तु प्रश्न उठता है कि मनु जो कि इससे पूर्व 'निर्वेद' चिन्ता से ओत-प्रोत थे इस सौन्दर्य-सुधा को ग्रहण करने के लिए तैयार कैसे हुए ? इसका उत्तर है, कवि ने केवल आलम्बन को ही उपस्थित नहीं किया है, प्रकृति के उद्दीपनकारी वातावरण द्वारा उसके हृदय में एक ऐसी भाव-भूमि निर्मित हो गई थी जिस में रति का अंकुर सहज ही प्रस्फुटित हो जाता है। शून्य रजनी की आकर्षण-मयी माया के प्रभाव से उसका मन अतीत की दुःखद स्मृतियों को भूल कर मादकता में विभोर हो गया था। अपनी ही विह्वल दशा के अनुरूप उसे प्रकृति के अंग-अंग से भी बेसुध चंचलता छलकती हुई प्रतीत हो रही थी। निशा की श्यामल मृदुल छवि में उसे किसी अल्हड़ किशोरी की चंचलता का आभास हो रहा था—

पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल ?
देख, बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल !
× × ×
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली ,
देख अकिंचन जगत लुटाता
तेरी छवि भोली-भाली ।

उपर्युक्त शब्दों में मनु की सजग वासना, उद्दाम प्रवृत्तियाँ और रंगीन कल्पनाएँ स्पष्ट रूप में मुखरित हैं। मन की इस उद्दीप्त अवस्था में किसी भी चंचल किशोरी का आगमन प्रणय दशा के स्वाभाविक विकास में योग दे सकता है।

नायक और नायिका के इस प्रथम दर्शन के अनन्तर उनके प्रेम का विकास क्रमिक रूप से दिखाया गया है। श्रद्धा सुन्दर है अति सुन्दर, किन्तु फिर भी मनु के प्रणय को हम प्रथम दृष्टि से उत्पन्न होने वाले प्रेम की कोटि में नहीं रख सकते। उनके प्रेम के मूल में सौन्दर्य की अस्पष्ट प्रेरणा अवश्य है किन्तु उसका विकास साहचर्य के योग से धीरे-धीरे होता है। श्रद्धा भी मनु को देखकर एकाएक अपना हृदय नहीं दे बैठती, प्रथम साक्षात्कार वेला में वह मनु के प्रति प्रेमाकर्षण की अपेक्षा करुणापूर्ण सहानुभूति से अधिक अभिभूत है, इसीलिए वह इस अपरिचित के प्रति प्रणयपूर्ण आत्मनिवेदन न करके उसे आशापूर्ण सन्देश देती है—

कहा आगन्तुक ने सस्नेह,
'अरे तुम इतने हुए अधीर ।
हार बैठे जीवन का दाव,
जीतते मर कर जिसको वीर ।'

वस्तुतः निर्वेदमूलक निराशा का किंचित् प्रभाव मनु पर अभी तक शेष था, जिसे श्रद्धा अपने आशा, सहानुभूति और प्रेरणा से ओत-प्रोत शब्दों द्वारा दूर करती है।

कामायनी के नायक और नायिका की शृङ्गारिक अनुभूतियों का पहली बार स्वच्छन्द प्रकाशन 'वासना' सर्ग में होता है। तपस्वी और अतिथि का प्रारम्भिक परिचय अब तक घनिष्ठता में परिणत हो चुका था। अपने प्रारम्भिक वैराग्य मूलक संस्कारों से मुक्त होकर तथा काम का संदेश पाकर नायक का हृदय अब यथार्थ जगत की ओर उन्मुख होने लगा था। पुरुष के निरन्तर साहचर्य से श्रद्धा का नारीत्व भी द्रवित होकर किसी अज्ञात आकर्षण का अनुभव कर रहा था। अस्तु, दोनों का हृदय किसी एक ही अनुभूति से अनुप्राणित हो रहा था, दोनों किसी एक ही लक्ष्य की ओर निरन्तर आगे बढ़ रहे थे और दोनों को ही लग रहा था वे निकट पहुँच कर भी अभी कुछ दूर हैं और एक दिन मनु इस दूरी को सदा के लिए दूर करने का साहस कर बैठे। एक मद-विभोर व्यक्ति की भांति वे अतिथि की सौन्दर्य छटा को मुग्ध, विकल दृष्टि से देखते हुए उसे प्रकृति के उस मंजुल मनोहर वातावरण में ले गये जहाँ रागरंजित चन्द्रिका छिटक रही थी, सुमनों का पराग उड़ रहा था और प्रकृति खिलखिलाती सी दिखाई पड़ रही थी। इस दृश्य को देखकर मनु कुछ अचेत से होने लगे, हृदय में नई चेतना सी जागृत होने लगी, 'मैं किसी का हो रहा हूँ' मस्तिष्क में चारों ओर यही विचार चक्र काटने लगे। प्रेमी की इस वासना विह्वल अवस्था का चित्रण कवि ने रंग बिरंगी रेखाओं में किया है –

"मधु बरसती विधु किरन है कांपती सुकुमार,
पवन में है पुलक मन्थर, चल रहा मधु भार।
तुम समीप, अधीर इतने आज क्यों हैं प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण ?
आज क्यों सन्देश होता रूठने का व्यर्थ,
क्यों मनाना चाहता सा बन रहा असमर्थ।
धमनियों में वेदना सा रक्त का संचार,
हृदय में है कांपती धड़कन, लिये मधु भार।"

भारतीय आचार्यों ने नायिका की संयोग वेला की वृत्तियों और चेष्टाओं का तो सूक्ष्म विश्लेषण किया है किन्तु पुरुष की मादक अनुभूतियों का विवेचन

वे न कर सके । प्राचीन शृङ्गारी कवियों की भी दृष्टि नारी की ओर ही उन्मुख रही, पुरुष के मन की गहराइयों में उतरने का अवकाश उन्हें नहीं मिला । मनु की वासना दीप्त अवस्था के रूप में पुरुष की वृत्तियों और चेष्टाओं के स्वाभाविक निरूपण का इसे प्रथम प्रयास कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी ।

कामायनीकार के संयोग वर्णन की एक बड़ी भारी विशेषता है—उसकी स्वच्छता, सूक्ष्मता और सांकेतिकता । मिलन के मधुर अनुभावों को वह चित्रित नहीं करता, व्यंजित करता है । अस्पष्ट रेखाओं द्वारा वह एक ऐसा सुन्दर दृश्य प्रस्तुत कर देता है, जिसे हम देख नहीं सकते, समझ सकते हैं ।

प्रणय गाथाओं का मधुरतम स्वरूप उनके वियोग पक्ष की वेदनानुभूतियों में प्राप्त होता है । कामायनी भी इसका अपवाद नहीं है । तथापि इसमें श्रद्धा की विरहानुभूतियों का चित्रण बहुत ही संक्षेप में किया गया है, किन्तु मार्मिकता की दृष्टि से वह उतना ही सरस है । कामायनी की उदास अवस्था की एक झांकी द्रष्टव्य है—

कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरन्द रहा ,
एक चित्र बस रेखाओं का अब उसमें है रंग कहां ।
वह प्रभात का हीन कला शशि, किरन कहां चांदनी रही ,
वह संध्या थी, रवि शशि तारा, ये सब कोई नहीं जहां ।।

कवि का लक्ष्य यहां पाठक को श्रद्धा की भाव-दशा से परिचित कराना रहा है, उसकी शारीरिक अवस्था के ऊहात्मक वर्णन द्वारा चकित करना नहीं । वह स्वयं विरहिणी के सम्बन्ध में कम कहता है, उसकी अवस्था से साम्य रखने वाले बाह्य प्राकृतिक दृश्यों को अधिक सामने रखता है, रवि, शशि, तारों से हीन, शशि की कला और चाँदनी की किरणों से वंचित संध्या के उदास पीले मुख में श्रद्धा के दुःख शोक से विवर्ण मुख की आभा का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है ।

विरहानुभूतियों की व्यंजना के लिए आश्रय की उक्तियाँ भी सफल माध्यम सिद्ध होती हैं । जायसी की नागमती अपनी समस्त पीड़ायें अपने मुँह से स्वयं ही वन के प्राणियों को सुनाती है । सूर की गोप ललनाएँ भी

अपने निराश मन की व्यथा की अभिव्यक्ति उपालम्भपूर्ण शब्दों में उद्धव के सम्मुख करती हैं। निर्जन प्रदेश की एकान्त शून्यता में प्रसाद की नायिका को कोई सजीव श्रोता तो उपलब्ध नहीं होता, फिर भी वह आत्म-चिन्तन के रूप में अपनी अनुभूतियों को व्यंजित करती है—

"आज सुनूँ केवल चुप होकर, कोकिल जो चाहे कह ले ,
पर न परागों की वैसी है, चहल-पहल जो थी पहले ।
इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की संध्या ,
कामायनी, तू हृदय कड़ा कर धीरे-धीरे सब सह ले ॥

× × ×

विरल डालियों के निकुंज सब ले दुख के निश्वास रहे ,
उस स्मृति का समीर चलता है मिलन कथा फिर कौन कहे ?
आज विश्व अभिमानी जैसे रूठ रहा अपराध बिना ,
किन चरणों को धोयेंगे जो अश्रु पल के पार बहे ॥

प्रियतम के अभाव में दुःखिनी बाला को सारा संसार रूठा हुआ सा प्रतीत हो रहा है। पलकों से आँसुओं की धारा बह रही है—किन्तु कौन है जो उसके आँसुओं को देखेगा, पोंछेगा। अतीत के मधुर दृश्य याद आते हैं, पर वे आज कटु और वेदना-जनक प्रतीत होते हैं। प्रणय का जब आधार ही नहीं रहा तो उससे सम्बन्धित पुरानी बातों की याद में अब क्या रखा है। क्या ही अच्छा होता यदि वह अतीत की स्मृतियों को भुला पाती—

विस्मृत हों वे बीती बातें, अब जिनमें कुछ सार नहीं ।
वह जलती छाती न रही अब वैसा शीतल प्यार नहीं ।
सब अतीत में लीन हो चलीं, आशा, मधु अभिलाषायें ,
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं ।

× × ×

वे आलिंगन एक पाश थे, स्मिति चपला थी, आज कहाँ
और मधुर विश्वास, अरे वह पागल मन का मोह रहा ।

× × ×

कभी दे दिया था कुछ मैंने, ऐसा अब अनुमान रहा ।

उपर्युक्त शब्दों में वेदना की सघन अनुभूतियाँ साकार रूप में व्यंजित हो रही हैं। लगता है निराशा की यन्त्रणा से पीड़ित कोई व्यक्ति ऊर्ध्व श्वास ले-लेकर अपनी असफलता की कहानी दीनतापूर्ण स्वर में सुना रहा है।

वस्तुतः श्रद्धा के इन विरहोद्गारों में हमें एक अपूर्वता मिलती है—इन में शब्दों की मितव्ययता तो है किन्तु प्रभाव की न्यूनता नहीं, वेदना की जलन और टीस तो है किन्तु वियोगिनी का उच्छृङ्खल प्रलाप नहीं, और प्रिय की उदासीनता, निष्ठुरता के प्रति रोष व उपालम्भ तो है किन्तु उसकी भर्त्सना का अपमान नहीं। हृदय के भीतर-ही-भीतर धधकने वाली ज्वाला की एक क्षीण प्रतिध्वनि मात्र उसके शब्दों में व्यंजित हो रही है। वेदना की कटु अनुभूतियों को मानो गरल की भाँति पी जाना चाहती है। वियोगानुभूतियों का ऐसा सूक्ष्म, संयमित एवं मार्मिक चित्रण श्रद्धा की गौरव गरिमा और कामायनीकार की महान् काव्य प्रतिभा के सर्वथा अनुरूप है।

शृङ्गार के अनन्तर कामायनी में दूसरी प्रधान भावना निर्वेद है। मनु की रतिभावना निर्वेद में परिणत होने से पूर्व संघर्ष की कठोरता तथा पराजय की कटुता का सामना करती है जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तो उचित है ही शास्त्रीय दृष्टि से भी दो विरोधी रसों को एक साथ रखने के दोष से मुक्त है। मनु में निर्वेद का उद्रेक आत्मग्लानि की प्रतिक्रिया स्वरूप होता है। इड़ा के यहाँ से तिरस्कृत एवं सन्त्रस्त होकर क्षुब्ध मनु श्रद्धा के सम्मुख अपना ग्लानि-जन्य क्षोभ प्रकट करते हुए कहते हैं—

कितना है उपकार तुम्हारा आश्रित मेरा प्रणय हुआ,

× × ×

किन्तु अधम मैं समझ न पाया उस मंगल की माया को।

× × ×

शापित सा मैं जीवन का यह, ले कंकाल भटकता हूँ।
उसी खोखलेपन में जैसे कुछ खोजता अटकता हूँ॥

और यही क्षोभ अन्त में वैराग्य को जन्म दे देता है—

सोच रहे थे जीवन सुख है?
ना यह बिकट पहेली है,

भाग अरे मनु, इन्द्रजाल से
कितनी व्यथा न झेली है।

× × ×

श्रद्धा को दिखलाऊँ कैसे यह मुख या कलुषित काया।
और शत्रु सब ये कृतघ्न फिर, इनका क्या विश्वास करूँ॥

यद्यपि मनु में वैराग्य का अंकुर ग्लानि से प्रस्फुटित होता है, किन्तु अतृप्ति, क्षोभ, प्रतिहिंसा, संदेह आदि अनेक मनोदशाओं के मिश्रण से उसका विकास स्थायी भाव के रूप में हो जाता है। आगे चल कर 'दर्शन' और 'रहस्य' सर्ग में आश्चर्य भावना के योग से मनु के निर्वेद की कटुता क्षरित हो जाती है और वह सुखद आनन्दमयी अनुभूति में परिणत हो जाता है। प्रश्न है, मनु का निर्वेद स्थायी भाव पाठक के हृदय में भी 'शान्तरस' की निष्पत्ति में कहाँ तक सफल होता है ? इसके उत्तर में हम कहेंगे, कामायनी में चित्रित निर्वेद का प्रारम्भिक प्रस्फुटन तो पाठक के हृदय को प्रभावित करता है किन्तु दर्शन और रहस्य सर्ग में उसके विकास के लिए जिस सामग्री का नियोजन किया गया है वह काव्यत्व की अपेक्षा दार्शनिकता से अधिक समन्वित है। समरसता के जिस सिद्धांत से तीनों लोक एक होकर मनु के लिए आनन्दवृष्टि करने लगते हैं, वह बुद्धि गम्य है, अनुभूतिगम्य नहीं। ऐसी बात नहीं कि वह अनुभूति गम्य हो नहीं सकता था, यदि दार्शनिक प्रसाद यहां कवि प्रसाद को भी साथ रखते तो अवश्य ही ऐसा हो सकता था, किन्तु इन सर्गों में दार्शनिक प्रसाद की ही क्रीड़ा के दर्शन होते हैं। अस्तु, हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि कामायनीकार को शान्त रस के चित्रण में साहित्यिक दृष्टि से पूर्ण सफलता नहीं मिली है।

इसके अतिरिक्त उत्साह, क्रोध, आश्चर्य, जुगुप्सा आदि भावों की भी संचारी रूप में, स्थायी भाव के रूप में नहीं, व्यंजना कामायनी में प्रसंगानुसार हुई है, किन्तु शृङ्गार रस की सी मार्मिकता उनमें नहीं मिलती। वस्तुतः प्रसाद की रुचि कल्पना, अनुभूति और शैली शृङ्गार रस के ही अनुरूप थी, उनकी वाणी के मंद-मंद स्वर कठोर भावनाओं के रौरव नाद के उपयुक्त प्रतीत नहीं होते।

२६. कामायनी में रूपक तत्त्व

'कामायनी' के रूपक तत्व की व्याख्या करने से पूर्व हमें 'रूपक' शब्द का अर्थ भली प्रकार स्पष्ट कर लेना चाहिए। प्राचीन काव्य शास्त्र में रूपक दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, एक नाटक के और दूसरे अलङ्कार विशेष के लिए। नाटक में एक व्यक्ति पर किसी अन्य पात्र का तथा रूपक अलङ्कार में उपमेय पर उपमान का आरोपण किया जाता है। इसके अतिरिक्त नाटक और अलङ्कार दोनों प्रकार के रूपकों में ही यह आरोपण अभेदपूर्वक होता है। आधुनिक साहित्य शास्त्र में भी काव्य रचना की ऐसी पद्धति को जहाँ कथावस्तु और पात्रों के प्रस्तुत अर्थ पर अप्रस्तुत का आरोपण किया जाता है, रूपक की संज्ञा दी जाती है। रूपक का यह नवीन अर्थ जहाँ-जहाँ अपने प्राचीन अर्थ के सर्वथा अनुकूल है, पाश्चात्य साहित्य में प्रचलित 'एलिगरी' (Allegory) का भी समानार्थक है। इसका अधिक स्पष्टीकरण करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है, "कथा-रूपक" में एक कथा का दूसरी पर अभेद आरोप होता है। एक कथा प्रस्तुत और दूसरी अप्रस्तुत रहती है। प्रस्तुत कथा स्थूल भौतिक घटनामयी होती है और अप्रस्तुत कथा सूक्ष्म सैद्धान्तिक होती है। यह सैद्धान्तिक कथा दार्शनिक, नैतिक, राजनैतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक आदि किसी प्रकार की हो सकती है। परन्तु इसका अस्तित्व मूर्त नहीं होता। वह प्रायः प्रस्तुत कथा का अन्य अर्थ ही होता है जो उससे ध्वनित होता है, किसी प्रबन्ध काव्य की प्रासङ्गिक कथा की भाँति जुड़ा हुआ नहीं होता।" कामायनी के रूपक में उपर्युक्त सारी विशेषताएँ मिलती हैं। स्वयं कवि ने इस तथ्य को स्वीकार किया है, 'यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए साङ्केतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।' उपर्युक्त कथन से ऐसा आभास होता है कि इस काव्य में रूपक तत्व का समावेश स्वतः ही हो गया है, कवि ने प्रयत्नपूर्वक ऐसा नहीं किया, किन्तु

वास्तविकता यह नहीं है। कामायनी में इड़ा के व्यक्तित्व तथा काव्य की अन्तिम घटनाओं के सङ्घटन में अप्रस्तुत से सम्बन्धित तत्वों का प्रयोग इतनी स्पष्टता से किया गया है कि जिससे प्रमाणित हो जाता है कि कवि ने प्रयासपूर्वक रूपक का आरोपण किया है। अन्यथा इड़ा की रेशमी मुलायम अलकों को शुष्क 'तर्क जाल' बताने की तथा उसके नारी सुलभ कोमलता से परिपूर्ण हृदय पर 'संसृति के समस्त ज्ञान विज्ञान' का भार थोपने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

कामायनी के प्रतीकार्थों का भी किंचित् संकेत रचयिता ने भूमिका में कर दिया है। 'मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।' अस्तु, मनु के, श्रद्धा हृदय पक्ष के, इड़ा मस्तिष्क पक्ष के प्रतीक हैं। कथा के आरम्भ में मन चिन्तना में लीन है। हृदय पक्ष अर्थात् भावनाओं से शून्य हो जाने पर मन कोरी शुष्क कल्पनाओं में ही भटक जाता है जो उसे निर्बल, अशक्त और गतिहीन बना देती है। किन्तु ज्यों ही मन को श्रद्धारूपी भावनाओं का सहयोग प्राप्त होता है वह एक नई चेतना से स्पन्दित हो उठता है, आशा और उल्लास से ओत-प्रोत होकर वह कर्मक्षेत्र की ओर अग्रसर हो जाता है। भावनाओं की प्रेरणा से ही मानव मन को कठिन से कठिन कार्य में प्रवृत्त होने की शक्ति मिलती है। पर कोरी भावुकता धोखा भी खा जाती है। बुद्धि तत्व के अभाव में मन भले-बुरे के विवेक से शून्य हो जाता है, अतः वह कर्म की ओर अग्रसर होता है, किन्तु 'कर्म' कैसा है, उसका परिणाम शुभ होगा या अशुभ, इसका निर्णय वह नहीं कर पाता। भावुक व्यक्ति को जो चाहे बहका सकता है, फुसला सकता है। मनु के मन के साथ भी ऐसा ही होता है। किराताकुलि जो कि आसुरी प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं उसे फुसला कर 'हिंसा' मार्ग की ओर ले जाते हैं। जब भावुक मन एक बार पतन की ओर अग्रसर होता है तो फिर वह अपने आपको रोक नहीं पाता। अस्तु, मनु भी आसुरी प्रवृत्ति के फेर में पड़ कर क्रमशः हिंसा, कामुकता, ईर्ष्या आदि से ग्रस्त हो जाता है और अन्त में वह उद्भ्रान्त होकर अपना सब कुछ खो देता है।

भावुक व्यक्तियों को भी ठोकर खाकर सँभलते देखा गया है। कई बार ऐसा भी होता है कि निराश प्रेमी अत्यन्त कठोर, शुष्क और बौद्धिक हो जाते हैं। अनेक छायावादी कवियों का व्यक्तित्व इस बात का प्रमाण है। प्रसाद, पन्त और निराला जो कि अपने जीवन के आरम्भ में भावनाओं की रंगीनियों में डूबे रहते थे, जीवन के उत्तरकाल में शुष्क दार्शनिक बन बैठे। अस्तु, ऐसी ही प्रतिक्रिया मनु रूपी मन में होती है, अब भावुकता के स्थान पर अति बौद्धिकता, इड़ा, का आश्रय ग्रहण करता है। सांसारिक क्षेत्र में भाव प्रवण व्यक्यिों की अपेक्षा बुद्धिमान अधिक सफल होते हैं। सारस्वत प्रदेश में इड़ा के सहयोग से मनु की उन्नति इस तथ्य को व्यंजित करती है। किन्तु मन की इस अवस्था में, जितना ही उसका मस्तिष्क पक्ष प्रौढ़ होता है उसमें स्वार्थ-परायणता बढ़ जाती है। अपने अहं की तुष्टि के लिए वह अनुचित को भी तर्क द्वारा उचित सिद्ध करना चाहता है, दूसरे के अधिकारों को भी हड़प लेने का प्रयास करता है, फलतः सङ्घर्ष का जन्म होता है। यदि इस सङ्घर्ष में भी मन को बुद्धि का सहयोग प्राप्त हो तो वह सफलता से इसका सामना कर सकता है किन्तु ऐसी परिस्थितियों में प्रायः मन अशान्त हो उठता है, विवेक बुद्धि को रुष्ट कर देता है, फलतः उसे असफलता और निराशा होती है।

सांसारिक असफलताओं से क्षुब्ध होकर मन पुनः हृदय की ओर अग्रसर होता है। क्रमशः उसे 'ग्लानि', 'संकोच' और 'निर्वेद' का अनुभव होता है। फलतः वह कोरी भावुकता और कोरी बुद्धि दोनों से परे जा कर आत्मचिन्तन में लीन हो जाता है। धीरे-धीरे मन का विकास होता है, उसके चिन्तन का स्तर अधिक से अधिक ऊँचा उठता चलता है, अंत में वह श्रद्धा के नेतृत्व में अत्यन्त उच्च धरातल पर पहुँच जाता है, ज्ञान, क्रिया और भावना में संबंध हो जाता है और वह अद्भुत आनन्द का अनुभव प्राप्त करता है।

कामायनी के उपर्युक्त रूपक में कुछ असंगतियां भी मिलती हैं—(१) जबकि मनु श्रद्धा के ही नेतृत्व में सच्चा आनन्द प्राप्त करते हैं तो ऐसा मनु श्रद्धा के प्रथम मिलन के अवसर पर क्यों नहीं हुआ ? (२) भावनाओं के प्रतीक श्रद्धा और ज्ञान, बुद्धि की प्रतीक इड़ा के अलग पात्रों के रूप में उपस्थित होते हुए भी ज्ञान, भाव और कर्म इन तीन पिन्डों की अलग-अलग

रूप में कल्पना करने की क्या आवश्यकता थी ? (३) मनु और मानव दोनों का प्रतीक दृष्टि से क्या सम्बन्ध है, इसका कोई उत्तर नहीं मिलता। (४) कवि ने समरसता तथा ज्ञान, भावना और कर्म के समन्वय से आनन्द की प्राप्ति का सन्देश दिया है जबकि मनु केवल श्रद्धा, भावना के ही नेतृत्व में आगे बढ़ते हैं, बुद्धि, इड़ा पीछे रह जाती है, और कर्मक्षेत्र से भी वे दूर चले जाते हैं, ऐसी स्थिति में उन्हें आनन्द की उपलब्धि कैसे हो सकती थी ? कुछ विद्वानों ने इसका समाधान करने के लिए श्रद्धा को आस्तिक बुद्धि का प्रतीक बताया है, किन्तु उस स्थिति में इड़ा का कोई अलग महत्व नहीं रह जाता।

उपर्युक्त असंगतियों में से प्रथम का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि मनु और श्रद्धा के प्रथम मिलन के अवसर पर मन, मनु की चित्त-वृत्तियों का पूर्णतः संस्कार नहीं हुआ था, उस समय उसमें अहं और काम का अंश अधिक होने के कारण वह श्रद्धा के सान्निध्य में भी आनन्द प्राप्त करने में असमर्थ रहा जबकि आगे चल कर ग्लानि एवं निर्वेद के कारण अहं का नाश हो जाता है, मन निर्लिप्त भाव से श्रद्धा का नेतृत्व ग्रहण करता है, अतः उसे सफलता मिलती है। दूसरी असंगति ज्ञान, कर्म और भावलोक की सत्ता से सम्बन्ध रखती है। ऐसा लगता है यहां कवि ने समरसता के सिद्धांत का प्रतिपादन स्वतंत्र रूप से किया है, मूलरूपक से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं है। रूपक की शेष असंगतियां भी समरसता के सिद्धांत से सम्बन्ध रखती हैं। वस्तुतः प्रसाद का रूपक मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखता है किन्तु उसमें कुछ आध्यात्मिक तत्वों एवं शैव दर्शन का मिश्रण भी आगे चल कर किया गया, इसीलिए ये असंगतियां दृष्टिगोचर होती हैं। मनु का पुत्र मानव भी रूपक से असम्बद्ध ही प्रतीत होता है।

कामायनी का उपर्युक्त रूपक जायसी कृत 'पद्मावत' के रूपक से भी गहरा साम्य रखता है। उसका नायक रत्नसेन मन का प्रतीक है, नागमती सांसारिक आकर्षण है तथा पद्मिनी सिंहल रूपी हृदय में रहने वाली सात्त्विक बुद्धि है। इन्हें हम क्रमशः मनु, इड़ा और श्रद्धा के समकक्ष रख सकते हैं। मन गुरु की सहायता से सात्विक ज्ञान प्राप्त करता है, किन्तु गर्व के कारण

उसका पतन हो जाता है। अहं का नाश होने के अनन्तर मन को पुनः सात्विक बुद्धि प्राप्त हो जाती है। मन की सांसारिक वृत्तियों, नागमती, और सात्विक बुद्धि, पद्मिनी में प्रारम्भ में संघर्ष होता है, ऐसी स्थिति में शैतान, राघव चेतन की माया, अलाउद्दीन मन को बन्धन-ग्रस्त करने में सफल हो जाती है किन्तु अन्त में सात्विक बुद्धि की सहायता से मन शैतान की माया और सांसारिक आकर्षणों के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है। मन की दोनों वृत्तियां, सांसारिक और सात्विक, उसी के साथ तिरोहित हो जाती हैं, सती हो जाती हैं।

कामायनी के रूपक तत्व से इसमें गहरा साम्य होते हुए भी कई सूक्ष्म भेद दृष्टिगोचर होते हैं—(१) मनु पहले श्रद्धा का सान्निध्य प्राप्त करते हैं जबकि रत्नसेन पहले सांसारिक बुद्धि नागमती के साथ दाम्पत्य जीवन बिताते हैं। (२) मनु को इड़ा के कारण ही संघर्ष का सामना करना पड़ता है जब कि रत्नसेन को शैतान की माया के कारण। फिर भी ये भेद समानताओं को देखते हुए गौण हैं। वस्तुतः जायसी और प्रसाद दोनों ने ही अपने काव्य में हृदय की शुद्ध भावनाओं के द्वारा मन का उत्कर्ष दिखाते हुए सांसारिक आकर्षणों की हेयता का प्रतिपादन किया है। हाँ, कुछ विद्वानों का यह निष्कर्ष कि जायसी की अपेक्षा प्रसाद को अधिक सफलता मिली है, हमें स्वीकार्य नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि अभी तक जायसी के रूपक को उसके मूल अर्थ में समझने का पूरा प्रयत्न नहीं किया गया, इसी कारण ऐसी बात कही जाती है, अन्यथा हमें तो कामायनी की अपेक्षा पद्मावत में रूपक का निर्वाह आदि से अन्त तक अधिक सुसमन्वित रूप में दिखाई पड़ता है। प्रसाद को तो रूपक के निर्वाह के लिए कथा के अन्तिम भाग में काव्यत्व का बलिदान कर देना पड़ा, इड़ा से उसका नारीत्व छीन लेना पड़ा किन्तु पद्मावत के कवि को ऐसा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

कामायनी के रूपक में मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं और सभ्यता के विकास की भी संक्षिप्त रूप-रेखाएँ मिलती हैं। प्रारंभिक प्रलयकाल जीव की गर्भवास में स्थिति का द्योतक है। जब जीव नवजात शिशु के रूप में पहली बार नई धरती के दर्शन करता है तो अतीत की स्मृतियां उसके मन को

चिन्तित कर देती हैं। प्रसिद्ध कवि वर्ड्सवर्थ ने भी नव शिशु के रुदन का कारण आध्यात्मिक लोक से असंपृक्त हो जाना बताया है, जायसी ने भी पद्मावत में कहीं ऐसा ही लिखा है। शैशवावस्था में मनुष्य का मन पवित्र और निर्दोष होता है। उसमें तर्क शक्ति का विकास न होने के कारण वह किसी बात पर बहुत शीघ्र विश्वास कर लेता है। अस्तु, मनु श्रद्धा के प्रारंभिक साहचर्य को शिशु हृदय की इसी आस्तिक भावना के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। इसके अनन्तर यौवनावस्था का प्रवेश होता है, मन चंचल हो कर वासना, अहं और ईर्ष्या से ग्रस्त हो जाता है। फलतः उसकी श्रद्धा भावना लुप्त हो जाती है। अपनी प्रौढावस्था में मनुष्य सांसारिक उन्नति में लीन हो जाता है, वह तब तक उसमें लीन रहता है जब तक कि जीवन के संघर्ष से थक कर वह अशक्त और असमर्थ नहीं हो जाता। यही से वृद्धावस्था का आरम्भ समझिये। इस अवस्था में प्राणी सांसारिक कार्यों से विरक्त होकर आत्मोन्नति की ओर अग्रसर हो जाता है। हिन्दी के बड़े-बड़े शृङ्गारी कवि, विद्यापति, सेनापति, बिहारी, पद्माकर, भी वृद्धावस्था में पहुँच कर भक्त बन गये थे, अस्तु, मनु में भी निर्वेद और आस्तिक भावना का उदय स्वाभाविक था। अन्त में आत्मा परम तत्व की उपलब्धि से शान्ति प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार मानव जीवन की चारों अवस्थाओं, शैशव, यौवन, प्रौढावस्था और वृद्धावस्था का पूर्ण निर्वाह इस रूपक में मिल जाता है।

विश्व सभ्यता के इतिहास की रेखाएँ भी इस रूपक में विद्यमान हैं। सभ्यता का आरम्भ प्रलय काल के बाद से होता है जबकि नई धरती पर दो भिन्न लैंगिक प्राणी मिलते हैं। सभ्यता के इस आदि युग में मनुष्यों का जीवन निर्वाह आखेट के द्वारा ही होता है। वस्त्र और मकान का भी उस युग में अभाव था। नारी और पुरुष का भेद अभी स्पष्ट नहीं हुआ था। अतः पुरुष नारी को भी पुल्लिग में ही सम्बोधित करता है। विवाह जैसी सामाजिक प्रथाओं की भी कल्पना उस युग में नहीं की जा सकती थी, अतः मनु और श्रद्धा का मिलन, प्राकृतिक वासना की प्रेरणा से ही होता है।

मानव सभ्यता का दूसरा युग कामायनी में तब से माना जा सकता है

आखेटक ही नहीं रहता वह पालतू पशुओं की भी उपयोगिता समझने लगता है—

वे जीवित हो मांसल बन कर, हम अमृत दुहें वे दुग्ध धाम।

× × ×

वे द्रोह न करने के स्थल हैं, जो पाले जा सकते सहेतु।

पहले जहां नारी पुरुष गुफाओं में रहते थे, "लौटे थे मृगया से थक कर, दिखलाई पड़ती गुफा द्वार; उनके घर में कोलाहल है मेरा सूना है गुफा द्वार" अब नारी कुटीर बनाने की कला का आविष्कार कर लेती है—

मैंने तो एक बनाया है, चलकर देखो मेरा कुटीर।
यों कह कर श्रद्धा हाथ पकड़ मनु को ले चली वहीं अधीर॥
उस गुफा समीप पुआलों की छाजन छोटी सी शांति पुंज।
कोमल लतिकाओं की डालें मिल सघन बनातीं वहां कुंज॥

इसी प्रकार वस्त्र-कला का भी आविष्कार हो जाता है—

'चल री तकली धीरे-धीरे प्रिय गये खेलने को अहेर,'

वस्तुतः यहां सिद्ध किया गया है कि आदि युग में सभ्यता के विकास में नारी ने पुरुष को बराबर सहयोग दिया है। इसके अतिरिक्त यह भी द्रष्टव्य है कि स्नेह, वात्सल्य आदि की कोमल भावनाओं से ही प्रेरित होकर मानवी कुटीर निर्माण एवं वस्त्र बुनने में प्रवृत्त होती है। सभ्यता के प्रारम्भिक युगों में मनुष्य को नये नये आविष्कारों की प्रेरणा बुद्धि की अपेक्षा हृदय से ही अधिक मिलने की संभावना थी।

अस्तु, अब मनुष्य कर्मक्षेत्र की ओर अग्रसर होता जाता है। वह भोग विलास की इच्छा की वृद्धि के साथ-साथ नये-नये उपकरण जुटाता चलता है। अन्त में यह सभ्यता विकृत होकर घोर विलासिता का रूप धारण कर लेती है। धर्म के नाम पर पशु हिंसा होने लगती है, पुरुष नारियों को मद्यपान कराते हैं और शारीरिक सुख में लीन हो जाते हैं। फलतः अहं, ईर्ष्या, कामुकता आदि से ग्रसित होकर मानव जीवन अशान्त हो उठता है।

सभ्यता के तीसरे चरण में वैज्ञानिक युग का प्रवेश होता है। अब बुद्धि का अधिक से अधिक सहयोग प्राप्त किया जाता है। नये-नये सिद्धांतों और

नियमों का आविष्कार होता है। भौतिक उन्नति अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, किन्तु हृदय पक्ष सर्वथा पिछड़ जाता है। मानव मन आस्तिक भावना से शून्य हो जाता है। फलतः स्वार्थ और लोभ की वृद्धि के कारण संघर्ष का जन्म होता है। जिन वैज्ञानिक आविष्कारों पर मनुष्य, मनु को घमंड था वही अब उसके अपमान का कारण बनते हैं—

प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी,
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

इस यांत्रिक युग की सभ्यता का क्या परिणाम होगा, इसे कवि ने मनु के जीवन की घटनाओं से स्पष्ट कर दिया है। यदि भावी युग में हमें सुख शान्ति प्राप्त करनी है तो हमें ज्ञान, भावना और क्रिया में समन्वय करना होगा। अस्तु, नये युग के इस नव निर्माण के संदेश के साथ काव्य समाप्त हो जाता है।

अस्तु, मनु का जीवन एक व्यक्ति का जीवन नहीं है, उसमें मानव जाति के संपूर्ण जीवन की, प्रलयकाल से लेकर आधुनिक युग तक की कहानी निहित है। पुराणों में जिस मनु का उल्लेख आता है वह यांत्रिक युग तक नहीं पहुँचा था। अतः कामायनी के मनु में केवल ऐतिहासिक मनु का ही व्यक्तित्व नहीं है, उसमें सामान्य मानव के चरित्र की विशेषताओं का भी समन्वय है।

२७. प्रगतिवादी काव्य और शृंगार-रस

प्रगतिवादी कवियों ने जीवन के प्रति भौतिकवादी एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया, अतः अब तक जिन शारीरिक आवश्यकताओं को किन्हीं आध्यात्मिक लक्ष्यों के समक्ष तुच्छ एवं हेय समझा जाता था, वहाँ अब स्थिति इसके विपरीत हो गई। पुरुष और नारी के शारीरिक सम्बन्ध को प्रगतिवादियों ने घृणित एवं उपेक्षणीय नहीं अपितु एक स्वस्थ एवं आवश्यक व्यापार समझा। अतः वे यौन-सम्बन्धों की गुह्यता का विरोध करते हुए कहने लगे—

धिक् रे मनुष्य, तुम स्वच्छ स्वस्थ, निश्छल चुम्बन
अङ्कित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर

× × ×

क्या गुह्य, क्षुद्र ही बना रहेगा, बुद्धिमान !
नर-नारी का स्वाभाविक, स्वर्गिक आकर्षण !

— (ग्राम्या)

इस नवीन दृष्किोण के कारण शृङ्गार में काम और स्थूल सौन्दर्य की प्रधानता हो गई, सूक्ष्म-प्रेम का परिमाण बहुत कम रह गया।

शृङ्गार चित्रण

पहले जहाँ छायावादी कवि की दृष्टि केवल नारी के सौन्दर्य पक्ष पर ही पड़ती थी, वहां प्रगतिवादी की दृष्टि उसकी कुरूपता को भी ग्रहण करती है। पन्त ने 'ग्राम-नारी', 'ग्रामवधू', 'स्त्री' आदि में जहाँ गाँव की अशिक्षित नारियों की कुरूपता एवं अभद्र चेष्टाओं पर प्रकाश डाला है वहाँ कृत्रिम सौन्दर्य से लिपी-पुती हुई 'आधुनिका' को भी खूब खरी-खोटी सुनाई। किसान-वधुओं एवं नगर-बालाओं में से किसी से भी सन्तुष्ट न होकर कवि 'मजदूरनी'—पर दृष्टि डालता है—

सर से आँचल खिसका है, धूल भरा जूड़ा,
अधखुला वक्ष—ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा;
हँसती बतलाती सहोदरा सी जन-जन से
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप सा तन से !

× × ×

जिसके प्रिय अङ्गों को छू अनिलातप पुलकित !

लगता है यहाँ कवि को सौन्दर्याकर्षण का अनुभव हुआ है। कारण स्पष्ट है, यहाँ न तो उच्चकुलीन ग्राम-वधुओं की सी सङ्कोचशीलता, लज्जा एवं रूढ़ि-प्रियता है और न ही शहरी आधुनिका का सा विगलित, कृत्रिम, एवं स्वास्थ्यहीन सौन्दर्य ही है। पर केवल इन्हीं गुणों से यह नारी कवि को रुचिकर नहीं हो सकती थी; (एक प्रगतिवादी कवि की सम्पूर्ण तुष्टि के लिए सौन्दर्य में भी 'श्रम' का पुट होना आवश्यक था)—

"निज द्वन्द्व प्रतिष्ठा भूल जनों के बैठ साथ,
जो बँटा रही तुम काम काज में मधुर हाथ,
तुमने निज तन की तुच्छ कंचुकी को उतार
जग के हित खोल दिए नारी के हृदय द्वार ! !"

इन पंक्तियों में 'श्रम' और 'आवरणहीनता' इन दोनों विशेषताओं का समावेश हो गया है। इस 'मजदूरनी' में शारीरिक सौन्दर्य, स्वच्छता, स्वतन्त्रता, समानता और श्रमशीलता—आदि आदि वे सभी गुण मिलते हैं जो प्रगतिवादी की दृष्टि से एक नारी में होने चाहिए। छायावादिनी नारी की कोमलता, उदारता, ममता, दया, श्रद्धा—का यहां कोई निर्देश नहीं है।

वस्तुतः प्रगतिवादी की सौन्दर्य दृष्टि पर उपयोगिता का अंकुश सदा लगा रहता है। 'स्वीट पी के प्रति' में पुष्प-कलिका को नारी-सौन्दर्य से सुसज्जित किया गया है—

कुल वधुओं सी अयि सलज्ज सुकुमार !
शयन कक्ष, दर्शन गृह की शृङ्गार !

× × ×

सुभग रेशमी वसन तुम्हारे

सुरङ्ग सुरुचि मय
अपलक रहते लोचन !

पर अन्त में कवि ने केवल उसको दर्शन या स्पर्श की वस्तु—पूंजीपतियों की पत्नियों—के तुल्य रखकर उसके जीवन को बरबाद नहीं होने दिया है, अपितु कारखाने और खेतों से लौटने वाले नग्न पाँव मजदूरों के रास्ते में बिछा कर उसकी सुन्दरता, सुकोमलता को कृतकृत्य कर दिया है—

पलक पँखड़ियों के दल ?
स्निग्ध दृष्टि से जन-मन-हर
आंचल से ढँक दोगी न शूल चय ?
जर्जर मानव पदतल !

—(ग्रम्या)

यहाँ निराला की 'जूही की कली' की तरह उसके नारी-रूप का उपभोग नहीं किया गया है, अपितु उसे जन-गण के पदतल में सौंप कर कवि ने अपनी महानता का परिचय दिया है। जहाँ उपयोगिता से शून्य सौन्दर्य का चित्रण किया है वहाँ भी नारी के स्थूल अङ्गों को साधारण परिवेश से सजाया गया है; नरेन्द्र की 'अल्मोड़े की युवती' को देखिये—

है खिली धूप, ज्यों खिला रूप,
सुन्दर सुकुमार शरीर गौर !
घर निखर रहा जैसे यौवन
हँसती दीवारें द्वार पौर ?
पहने सफेद कुर्ती, ऊपर से
लाल-लाल सादी धोती,
भर गई देह भर गई मांग
चोटी लटकी है घुटनों तक
शोभित गौरा के मस्तक पर
अक्षय सुहाग का लाल तिलक !!

—(पलाश वन २४-२५)

यह चित्रण स्थूल होने के कारण पाठक की दृष्टि को शीघ्र ही पकड़ लेता है; प्रगतिवादियों ने, सौन्दर्य-सज्जा के लिए उन सभी पुराने उपमानों को त्याग दिया है जो रूढ़िगत होकर जर्जर हो गये थे। वे नारी को नये-नये अलङ्कारों से—साधारण सामग्री ले—सजाते हैं—

"तुम सोने के रङ्ग सी उजली
सरसों के फूलों से हलकी !"

या

"तुम दुबली-पतली दीपक की लौ-सी सुन्दर !"

आश्रय

प्रगतिवादी कवि स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को यन्त्रवत् चालू रखना चाहता है; वह उसे इतना सूक्ष्म, काल्पनिक, आदर्श एवं भावनापूर्ण रूप नहीं देता कि उसके लिए लम्बे-लम्बे आँसू या दीर्घ आहें भरी जायँ !! अतः शुद्ध प्रगतिवादी काव्य में शृङ्गारी जीवन की विविध परिस्थितियों के चित्रण का अभाव होना स्वाभाविक है। संयोग चित्रण जहाँ मिलते हैं—वहाँ भावना के क्रमिक विकास के स्थान पर वासना के आकर्षण एवं शारीरिक मिलन के दृश्यों का आयोजन है। 'ग्रामयुवती' के जीवन के ऐसे ही एक-दो प्रसङ्ग देखिए—

वह मग में रुक ,
मानो कुछ झुक ,
आँचल सँभालती, फेर नयन मुख
पा प्रिय पद की आहट
आ ग्राम युवक ,
प्रेमी याचक
जब उसे ताकता है इकटक
उल्लसित, चकित
वह लेती मूंद पलक-पट ।

—(पृ० १८)

पर कवि इस सम्बन्ध को ऐसी वैयक्तिकता, एकांगिता या अनन्यता प्रदान नहीं करता जिससे वासना भावना का गम्भीर रूप प्राप्त कर ले। इसीलिए वह दूसरे ही क्षण 'ग्रामयुवती' के सौन्दर्य को व्यक्ति विशेष के उपभोग की वस्तु न रखकर, सर्वसाधारण के लिए वितरित करता है, उसका समाजीकरण कर देता है—

पनघट पर, मोहित नारी नर !
जब जल से भर, भारी गागर
खींचती उबहनी वह, बरबस, चोली से उभर-उभर कसमस
खिचते संग युग रस भरे, कलश—
जल छलकाती ,
रस बरसाती ,
बल खाती वह घर को जाती ! —(पृ० १८)

नारी का जो सौन्दर्य छायावादी कवि के लिए उसके हृदय की गहराई में—मृदुल-मंजुल भावनाओं के रूप में छिपा हुआ था, वह अब 'युग-कलशों' में सिमट कर प्रगतिवादी की वासना-तुष्टि का साधन बन गया ! !

प्रगतिवादी के प्रेम का संसार आलिंगन, चुम्बन एवं शारीरिक मिलन तक ही सीमित है।

वियोग

प्रगतिवादी चाहे या न चाहे—पर उसकी शारीरिक संयोग आकांक्षाएँ भी परिस्थितियों की विषमता में पड़कर अपनी स्थूलता के भार को कुछ न्यून कर ही देती हैं। वासना की प्यास—वियोग के भार से झुककर किंचित् भावुकता से भी ग्रस्त होने के लिए बाध्य होती है। अतः ऐसी अवस्था में प्रगतिवादी ने कुछ 'विरह के गीत' भी लिखे हैं किन्तु उसका विरह संयोग की भाँति ही अधिक गम्भीर नहीं है। वासना के आवेश में जिसे कभी 'प्राण' कहा था, उसके दूर चले जाने पर जब कोई विशेष घटना घटित नहीं हुई तो कवि अपने सम्बन्ध की शुष्कता को स्वीकार कर लेता है—

कहने को तो मैंने उसको
चाहा था प्राणों से बढ़ कर

था झूठ किन्तु, हम मर न सके
जब एक दूसरे से छुट कर ! (पलाश वन पृ० ४२)

फिर भी कवि को अपनी एकान्तता के कारण किसी का अभाव तो खटकता ही है; इसीलिए सूने घर में बैठकर वह कुछ बड़बड़ाता-सा दिखाई पड़ता है—

शीतल कर धरती की छाती
नदियाँ सागर में मिल जातीं ;
नदियों में जल, जल में लहरें
गलबय्याँ डाले बल खातीं ;
भरता जो बाहों में अपनी
हुआ न तेरा ही कोई !
—(पलाश वन पृ० ४६)

ये भावनाएँ आलम्बन विशेष के प्रति नहीं हैं, यदि कोई भी 'बाहों में भर लेने वाला' प्राणी मिल जाता तो कवि के अभाव की पूर्ति हो जाती; अतः इसे 'प्रेम या विरह' न कहकर कामुकता का आवेग कहना ही अधिक उचित होगा ।

कवि के उपर्युक्त अभाव की पूर्ति कदाचित् कभी क्षण-दो-क्षण के लिए हो भी जाती है, किन्तु इससे किसी स्थिर सम्बन्ध का विकास नहीं हो पाता । वासना-जन्य सम्बन्ध चंचल और अस्थिर होता है जबकि प्रेम से मानवीय सम्बन्धों में स्थिरता आती है, अतः प्रगतिवादी कवि का किसी से स्थायी सम्बन्ध न हो पाना स्वाभाविक ही है । अस्तु, कवि को 'दो चोंच जल पीकर उड़ जाने वाले' पक्षियों को उपालम्भ देना पड़ता है—

"जहाँ चोंच दो चोंच पिया जल, ध्यान वहाँ का आएगा क्या ?
थाह भला तुम कैसे लेते सागर की ? तुम नभ के पंछी !"
—(पलाश वन पृ० ४८)

यहाँ 'चोंच-दो-चोंच' पानी पी लेने पर ध्यान न आने की कल्पना भी भ्रान्त प्रतीत होती है । सवाल चोंचों की संख्या या पानी की मात्रा का नहीं है—पानी यदि वासना के क्षार से मिश्रित न होता तो क्या मजाल थी कि उसकी एक बूंद पीने वाला भी जीवन भर उसे याद न रखता !!

वस्तुतः ये स्थूलवादी परिमाण की ही नाप-तौल करते रहने के कारण प्रेम के सूक्ष्म गुणों से वंचित रहते हैं !! इनका प्रेम—जो वासना का ही दूसरा नाम है, नये-नये आलम्बनों का आश्रय ग्रहण करता रहता है—

"वात, पीले पात सा जो
ले उड़ी थी दे भुलावा,
छोड़कर चल दी, मिला जब
उसे फूलों से बुलावा,
कर लिया हलका हृदय रो-झींख कर चुपचाप !!"

—(पृ० ५८ पलाश वन : 'आत्मबोध')

शृङ्गार की यह परिणति असफलता में होते हुए भी अधिक दुःखमय, दारुण और गम्भीर नहीं है। छायावादियों की असफलता से भी इसमें भेद है। उनका सम्बन्ध प्रेम के आधार पर स्थापित होता है, किन्तु परिस्थितियों के आधार पर नहीं होता, घर और समाज की रूढ़ियाँ ही उनके प्रेम में बाधक बनती हैं, अतः उनके प्रेम की सत्यता पर सन्देह नहीं किया जा सकता जबकि प्रगतिवादी कवियों के प्रेमी-प्रेमिका स्वयं ही—जान-बूझकर—एक दूसरे से विमुख होकर अपने प्रणय की असत्यता प्रमाणित करते हैं।

यदि रस-निष्पत्ति की दृष्टि से विचार करें तो प्रगतिवादी कवियों का शृङ्गार-निरूपण रसाभास की कोटि तक ही विकसित हो पाता है। उसमें आलम्बन का सौन्दर्य—नग्न सौन्दर्य है; आश्रय की उद्दाम वासनाएँ हैं; अनुभाव और संचारी भी हैं, किन्तु उन सब से 'रति-भाव' की अभिव्यक्ति न होकर 'रति-क्रीड़ा की चाह' ही अधिक व्यक्त होती है। अस्तु, जहाँ स्थायी-भाव—प्रेम—ही अस्थायी है वहाँ रस-निष्पत्ति की आशा करना ही व्यर्थ है। वस्तुतः इन कवियों का लक्ष्य भी शृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति करना नहीं था। प्रगतिवादी काव्य का लक्ष्य वर्तमान समाज की विषमताओं के प्रति घृणा और असन्तोष जगाकर क्रान्ति का आह्वान करना है, अतः ऐसी स्थिति में उसके अंगी रस वीभत्स एवं रौद्र ही बन सकते हैं, शृङ्गार रस को तो उसमें गौण स्थान ही प्राप्त हो सकता है और ऐसा ही हुआ है।

२८. प्रयोगवाद या शुष्कतावाद ?

आधुनिक हिन्दी कविता में एक नये वाद का प्रचार हो रहा है, जिसे विभिन्न नामों से पुकारा जा रहा है, किन्तु उसके गुणों के आधार पर हम उसे 'शुष्कतावाद' की संज्ञा देना अधिक उचित समझते हैं। इस शुष्कतावाद के जन्म की कहानी भी बड़ी विचित्र है। आपने पुराणों में समुद्र-मन्थन की बात तो सुनी ही होगी। आधुनिक युग में द्विवेदी-युग के अनन्तर हिन्दी काव्य-क्षेत्र में समुद्र-मन्थन का पुनः उपक्रम किया गया, जिससे सब से पहले मोहिनी-प्रकृति-बाला की उपलब्धि हुई जिसे प्रसाद-पन्त-निराला ने सप्रेम स्वीकार कर लिया, एक वारुणी का घड़ा निकला उसे बच्चन जी ले भागे, अमृत-कलश निकला जिसे लेकर प्रगतिवादी कुछ आगे बढ़े ही थे कि पन्त और निराला ने जाकर हिस्सा बँटा लिया। उसके बाद विष निकला जो दुःखवाद का ही दूसरा रूप था, उसे पीने के लिए महादेवी जी सहर्ष प्रस्तुत हो गईं।

अस्तु, इन रत्नों की उपलब्धि की बात सुन कर कुछ नये लेखकों का भी मन ललचाया— जिनमें अज्ञेय जी अग्रणी थे। उन्होंने भी काव्य-सिन्धु का मन्थन किया किन्तु दुर्भाग्य से पल्ले कुछ नहीं पड़ा। थोड़े घोंघे, सीपियाँ, शालिग्राम की मूर्तियाँ आदि चित्र-विचित्र पदार्थ प्राप्त हुए जिन्हें उन्होंने अपने अजायबघर 'तार-सप्तक' में सजा दिया। दूसरी डुबकी पुनः कुछ साथियों को लेकर लगाई जिससे वैसे ही कुछ पदार्थ और प्राप्त हुए। दोनों तार सप्तकों में मिलाकर रत्न न सही, चौदह की संख्या तो पूरी हो ही गई। (अब तीसरा सप्तक और निकला है।)

इस प्रकार अज्ञेय जी के इस अजायबघर में नित्य नई-नई वस्तुओं— शालिग्राम जी की मूर्तियों, शिव के लिंग, सुन्दर खुरदरे सिल-बट्टों आदि का संग्रह होता जा रहा है। उनका विचार है कि जब कभी कोई पत्थर प्रदर्शिनी हुई तो उनके ये लम्बे और गोल, चौड़े और नुकीले बट्टे अच्छे भाव बिक जायेंगे। यही है शुष्कतावाद के उद्भव की कहानी।

अब लीजिए इसके कुछ प्रमुख कवि और उनके काव्य का परिचय।

आपको अधिक कविताएँ न सुनाकर इसकी कुछ चुनी हुई प्रकाशित पोइम्स ही सुनाना हम पसन्द करेंगे—

साधारण नगर के
एक साधारण घर में
मेरा जनम हुआ,
बचपन बीता अति साधारण
साधारण खान पान
साधारण वस्त्र वास
तब में एकाग्र मन
जुट गया ग्रन्थों में
मुझे परीक्षाओं में विलक्षण श्रेय मिला—

—भारत भूषण (कल्पना, सितम्बर '५७)

आप कहेंगे—इसमें भाव कौन-सा है ? रस कहाँ हैं ? न-न-न ? ऐसी बात मत कीजिए, आप जरा आधुनिक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए कविता को समझने से पूर्व कवि का परिचय प्राप्त कीजिए। देखिए, आपने भारत-भूषण जी की लिखी हुई महान् कृतियाँ—साहित्यरत्न गाइड, तुलसीदास—(प्रश्नोत्तर) पुस्तकें पढ़ी होंगी। उन पर आपने उनके नाम के आगे 'गोल्ड मैडलिस्ट' भी पढ़ा होगा—बस अब आप पढ़िए—मुझे परीक्षाओं में विलक्षण श्रेय मिला। आया कुछ स्वाद ? नहीं। बात यह है कि शुष्कतावाद पुरानी दकियानूसी मान्यताओं जैसे रस-सिद्धान्त, आदि में विश्वास नहीं रखता। कविता में भाव तत्त्व हो, इसे भी वह आवश्यक नहीं मानता। आपने यदि थोड़ा मगरबी ऐस्थेटिक्स पढ़ा हो तो आपको पता होना चाहिए, हमारी सौन्दर्यानुभूति का मूल कारण है मन की वृत्तियों का एकोन्मुख हो जाना। जब आप इस कविता में बार-बार 'साधारण' शब्द की आवृत्ति तथा अन्तिम पंक्ति में 'विलक्षण श्रेय' को पढ़ते हैं तो आपका मन यह जानने को उत्सुक हो जाता है कि वह विलक्षण श्रेय क्या है ? आपकी यह उत्सुकता तब तक बनी रहती है, जब तक कि कवि महोदय के 'गोल्ड मैडलिस्ट' होने का पता आपको नहीं चल जाता। बस, प्रसंग की यही गोपनीयता, शब्द की आवत्ति

आपकी वृत्तियों के एकीकरण के लिए पर्याप्त है। भाव-आव की बात छोड़िए। (आज के इस वैज्ञानिक युग में तथ्य-परक कविता चलनी है—भाव-परक नहीं।)

अब इसी कविता की अगली पंक्ति देखिए—

तब मैंने पहली बार
अपने क्षुद्र जीवन में प्यार किया।

क्या कहा आपने—प्यार में स्वशब्द वाच्यत्व दोष आ गया ? वाह ! आप फिर वही पुरानी लकीर पर आ गए। मैं भी मानता हूँ, शुक्ल जी ने भी काव्य में भावों के नामोल्लेख की अपेक्षा बिम्ब-ग्रहण का समर्थन किया था, किन्तु आप यह तो सोचिए कि शुक्ल आज कितना पुराना पड़ गया। उसके बाद तो गङ्गा में इतना पानी बहा है कि कुछ मत पूछिए। आप सोचिए, आज के युग में जब प्रत्येक वस्तु की गति में वृद्धि हुई है, तो क्या हमारी सम्वेदना शक्ति की गति में वृद्धि नहीं हुई ? अतः पुराने युग के लोगों को प्रत्यक्ष-चित्रण या बिम्ब-ग्रहण से ही भावानुभूति होती थी, वहाँ इस दशक के व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि केवल संकेत मात्र से ही उसका मन वस्तु के भाव, गुणादि को ग्रहण कर ले, यदि वह ऐसा नहीं कर पाता, तो समझ लो, इस युग से बहुत पीछे है।

जरा आगे पढ़िए—

वास्तव की एक ही खरोंच से
उस मेरे स्वप्नशील प्यार का दम निकला।
फ्यूज हो गया वह प्रकाश पुंज
साधारण झटके से।

मैं भी मानता हूँ कि इसमें दम निकलने वाले का सा दर्द ध्वनित नहीं होता, तमाशा देखने वाले का सा अट्टहास सुनाई नहीं पड़ता। पर आप यह भी तो सोचिए, दम कवि का थोड़े ही निकला, उसके प्यार का निकला है—वही प्यार, जो अपने से सौगुणी अमीर लड़की से किया था—ध्यान रखिए, प्यार हुआ नहीं था—किया गया था। प्यार होना और बात है, प्यार करना और बात है। जो व्यक्ति प्यार कर सकता है वह भला एक प्यार के दम निकलने

पर क्यों रोयेगा। वह एक नहीं अनेक प्यार कर सकता है। हाँ, 'फ्यूज' शब्द रामचन्द्र वर्मा के प्रामाणिक शब्दकोष में कदाचित् न मिले। पर हमें विश्वास है, वे अगले संस्करण में अवश्य दे देंगे—यदि नहीं देते हैं, तो यह उनकी संकीर्णता, दकियानूसी और अवैज्ञानिकता होगी।

पर यदि आपको उपर्युक्त पंक्तियों से सन्तोष न हुआ हो, तो अज्ञेय जी की कुछ शब्दावलियाँ सुनाते हैं। बात यह है, आजकल स्वयं अज्ञेय जी जब कभी उन्हें आलोचना से फुरसत मिल जाती है—तो खाली क्षणों में वे अपने ही प्रिय सखा प्रयोगवाद के बाल शिशु—शुष्कतावाद की अँगुली पकड़ कर उसे चलना सिखाने लगते हैं। इससे उनका मनोरंजन हो जाता है और साथ ही एक सखा के पुत्र का हित हो जाता है। हाँ, तो देखिए—

चेहरे थे असंख्य,
आँखें थीं
.....
.....
.....

कहीं आप यह न समझ बैठें कि चेहरों पर आँखें नहीं होंगी, अतः कवि साथ-साथ में स्पष्टीकरण भी करता चलता है। अरे साहब, यह छायावाद की पोइट्री नहीं है, जिसमें प्रत्येक वर्ड में अस्पष्टता मिले। आगे बढ़िए—

दर्द सभी में था·····
जीवन का दंश सभी ने जाना था।

दंश का अर्थ है डसना; यहाँ जीवन का दंश का अर्थ से तात्पर्य पर जीवन रूपी सांप का डसना। आप यह मत पूछिए कि क्या जीवन भी किसी को डसता है ? क्यों नहीं, अवश्य डसता है। हां, इतना अवश्य अस्पष्ट है कि वह डसता किसको है—मृत्यु को या प्राणों को—। खैर बुद्धि लगाइये, शायद आगे समझ में आ जाय—

पर दो,
केवल दो।
मेरे मन में कौंध गई।

यदि आप में कुछ भी कामन सेन्स है, तो इन पंक्तियों का अर्थ समझ लीजिए।

अच्छा अब एक नमूना और लीजिए—

अंतरंग की इन घड़ियों पर छाया डाल दूं।
अपने व्यक्तित्व को एक निश्चित सांचे में ढाल दूं।
निजी जो कुछ है—अस्वीकृत कर दूं।
संबोधनों के सर्ग को उपसंहृत कर दूं।
आत्मा को न मानूं
तुम्हें न पहचानूं
तुम्हारी त्वदीयता को स्थिर शून्य में उछाल दूं।
तभी
हां
शायद तभी.....

—(राजेन्द्र किशोर : कल्पना—सित० ५७)

यह हमारे शुष्कतावाद का रहस्यवादी स्टायल है। कविता तत्व-चिन्तन से भरपूर है। (कवि के विचारों की अस्पष्टता, निर्णय की अक्षमता अपने पूर्ण वैभव के साथ मुखरित है) विशेषता यह है कि पाठक भी कवि की तरह ही क्षण भर के लिए उस शून्य लोक में पहुँच जाता है, जहाँ वह कुछ भी सोचने-समझने के योग्य नहीं रहता। ऐसी कविता के तत्वास्वादन (रसास्वादन नहीं) के लिए विकसित बुद्धि के पाठक चाहिए, जो कवि के विचारों की सूक्ष्मता को ग्रहण कर सकें।

खैर, आज तो मैं शुष्कतावाद की तीन प्रमुख रचनाओं का ही परिचय दे सका किन्तु आप यह न समझें कि हमारे कवियों की संख्या इतनी ही है। बात यह है कि पत्र-सम्पादकों से सफिशियन्ट सहयोग न मिलने के कारण हमारी पर्याप्त रचनाएँ अप्रकाशित रह जाती हैं। वैसे प्रकाशित रचनाओं की संख्या भी कई सौ तक पहुँच जाती है। आवश्यकता है ऐसे आलोचकों की जो शुष्कतावादी रचनाओं को स्वयं समझ सकें और दूसरों को समझा सकें।

*

२६. 'गोदान' में शहरी कथानक का औचित्य

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने स्व० प्रेमचन्द जी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' की कथा-वस्तु का विश्लेषण करते हुए इसके एक बड़े भारी दोष की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है। उन्होंने 'गोदान' की कथावस्तु को दो अन्तर्कथाओं में विभाजित किया है। प्रथम, गाँव की कहानी। इसका केन्द्र होरी है। दूसरे, शहर की कथा जिसके केन्द्र रायसाहब हैं। श्री वाजपेयी जी का कथन है कि प्रेमचन्द ने इन दोनों कहानियों को परस्पर भली प्रकार गठित नहीं किया। ये दोनों कहानियां बिखरी हुई सी दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त उनके विचार से शहर वाली कहानी का इस उपन्यास में कोई उपयोग नहीं क्योंकि शहर के पात्र न तो गाँव की कहानी को आगे बढ़ाने में योग देते हैं और न ही वे ग्रामीण पात्रों के जीवन से कोई गहरा सम्बन्ध रखते हैं। उन्होंने इसकी उपमा एक ऐसे मकान से दी है जिसके दो भागों में दो भिन्न जाति के परिवार हों और जिनका परस्पर कोई गहरा सम्बन्ध न हो।

विभिन्न आलोचकों ने इस आक्षेप का निराकरण करने का भी प्रयत्न किया है। वे विभिन्न तर्कों से शहरी कथानक की 'गोदान' में उपयोगिता सिद्ध करते हैं। एक तर्क यह है कि शहरी कथानक के आ जाने से गोदान में पूरे भारत का प्रतिनिधित्व हो जाता है। किन्तु यह तर्क भी विशेष महत्वपूर्ण नहीं है। क्योंकि शहरी कथानक के आ जाने के पश्चात् भी गोदान दक्षिणी और पूर्वी भारत का प्रतिनिधित्व नहीं करता। वाजपेयी जी के आक्षेप के निराकरण के लिए दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि शहरी कथानक के कारण शहर के लोगों की भी गोदान में रुचि उत्पन्न होती है। किन्तु यह तर्क भी निराधार है। सेवासदन में वेश्याओं का चित्रण है, तो क्या उसमें वेश्याओं की ही रुचि उत्पन्न होगी ? अतः शहरी पाठकों की रुचि के लिए

आवश्यक नहीं कि किसी भी उपन्यास में शहर सम्बन्धी इतिवृत्त भी बलपूर्वक रखा जाय। तीसरा तर्क यह है कि शहरी कथानक के कारण उपन्यास में थोड़ी मनोरंजन की सामग्री आ गई है। अन्यथा ग्रामीण जीवन के नीरस एवं करुणापूर्ण दृश्यों को देखते-देखते पाठक ऊब जाता है। यह तर्क भी बहुत शक्तिपूर्ण नहीं है। क्या प्रेमचन्द ग्रामीण जीवन का ही ऐसा चित्रण नहीं कर सकते थे कि जिससे उसमें मनोरंजन की सामग्री उपलब्ध हो जाती ? वस्तुतः यह तर्क तो गोदान की ही नहीं प्रेमचन्द की कला का भी महत्व न्यून करता है।

अतः यह विचारणीय है कि क्या हम इस आक्षेप को स्वीकार कर लें ? इस सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण वाजपेयी जी के दृष्टिकोण से भिन्न है। वास्तव में उन्होंने इन दोनों कहानियों का विभाजन और नामकरण ही बिल्कुल अनुचित रूप में किया है। 'गोदान' गाँव और शहर की कहानी नहीं है अपितु किसान और जागीरदार, मजदूर और मिल मालिक तथा गरीब और अमीर की कहानी है। पहली कहानी में यदि किसान, मजदूर और निर्धन वर्ग के लोगों का चित्रण किया गया है तो दूसरी में जागीरदार, मिल मालिक और पूंजीपति का चित्रण है। अतः इन कहानियों को समाजवादी दृष्टिकोण से शोषित वर्ग की कहानी और शोषक वर्ग की कहानी कहना चाहिये। वाजपेयी जी द्वारा उनको दिया नाम भ्रामक है। यह भी ध्यान रहे कि प्रेमचन्द की सहानुभूति न तो सभी गाँव के पात्रों से और न सभी शहर के लोगों से है। अतः यदि इस उपन्यास के पात्रों को दो वर्गों में बाँटा जाय तो पहले वर्ग में किसान, मजदूर आवेंगे और दूसरी में जागीरदार, मिल मालिक और पूँजीपति आवेंगे। यदि इस दृष्टिकोण से इस उपन्यास की कथावस्तु और पात्रों का विभाजन किया जावे तो वाजपेयी जी का आक्षेप निराधार सिद्ध होता है क्योंकि किसान की कहानी जागीरदार बिना, मजदूर की मिल-मालिक बिना, गरीब की कहानी अमीर बिना अधूरी रहेगी। आखिर किसानों और मजदूरों की गरीबी का कारण क्या है ? जागीरदारों और पूँजीपतियों का शोषण ही इसका उत्तर है। अतः यह समझ में नहीं आता कि बिना जागीरदार और पूँजीपतियों के किसान मजदूर की कहानी को कैसे पूरा किया जा सकता था।

अब जरा शिल्प की दृष्टि से भी इस आक्षेप पर विचार करें। आज के भारत में किसान और जागीरदार के जीवन में इतना अन्तर है जितना होरी और राय साहब में। अतः यदि दोनों के सम्बन्ध को इससे अधिक घनिष्ठ बना दिया जाता तो वह अस्वाभाविक बात हो जाती। दूसरे, प्रेमचन्द ने दोनों कहानियों को मिलाने के लिए दो दृढ़ बन्धन लगाए हैं। एक है राय साहब, और दूसरा है गोबर। ये दोनों, दोनों कहानियों में सुदृढ़ संयोजक का काम करते हैं। इन पात्रों के कारण दोनों कहानियां मिल कर एकाकार हो गई हैं। शहर के जिन पात्रों से होरी का सम्बन्ध नहीं है, उन सबसे गोबर का सम्बन्ध दिखाया है। वह मिर्जा के यहाँ नौकरी करता है, खन्ना की मिल में काम करता है, तथा मेहता व मालती के सम्पर्क में आता है। अतः दोनों वर्गों के पात्रों में परस्पर सम्बन्ध तो है ही। हाँ, यदि उस सम्बन्ध को और अधिक घनिष्ट बना दिया जाता तो यह देश-काल की परिस्थितियों के विरुद्ध होता। जिस प्रकार फिल्मी कहानियों में मिल-मालिक की कन्या से किसी मजदूर का प्रेम दिखा कर कथानक को सम्बद्ध कर दिया जाता है, वैसा यदि 'गोदान' का लेखक भी कर देता तो यह उसका गुण न होकर दोष ही होता। अस्तु, उपन्यास जीवन का प्रतिबिम्ब है, जब प्रत्यक्ष जीवन में ही शोषक एवं शोषित वर्ग के लोग परस्पर विच्छिन्न से हैं, तो उनका प्रतिबिम्ब भी वैसा ही होगा, इसमें प्रतिबिम्बकार का क्या दोष !

---

३०. 'गोदान' में चरित्र-चित्रणांकन-कला का विकास

किसी भी उपन्यास में कथावस्तु के अनन्तर सबसे अधिक महत्वपूर्ण तत्व पात्रों का चरित्र चित्रण है। यही नहीं, नवीनतम उपन्यासों में तो चरित्र चित्रण को कथावस्तु से भी अधिक महत्व दिया जाने लगा है। वास्तव में एक उपन्यासकार की कला की परख उसके पात्रों की सजीवता के आधार पर ही की जा सकती है। अतः गोदान के महत्व को भली प्रकार से समझने के लिए हम उसके चरित्र चित्रण पर विचार करना आवश्यक समझते हैं।

गोदान से पूर्व प्रेमचन्द जी के उपन्यासों के पात्रों के सम्बन्ध में सबसे बड़ा आक्षेप यह प्रस्तुत किया जाता था कि उनके पात्र व्यक्ति न होकर टाइप अर्थात् वर्ग प्रतिनिधि होते हैं। अर्थात् उनके पात्रों में उनके वर्ग की विशेषताएँ अधिक होती हैं और उनका निजी व्यक्तित्व अविकसित रहता है। उदाहरण के लिए प्रेमाश्रम के जागीरदार, जागीरदार के रूप में अधिक चित्रित हैं। उनकी व्यक्तिगत विशिष्टताओं का विकास अधिक नहीं हो पाता। किन्तु यह आक्षेप गोदान पर लागू नहीं होता। गोदान के पात्र अपने वर्ग और अपने समाज की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु फिर भी उनके व्यक्तित्व का विकास स्वतंत्र रूप से भी हुआ है। उदाहरण के लिए एक ही वर्ग और एक ही परिवार के चार पात्रों को ले सकते हैं। होरी, हीरा, शोभा और गोबर, ये चारों किसान वर्ग से सम्बन्धित हैं किन्तु फिर भी चारों के व्यक्तित्व में इतना अधिक अन्तर प्रदर्शित किया गया है कि जिससे हम चारों को अलग-अलग रूप में पहचान सकते हैं। होरी यदि उत्साही, करुण, सहनशील और उदार है तो हीरा कुछ दम्भी, क्रोधी और कठोर है। इसी प्रकार शोभा और गोबर के चरित्र में भी परस्पर कुछ न कुछ अन्तर मिलता है। इसी प्रकार राय साहब भी कोरे जागीरदार ही नहीं हैं, उनके चरित्र में कुछ ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं जो उन्हें एक साधारण जागीरदार से भिन्न कर

देती हैं। वे इतने बड़े जागीरदार होते हुए भी होरी को अपना दुःख सुनाने में, साधारण से सम्पादक को रिश्वत देने में और मेहता व मिर्जा साहब की कटु आलोचनाओं को सहन करने में अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं का परिचय देते हैं। इस उपन्यास में नारी पात्र भी अनेक हैं। धनिया, पुनिया, झुनिया, सिलिया, गोविन्दी, मालती आदि। किन्तु इन सब के व्यक्तित्व में परस्पर सूक्ष्म अन्तर प्रदर्शित किया गया है।

प्रेमचन्द जी के प्रारम्भिक उपन्यासों में पात्रों का चरित्र चित्रण ऐसी आदर्शवादी शैली में किया गया है कि वह कहीं-कहीं अस्वाभाविक भी बन गये हैं। जैसे रंगभूमि के सूरदास, प्रेमाश्रम के प्रेमशंकर और कर्मभूमि के अमरकांत में यही अस्वाभाविकता आ गई है। मनुष्य में गुण और दोष दोनों होते हैं किन्तु इन पात्रों में कोरा गुण ही गुण है। पर गोदान में यह बात नहीं। उसके नायक होरी में जहां अनेक सद्गुण हैं वहां बुराइयों का भी अभाव नहीं है। यहां तक कि वह अपने सगे भाई के पैसों को भी बांसों के भाव में गड़बड़ी करके खा जाना चाहता है या वह भोला जैसे व्यक्तियों को भी ठगने का प्रयत्न करता है। अस्तु, गोदान में कोई ऐसा पात्र नहीं है जिसके चरित्र में कोई न कोई दोष विद्यमान न हो। कदाचित् प्रो० मेहता पर यह बात लागू न हो। किन्तु अन्ततः उनके चरित्र को भी मालती के अन्तिम रूप के सम्मुख गिरा दिया गया है।

चरित्र चित्रण में तीसरी बात यह देखनी चाहिए कि लेखक ने पात्रों के व्यक्तित्व और चरित्र में परिवर्तन उपस्थित किया है या नहीं और यदि किया है तो कैसे ? प्रारम्भिक उपन्यासों में प्रेमचन्द जी गांधीवादी अधिक रहे। इसलिए उन्होंने पात्रों का इतना अधिक हृदय-परिवर्तन दिखाया है कि वह अस्वाभाविकता की सीमा को छू लेता है। जैसे, प्रेमाश्रम में जागीरदार मायाशंकर का जान बूझ कर अपनी जागीर त्याग देना। किन्तु गोदान में यह परिवर्तन ठोस कारणों के आधार पर स्वाभाविक ढंग से दिखाया गया है। चरित्र में परिवर्तन के सामान्यतः तीन कारण होते हैं। १. वातावरण का प्रभाव। २. घटनाओं का प्रभाव। ३. व्यक्तियों का प्रभाव। गोदान में इन तीनों के ही सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं। गोबर जैसा बुद्धू लड़का

शहर की हवा खाकर अपने गांव के बड़े बूढ़ों के कान काटने लगता है। यह है शहरी वातावरण का प्रभाव। वह मातादीन जिसने सिलिया को बिल्कुल ठुकरा दिया था, अपने पुत्र-शोक की घटना से प्रभावित होकर उसे पूरी तरह अपना लेता है। यह है घटना का प्रभाव। प्रो० मेहता के सम्पर्क में आकर समाज में तितली की भांति घूमने वाली मालती ग्राम सेविका बन जाती है। यह है व्यक्ति का प्रभाव। इन में मालती के परिवर्तन को छोड़ कर शेष दोनों परिवर्तन स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। मालती का परिवर्तन अवश्य थोड़ा अस्वाभाविक प्रतीत होता है, किन्तु उसे हम असम्भव नहीं कह सकते।

पात्रों के चरित्र चित्रण में मनोविज्ञान का भी ध्यान रखा जाता है। यद्यपि आजकल के उपन्यासकारों की भांति प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासों को मनोविज्ञान की प्रयोगशाला का रूप नहीं दिया है, किन्तु स्वाभाविक रूप में उनके उपन्यास मनोवैज्ञानिकता से परिपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए उपन्यास के प्रारम्भ में ही होरी की प्रशंसा के कारण धनिया में कोमलता और उदारता का स्फुरण दिखाया गया है जो कि बहुत ही स्वाभाविक है। कहाँ तो धनिया भोला के नाम से ही चिढ़ती थी और कहां यह सुन कर कि भोला उसकी प्रशंसा कर रहा था, वह दो के स्थान पर तीन टोकरे चारे के देने के लिए तैयार हो जाती है। इसी प्रकार गोबर और झुनिया के पारस्परिक सम्बन्ध का विकास मनोवैज्ञानिक आधार पर दिखाया गया है। शहर में चले जाने के पश्चात् गोबर के दाम्पत्य जीवन में जो शुष्कता दिखाई गई है, वह मनोविज्ञान सम्मत है।

गोदान में कहीं-कहीं ऐसी चारित्रिक असंगतियों को भी चित्रित किया गया है जो कि पाठक के लिए मनोविनोद की सामग्री प्रस्तुत करती हैं। उदाहरण के लिए एक ओर तो होरी अपने सगे भाई के विरुद्ध ही बांस काटने वाले से सांठ-गांठ करता है, दूसरी ओर वह यह आशा रखता है कि काटने वाला ईमानदारी का व्यवहार करेगा। इसी प्रकार गांव के पंच महाजन जब होरी पर अत्याचार करते हैं तो वे धर्म और ईश्वर को बिल्कुल भूल जाते हैं, किन्तु जब पुलिस का दारोगा उन पर अत्याचार करता है तो

वे धरती पर से न्याय उठ जाने का दोष भगवान को देते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द की चरित्र-चित्रांकन कला में वे सब विशेषताएँ मिलती हैं जो एक सफल उपन्यासकार में मिलनी चाहिए। यह ठीक है कि गोदान उपन्यास के सभी पात्र समान रूप से प्रभावशाली नहीं बन पाए किन्तु इससे इस उपन्यास की कला में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। एक उपन्यासकार सभी पात्रों को एक सा ही महत्व नहीं दे सकता। प्रमुख पात्रों की ओर उसे अधिक ध्यान देना होता है। गौण पात्रों की ओर कम। ऐसा ही गोदान के लेखक ने भी किया है।

३१. गोदान : तात्विक विवेचन

कथानक

साहित्य के अन्य अङ्गों और उपन्यास में सबसे बड़ा अन्तर कथानक का ही है। जैसे गीति, मुक्तक, काव्य और निबन्ध आदि में बिना कथानक के काम चल जाता है किन्तु उपन्यास का तो वह प्राण है। गोदान में कथानक का विस्तार उसी सीमा तक है जहाँ तक वह पात्रों के चरित्र चित्रण और समस्याओं के प्रस्तुतीकरण में साधक सिद्ध होता है। उनके उपन्यासों में न तो कोरी घटनाओं का जाल है और न ही उनका ऐसा अभाव है कि पाठक उसे पढ़ता हुआ ऊब जावे। गोदान की प्रमुख कथावस्तु एक भारतीय किसान परिवार होरी और गोबर के परिवार से सम्बन्धित है। किन्तु उसमें इसके अतिरिक्त और भी कई कथाएँ सङ्गठित हैं जिनमें प्रमुख ये हैं—राय साहब से सम्बन्धित, मातादीन और दातादीन से सम्बन्धित, गोबर और झुनिया से सम्बन्धित, मि० मेहता और मालती से, खन्ना और गोबिन्दी से, नोखेराम और भोला की पत्नि आदि-आदि से। इससे स्पष्ट है कि गोदान में अनेक छोटी-छोटी प्रासङ्गिक कहानियों का समावेश किया गया है। किन्तु इन सभी कहानियों के मूल केन्द्र मुख्यतः तीन पात्र ही हैं—होरी, गोबर और राय साहब। लेखक ने इन कथानकों को परस्पर इस प्रकार गूँथा है कि वे हमें अप्रासङ्गिक नहीं जान पड़ते। हाँ, मालती और मेहता का प्रकरण मूल कथानक से थोड़ा विच्छिन्न दिखता है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने गोदान को कथावस्तु को ग्रामीण और शहरी दो भागों में बाँटते हुए आक्षेप लगाया है कि गाँव की कहानी और शहर की कहानी परस्पर सम्बन्धित है। किन्तु हम उनसे सहमत नहीं। हमारे विचार से गोदान की कथाओं को गाँव और शहर के शीर्षकों में बाँटना ही अनुचित है। वस्तुतः गोदान में गाँव और शहर का पारस्परिक सङ्घर्ष नहीं दिखाया है। अपितु उसमें किसान और जागीरदार, मजदूर और मिल-मालिक, कर्जदार और ऋणदाता या यों कहिये कि शोषित और शोषक वर्ग का चित्रण

है। गाँव के सभी पात्र शोषित नहीं हैं और शहर के सभी पात्र शोषक नही हैं। अतः केवल मालती, मेहता को छोड़ कर सारा कथानक सुसम्बन्धित ही कहा जाता है।

चरित्र-चित्रण

किसी भी उपन्यासकार की सफलता का प्रमाण उसके चरित्र-चित्रण में मिलता है। पात्रों में नाम और रूप की कल्पना तो प्रायः सभी लेखक कर सकते हैं किन्तु उनको सजीव रूप प्रदान करना सभी के वश की बात नहीं होती। सफल उपन्यास लेखक वह है जिसके पात्र हमें इसी धरती के वास्तविक प्राणी जान पड़ें। गोदान में यह बात मिलती है। यद्यपि गोदान में विभिन्न वर्गों के पात्रों को प्रतिनिधित्व दिया गया है किन्तु फिर भी उनके व्यक्तित्व विकास में कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई। प्रायः प्रेमचन्द पर यह आक्षेप प्रस्तुत किया जाता है कि उनके पात्र वर्ग-प्रतिनिधि होते हैं। उनका निज का कोई व्यक्तित्व नहीं होता। अर्थात् उनके पात्रों में किसान या जागीरदार की सामान्य प्रवृत्तियों का विकास अधिक होता है। उनमें वैयक्तिक विशिष्टता कम मिलती है। किन्तु गोदान पर यह आक्षेप लागू नहीं होता। होरी, हीरा और शोभा का चरित्र यह सिद्ध करता है कि एक ही किसान के कितने रूप उपलब्ध हो सकते हैं। रायसाहब जागीरदार होते हुए सामान्य जागीरदार की भाँति अभिमानी नहीं हैं। वे होरी जैसे किसान के सामने भी अपना दुखड़ा लेकर बैठते हैं। यही बात हम अन्य पात्रों के सम्बन्ध में भी कह सकते हैं। गोदान का छोटा से छोटा पात्र भी सजीव व्यक्तित्व सम्पन्न दिखाई पड़ता है जैसे चुहिया को लीजिये। उसका नाम ही सूचित करता है कि इस उपन्यास में इसका कितना महत्व होगा। किन्तु फिर भी इसका व्यक्तित्व कम प्रभावशाली नहीं है।

यद्यपि गोदान में प्रायः सभी क्षेत्रों से पात्रों को लिया गया है किन्तु फिर भी वाजपेयी जी का यह आक्षेप है कि गोदान में भारतीय जनता का पूरा प्रतिनिधित्व नहीं हो पाया। इसी लिये वे इसे राष्ट्र-प्रतिनिधि उपन्यास मानने के लिए तैयार नहीं। हमारे विचार से इसमें भारत की ९९ प्रतिशत जनता

का प्रतिनिधित्व हो जाता है। मजदूर से लेकर पूँजीपति, किसान से लेकर जागीरदार, पटवारी से लेकर पुलिस अधिकारी, इक्के चलाने वालों से लेकर चुनाव एजेण्टों तक प्रायः सभी स्तरों के पात्र इसमें हैं। भारत की ८० प्रतिशत से भी अधिक जनता गाँवों में है और उसका पूरा प्रतिनिधित्व इसमें है। शहर के शिक्षित वर्ग में से भी डाक्टर, आफिसर, सम्पादक, बीमा एजेण्ट आदि सभी वर्ग प्रायः आ गये हैं। हाँ, तत्कालीन राजनीतिक नेताओं का स्पष्ट प्रतिनिधित्व इसमें नहीं है। वैसे एक-दो एम. एल. ए. अवश्य इसमें आते हैं। इस थोड़ी-सी न्यूनता के लिए इस रचना को राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व के गौरव से वंचित करना कहाँ तक न्यायसङ्गत है ?

कथोपकथन या वार्तालाप

उपन्यास में इसके कई उद्देश्य होते हैं। एक तो उनसे पात्र की मानसिक अवस्था का पता चलता है, दूसरे उससे कथानक आगे बढ़ता है। तीसरे, उनके द्वारा लेखक अपने विचारों या सिद्धान्तों की व्यंजना करता है। चौथे, उनसे उपन्यास में मनोरंजन की सामग्री में वृद्धि की जाती है। गोदान में संभाषणों के द्वारा इन सभी उद्देश्यों की पूर्ति होती है। प्रेमचन्द जी ने इसमें पात्रों की मानसिक अवस्था के अनुकूल ही वार्तालाप का आयोजन किया है। वार्तालाप के द्वारा ही अनेक घटनाओं की सम्भावना उपस्थित होती है। जैसे झुनिया और गोबर का वार्तालाप। प्रेमचन्द ने अपने विचारों की व्यंजना भी की है। स्थान-स्थान पर मेहता, मिर्जा, आदि के मुख से विचार व्यक्त किये गये हैं। रोचकता भी उनके सम्भाषणों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है। उदाहरण के लिए वह अंश देखिये जब दारोगा होरी के बदले गाँव के मुखियों से ५० रुपये लेकर विदा हो जाता है तो पीछे से वे किस प्रकार अपने अपराधों को भूलकर पाप पुण्यों की मीमांसा में प्रवृत्त हो जाते हैं।

देशकाल या वातावरण

इससे तात्पर्य है कि उपन्यास में तत्कालीन परिस्थितियों तथा वातावरण का चित्रण होना। गोदान में जो कुछ है वह अपने ही युग का प्रतिबिम्ब है। अपने अन्य उपन्यासों में अवश्य वे कहीं-कहीं भविष्य के सुनहरे स्वप्नों में लीन

होकर अपने देश और काल की परिधि से आगे निकल गये हैं जो उनके आदर्शवादी दृष्टिकोण का परिणाम था, किन्तु गोदान में यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण विशुद्ध वर्तमान विद्यमान है। देश और काल का ऐसा सुन्दर चित्रण उनके किसी अन्य उपन्यास में नहीं हुआ।

शैली

प्रेमचन्द जी की शैली में वे सभी गुण विद्यमान हैं जो एक सफल उपन्यासकार के लिए अपेक्षित हैं। उसमें सरलता, स्वाभाविकता और रोचकता का गुण पर्याप्त मात्रा में है। वे प्रसाद की भाँति सभी पात्रों के लिए एक जैसी भाषा का प्रयोग नहीं करते। अपितु पात्रों की शिक्षा-दीक्षा और उनके मानसिक स्तर के अनुकूल ही विभिन्न प्रकार की भाषा का प्रयोग करते हैं। प्रेमचन्द उर्दू से हिन्दी में आये थे, अतः उनकी भाषा में उर्दू का सा लचकीलापन भी है। मुहावरों का प्रयोग भी उनमें पर्याप्त मात्रा में हुआ है।

उद्देश्य

प्रेमचन्द जी कला को केवल कला के लिये ही नहीं मानते अपितु वे कला को जीवन के लिए स्वीकार करते हैं। उनका कथा साहित्य केवल मनोरंजन के लिये रचित नहीं है। उन्होंने प्रायः अपने सभी उपन्यासों में अपने युग की ज्वलन्त समस्याओं का चित्रण किया है। गोदान में शोषक और शोषित वर्ग के जीवन पर प्रकाश डालते हुए शोषण की समस्या पर प्रकाश डाला है। यद्यपि उन्होंने इस समस्या का समाधान नहीं बताया किन्तु फिर भी वे अपने पाठकों को इसका भयङ्कर रूप अनुभूत करा देते हैं। यह उनकी कम सफलता नहीं है। शोषित वर्ग की दीन-हीन अवस्था का चित्रण उन्होंने एक ऐसे ढङ्ग से प्रस्तुत किया है कि जिससे पाठक का हृदय उस वर्ग के प्रति सहानुभूति-शील हो उठता है। साथ ही वह हमारे जीवन को सुखी बनाने के लिए एक महान क्रान्ति का सन्देश भी प्रभावशाली शब्दों में दे देते हैं। यही सन्देश प्रेमचन्द जी की मृत्यु से पूर्व भारतीय जनता को दिया गया अन्तिम दान या गोदान था। होरी का गोदान चाहे सफल न हुआ हो किन्तु प्रेमचन्द का

गोदान अमृत की एक बूँद है जिससे भारतीय जनता युग-युगों तक अपने लिये नये जीवन की शक्ति और नव निर्माण की स्फूर्ति प्राप्त करती रहेगी।

रस

साहित्य का कोई भी रूप भाव तत्व से शून्य नहीं हो सकता। और यदि वह इस तत्व से शून्य है तो उसे हम साहित्य नहीं कह सकते। प्रेमचन्द का गोदान भी भावनाओं की अगणित धाराओं से रससिक्त है। इसका स्थायी भाव करुणा या शोक रस है। होरी ही इस उपन्यास का नायक है। उसकी करुणाजनक परिस्थितियों का चित्रण करना ही लेखक का लक्ष्य है। होरी की जीवन गाथा हमारे हृदय में करुण भावनाओं को उद्वेलित करती है। उसके जीवन की दुःखान्त प्रेरणा हमें शोक से अभिभूत करती है। करुणा के अतिरिक्त इसमें शृङ्गार रस का आयोजन भी हुआ है। शृङ्गार भावना के प्रायः वे सभी रूप इसमें उपलब्ध होते हैं जिनका विकास आधुनिक समाज में सम्भव है।

शृङ्गार की तीन कोटियाँ निश्चित की गई हैं—कामुकता, रसिकता और प्रणय। मातादीन, नोखेराम जैसे पात्रों में कामुकता का प्रतिनिधित्व है तो कुछ अन्य मि० खन्ना जैसे पात्र रसिकता का प्रतिनिधित्व करते हैं। विशुद्ध प्रणय का विकास गोदान के किसी पुरुष पात्र में दृष्टिगोचर नहीं होता। मि० मेहता विशुद्ध प्रणय चाहते तो हैं किन्तु देने को तैयार नहीं। हाँ, नारी पात्रों में, जैसे धनिया और गोबिन्दी में अवश्य विशुद्ध प्रणय का स्फुरण मिलता है। किन्तु उनकी प्रणय भावना, भावना के रूप में न होकर रूढ़िबद्ध संस्कारों के रूप में है। अतः हम उनमें प्रणय की वह रङ्गीनी और उसके वे मधुर स्वप्न नहीं देखते जो कि विशुद्ध प्रणय में दृष्टिगोचर हो सकते हैं। वस्तुतः प्रेमचन्द का लक्ष्य इस उपन्यास में प्रणय भावनाओं के स्फुरण का कम था। उसकी विकृति और कुरूपताओं का अङ्कन ही अधिक था। हमारा समाज आज इतना पतनोन्मुख और विकृत होचुका है कि इसमें शुद्ध प्रणय के लिए कोई भी क्षेत्र अवशिष्ट नहीं है। कदाचित् ऐसा ही दिखाना प्रेमचन्द को स्वीकार्य था।

यहाँ एक समस्या है कि आचार्यों ने करुण रस और शृङ्गार रस में परस्पर विरोध माना है। अर्थात् इन दोनों रसों का चित्रण किसी एक ही रचना में होना दोष समझा जाता है। क्या ऐसी स्थिति में गोदान में इसे दोष मानें ? इसके उत्तर में हम कहेंगे कि एक तो प्रेमचन्द ने इन दोनों रसों का चित्रण अलग-अलग पात्रों को आधार बना कर किया है। दूसरे इसमें शृङ्गार रस का चित्रण रस के रूप में न होकर रसाभास के रूप में हुआ है। अतः इसे हम दोष नहीं मान सकते।

अन्त में हम कह सकते हैं कि प्रेमचन्द के गोदान में प्रायः सभी तत्वों का समन्वय सुन्दर रूप में हुआ है। वस्तुतः तात्विक दृष्टि से गोदान एक आदर्श उपन्यास है।

३२. 'गोदान' की प्रमुख समस्याएँ

उपन्यासकार प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में सामाजिक समस्याओं का चित्रण करना ही अपना ध्येय रखा था। यही कारण है कि उनकी प्रत्येक रचना में किसी न किसी समस्या का चित्रण हुआ है। जैसे वरदान में अनमेल विवाह का, प्रतिज्ञा में विधवा विवाह का, सेवासदन में वेश्या प्रथा का, रंगभूमि में पूँजीपतियों के अत्याचार का, प्रेमाश्रम में किसान जमींदार का, कर्मभूमि में हरिजनों और किसानों का, गबन में सरकारी कर्मचारियों की आर्थिक विषमता का, निर्मला में दहेज तथा वृद्ध विवाह का। अतः उनके अन्तिम उपन्यास में भी समस्याओं का चित्रण होना स्वाभाविक था। इसमें सर्व प्रमुख समस्या किसान और जागीरदार की है। इसी समस्या का चित्रण प्रेमचन्द इससे पूर्व प्रेमाश्रम में कर चुके हैं। अतः सर्वप्रथम इस बात पर विचार करना चाहिए कि प्रेमचन्द ने किसी नई समस्या को न लेकर इसी का चित्रण उन्होंने पुनः क्यों किया ? प्रेमाश्रम में वे इस समस्या का समाधान भी गान्धीवादी ढंग से प्रस्तुत कर चुके थे। ऐसा प्रतीत होता है कि गोदान तक आते-आते प्रेमचन्द जी के आरम्भिक विचारों में गहरा परिवर्तन हो चुका था। प्रेमाश्रम में उन्होंने इस समस्या का चित्रण जिस दृष्टिकोण से किया था, वह दृष्टिकोण ही अब बदल गया था। प्रेमाश्रम में समस्त जमींदार वर्ग का अत्याचार न दिखाकर केवल एक ही व्यक्ति ज्ञानशंकर का अत्याचार प्रदर्शित किया गया है। दूसरे, उसमें किसान के व्यक्तिगत दोषों का चित्रण नहीं हुआ। तीसरे, उसमें समस्या का समाधान गांधीवादी ढंग से प्रस्तुत किया गया है। चौथे, प्रेमाश्रम आदर्शवादी रचना है जब कि गोदान यथार्थवादी। जो समाधान प्रेमाश्रम में प्रस्तुत किया गया था, वह वास्तविक समाधान नहीं था। समय ने सिद्ध कर दिया था कि मायाशंकर और प्रेमशंकर की भांति जागीरदारों का हृदय परिवर्तन संभव नहीं। मायाशंकर जैसे जमीदार जो अपने अधिकारों को ठुकरा कर अपना सर्वस्व किसानों की सेवा में अर्पित कर सकें, वास्तविक दुनिया में मिलने कठिन हैं। यही कारण

है कि प्रेमचन्द ने अपनी पूर्व मिथ्या कल्पना में संशोधन करने के लिए गोदान की रचना की।

यह ठीक है कि गोदान में भी किसान की समस्याओं का चित्रण प्रमुख रूप से हुआ है, परन्तु उसके साथ मजदूर की समस्याएँ भी जुड़ी हुई हैं। किसान मजदूर का एक साथ आना नव विकसित समाजवादी दृष्टि का परिणाम है। गांधीवादी किसान और मजदूर को अलग-अलग देखता है। किन्तु साम्यवादी दृष्टिकोण से किसान और मजदूर एक श्रेणी में रखे जाते हैं। दूसरी ओर केवल जागीरदार ही नहीं है, उसके साथ पूँजीपति, सूदखोर महाजन और रिश्वतखोर सरकारी कर्मचारी भी उपस्थित हैं। गोदान में शोषक और शोषित दोनों वर्गों के पात्र हैं। अतः हम कह सकते हैं कि गोदान में केवल किसान या मजदूर की समस्या नहीं है किन्तु समस्त शोषित वर्ग की समस्याएँ हैं। वे समस्याएँ हैं शोषक वर्ग के शोषण की, सामाजिक रूढ़ियों की, धार्मिक अन्धविश्वासों की, नैतिक अनाचारों की और उनकी अशिक्षा की। इन समस्याओं पर हम यहां क्रमशः विचार कर सकते हैं।

(१) शोषक वर्ग के शोषण की समस्या

गोदान की सर्वप्रमुख समस्या शोषक और शोषित वर्ग के सामाजिक वैषम्य की है। यही कारण है कि गोदान में इन दोनों वर्गों के सभी प्रतिनिधि पात्र प्रस्तुत किये गये हैं। एक ओर शोषक वर्ग के प्रतिनिधि हैं राय साहब जागीरदार, मिल मालिक खन्ना, सूदखोर, भिंगुरी शाह, सरकारी कर्मचारी, पटेश्वरी, नोखेराम, धर्म के नाम पर शोषण करने वाले पंडित दातादीन, मातादीन, आदि। दूसरी ओर शोषित वर्ग के प्रतिनिधि हैं होरी, हीरा, शोभा जैसे किसान और गोबर जैसे मजदूर। लेखक ने दोनों का चित्रण इस प्रकार किया है कि जिससे शोषण की क्रिया स्पष्ट हो जाती है। भारत के किसान गरीब हैं, इसलिए नहीं कि वे मेहनत नहीं करते, इसलिए भी नहीं कि वे काम करना नहीं जानते या खाने-पीने में अपव्यय करते हैं, अपितु इसलिए कि वे उस समाज में रहते हैं जो कि शोषक वर्ग के द्वारा फैलाये हुए जाल से अधिक कुछ नहीं है। होरी जीवन भर परिश्रम करता है, किन्तु उसकी

मेहनत की कमाई गाँव के पंचों, महाजनों, सूदखोरों या सरकारी कर्मचारियों की जेब में चली जाती है। उसकी एक छोटी-सी इच्छा घर के द्वार पर गाय बाँधने की थी किन्तु यह इच्छा न उसके जीवन में पूरी हो पाई और न ही उसकी मृत्यु के अनन्तर ही। ऐसा क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर गोदान में है। भारत का किसान मूर्ख नहीं है। यह होरी के चरित्र से सिद्ध है। किन्तु फिर भी वह कौन-सा कारण है कि उसकी कमाई छीनी जाती है ? गोदान के लेखक ने उत्तर दिया है, समाज का वर्तमान ढाँचा। इसी प्रकार शहर के मजदूरों की दुरवस्था का चित्रण इसमें सफलतापूर्वक किया है। गोबर जैसा परिश्रमी मजदूर भी जब मजदूरी करके अपने बच्चे को दूध नहीं पिला सकता तो फिर दुर्बल मजदूरों की दुर्दशा का तो कहना ही क्या। इस दुर्दशा का उत्तरदायी कौन है ? गोदान में उत्तर मिलेगा 'पूँजीपति'। आज का मिल मालिक अपने हिस्सेदारों के लाभ के लिए मजदूरों के गले पर किस प्रकार छुरी चला सकता है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मि० खन्ना के व्यवहार में मिलेगा।

शोषित वर्ग की इस दुर्दशा के साथ-साथ शोषक वर्ग की परिस्थितियों का भी चित्रण इसमें सफलतापूर्वक किया है। किसानों की कमाई के बल पर रायसाहब और उनके सगे-सम्बन्धी किस प्रकार ऐश करते हैं, यह स्पष्ट कर दिया गया है। दूसरी ओर मि० खन्ना भी अपनी रङ्गीन इच्छा की पूर्ति के निमित्त किस प्रकार पैसा पानी की भाँति बहाते हैं, इसका दिग्दर्शन भी गोदान में भली भाँति हुआ है। प्रश्न है, क्या आज के जागीरदार और पूंजीपति या रायसाहब और मि० खन्ना को हम सुखी कह सकते हैं—'नहीं'। यदि उनके दिल की बात पूछें तो वे शायद अपने आपको किसानों से भी अधिक दुखी बताएँगे। कुछ अंशों तक यह ठीक भी है। बात यह है कि समाज के वर्तमान ढाँचे में दोनों वर्ग दुखी हैं। मेहनत के पश्चात् पैसा न मिलना और बिना मेहनत के पैसा मिलना, दोनों ही दुःख के कारण हैं। धन का बिल्कुल अभाव उतना ही बुरा है जितना धन का अनावश्यक संचय। क्योंकि धन का अति संचय भी अनेक नई इच्छाओं और नई समस्याओं की उत्पत्ति का कारण बनता है। कहने का तात्पर्य यह है कि गोदान में शोषक और शोषित वर्ग की आन्तरिक दशा का सही चित्रण है।

(२) सामाजिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों की समस्या

जिस प्रकार आर्थिक विषमता के कारण हमारा वर्तमान समाज दुःखी है, उसी प्रकार सामाजिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के कारण भी हमारा जीवन शोक-ग्रस्त होता जा रहा है। गोदान में हम देखते हैं कि गोबर के तथाकथित विवाह पर होरी को दण्ड चुकाना पड़ता है। कदाचित् कहा जाय कि वह विवाह नहीं था, किन्तु विवाह की कोई निश्चित परिभाषा भी नहीं है और फिर सोना और रूपा के विवाह पर सामाजिक रूढ़ियों के कारण ही होरी को अपनी सामर्थ्य से अधिक खर्च करना पड़ा। धार्मिक अन्धविश्वास के कारण होरी को दातादीन को मूल से भी तिगुना ब्याज चुकाना पड़ता है। गोबर के विरोध करने पर वह सोचता है कि कहीं ब्राह्मण के पैसे न चुकाये गये तो उसका सत्यानाश हो जाएगा। धर्म सदाचार की रक्षा और समाज के हित के निमित्त होता है किन्तु भारतीय समाज में कई बार वह दुराचारों का पोषण करता हुआ दिखाई पड़ता है। मातादीन सिलिया का सर्वस्व छीन कर भी धर्मात्मा बना हुआ है। क्यों ? इसलिए कि वह अपना भोजन अलग पकाता है। वह सिलिया की छुई हुई रोटी नहीं खाता। तात्पर्य यह है कि हमारे समाज में धर्म छुआछूत और बाहरी ढोंगों में रह गया है। यदि पैसा हो तो बड़े-से-बड़े पाप का समाधान है, अन्यथा बड़ा-से-बड़ा धर्मात्मा भी वर्तमान समाज में पापी सिद्ध किया जा सकता है। हमारा नैतिक पतन किस सीमा तक पहुँच गया है, इसका स्टप्ट रूप में आभास गोदान में मिलेगा। क्या गाँव और क्या शहर सभी वर्ग के पात्रों में छिपी या प्रकट अनैतिकता सर्वत्र दिखाई देगी। गोदान का एक पात्र भी ऐसा नहीं, जिसके पीछे कलङ्क की कोई-न-कोई कहानी जुड़ी हुई न हो। इस प्रकार प्रेमचन्द जी अपने इस उपन्यास में हमारे वर्तमान समाज के नैतिक पतन का दृश्य प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। हमारा समाज बाहर से ही नहीं, भीतर से भी खोखला और जड हो चुका है। जहाँ हमारा धार्मिक, नैतिक और सामाजिक जीवन अनेक रूढ़ियों से ग्रस्त है, वहाँ पारिवारिक और दाम्पत्य जीवन भी पूरी तरह अस्त-व्यस्त हो चुका है। होरी, हीरा, शोभा तीनों भाई हैं, किन्तु उनमें पारस्परिक सौहार्द का अभाव है। उनका व्यवहार शत्रुओं से भी बढ़ कर

है। फिर होरी और गोबर का सम्बन्ध भी ठीक वैसा ही नहीं है जैसा कि एक पिता और पुत्र का होना चाहिए। जब गोबर कुछ कमाने लायक हो जाता है तो वह अपने घर वालों को आँख दिखा कर पत्नी के साथ शहर चला जाता है। वह वृद्ध पिता की सहायता नहीं करता। तात्पर्य यह है कि हमारा पारिवारिक जीवन बालू की नींव पर खड़ा है। इसी प्रकार दाम्पत्य जीवन भी दुःखपूर्ण है। चाहे गाँव के किसानों को लें या शहर के मिल मालिक खन्ना को। कहीं भी हमें दाम्पत्य जीवन की हरी-भरी वाटिका दृष्टिगोचर नहीं होती। नारी और पुरुष का सम्बन्ध अब न तो हमारी मूल प्रवृत्तियों पर आधारित रहा और न ही वह अब भली भाँति सामाजिक नियमों का निर्वाह कर पाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि हमारे समाज का कोई भी रूप, कोई भी क्षेत्र और कोई भी अंग अपने सुन्दर और स्वस्थ रूप में नहीं है। इससे भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान समाज के ढाँचे में आमूल-चूल परिवर्तन होना चाहिए। वर्तमान ढाँचा अब सर्वथा निरुपयोगी हो गया है। यही दिखाना गोदान के लेखक का लक्ष्य है। यही उपन्यास की सब से बड़ी समस्या है। किन्तु उन्होंने केवल समस्या का चित्रण किया है, उसका समाधान प्रस्तुत नहीं किया। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि वे अभी तक इस बात का निर्णय नहीं कर पाये थे कि सामाजिक क्रान्ति के लिए किस साधन को अपनाया जाये। दूसरा यह कि अब वे आदर्शवादी से यथार्थवादी हो गये थे। यथार्थवादी लेखक केवल समस्या का चित्रण करना ही अपना लक्ष्य समझता है। उसका समाधान भी प्रस्तुत करे यह उसके लिए आवश्यक नहीं है। वस्तुतः गोदान पर ये दोनों ही कारण लागू होते हैं। अन्त में हम कह सकते हैं कि गोदान में आधुनिक भारतीय समाज का पूरा चित्र प्रस्तुत कर दिया है। अतः उसमें उन सभी समस्याओं की झलक मिलती है जो कि हमारे समाज में विद्यमान हैं।

134/26

३३. 'गोदान' में राष्ट्र-प्रतिनिधित्व की क्षमता

गोदान के विभिन्न पक्षों पर विचार करते हुए आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया है। जहाँ उनके द्वारा गोदान की अनेक विशेषताओं का उद्घाटन हुआ है, वहां उन्होंने उसकी अनेक न्यूनताओं की ओर भी संकेत किया है। उनके द्वारा उल्लिखित न्यूनताओं में से एक महत्वपूर्ण न्यूनता यह है कि गोदान में राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व नहीं मिलता। वाजपेयी जी की दृष्टि में गोदान का क्षेत्र बहुत सीमित है। उसकी सारी कहानी उत्तर प्रदेश के एक छोटे से भूभाग से ही सम्बन्धित है। उसमें भारत के एक ही प्रदेश की जनता का प्रतिनिधित्व मिलता है। दक्षिणी या पूर्वी भारत का कोई भी चिह्न उसमें दृष्टिगोचर नहीं होता। उनके विचारानुसार इसमें तत्कालीन समाज की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब भी लक्षित नहीं होता। और तो और तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलनों की झलक भी गोदान में नहीं है। फिर गोदान में मुख्यतः करुण रस की ही व्यंजना हुई है। कहने का तात्पर्य यह है कि वाजपेयी जी की दृष्टि में गोदान अत्यन्त सङ्कीर्ण रचना है।

सबसे पूर्व हम वाजपेयी जी के ही दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भौगोलिक आधार पर ही गोदान के क्षेत्र की नाप जोख की जावे तो वह बहुत व्यापक सिद्ध नहीं होगा। गोदान का सारा कथानक उत्तर प्रदेश तक ही सीमित रहता है। यदि प्रेमचन्द जी चाहते तो इस कथानक को एक ऐसा रूप दे सकते थे जिससे उसकी परिधि में भारत के अन्य प्रान्तों का भी समावेश हो जाता। उदाहरण के लिए गोबर की नौकरी लखनऊ के स्थान पर कलकत्ते में लगा दी जाती या राय साहब को गर्मियों में काश्मीर भेज देते या मिस मालती की ड्यूटी मद्रास में लगा दी जाती अथवा मेहता को किसी बहाने बम्बई भेज दिया जाता तो गोदान में भारत के

सभी भागों का चित्रण सम्भव हो जाता। किन्तु प्रेमचन्द ने ऐसा नहीं किया। क्यों ? इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि प्रेमचन्द जी को उत्तर प्रदेश का ही अनुभव प्राप्त था। इस लिये वे अपने उपन्यास में उसी का चित्रण अधिक सफलता से कर सकते थे। दूसरा, यह कि इससे कथानक में विशृङ्खलता आ जाती। स्वयं वाजपेयी जी स्वीकार करते हैं कि गोदान में ग्रामीण कथा के साथ शहरी कथानक का जोड़ना ठीक नहीं रहा। इससे उसमें शिथिलता आ गई है। भला, ऐसी स्थिति में यदि गोदान के कथानक को और अधिक इधर-उधर फैला दिया जाता तो उसमें और अधिक शिथिलता आ जाती। अतः कला की दृष्टि से इस उपन्यास को उत्तर प्रदेश तक ही सीमित रखना अधिक ठीक था।

अब लीजिये विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधित्व को। यहाँ भी यदि भारत की जनता का वर्गीकरण प्रान्तीय आधार पर किया जाय तो गोदान का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित दिखाई पड़ेगा क्योंकि उसमें न कोई पंजाबी है न कोई बंगाली और न ही मद्रासी। उसका चित्र यू० पी० वालों का ही दृष्टिगोचर होता है। पर हम पूछते हैं कि ऐसे संकुचित दृष्टिकोण को अपनाना लेखकों और आलोचकों के लिये कहाँ तक उचित है ? यदि प्रेमचन्द का ऐसा संकुचित दृष्टिकोण होता तो वे शायद दो चार धोबियों और नाइयों को भी इस उपन्यास में स्थान देते। क्योंकि जाति भेद को मानने वाले की दृष्टि में इस में कई जातियों का प्रतिनिधित्व नहीं हुआ। हाँ, यदि व्यापक दृष्टि से इस पर विचार करें तो हम कह सकते हैं कि गोदान में भारत की ९९ प्रतिशत जनता का प्रतिनिधित्व विद्यमान है। भारत में किसानों और मजदूरों की संख्या ८० प्रतिशत से अधिक है और उनका पूरा प्रतिनिधित्व गोदान में है। जागीरदारों, मिल मालिकों, पत्र-सम्पादकों, प्रोफैसरों, डाक्टरों, बीमा एजेंटों व धारा सभा के सदस्यों का भी प्रतिनिधित्व इसमें मिलता है। इनके अतिरिक्त जंगल में रहने वाले असभ्यों और शहर के कोने में रहने वाले इक्के, तांगे वाले आदि निम्नवर्ग के लोगों का भी उल्लेख इसमें हुआ है। यदि इस हिसाब से देखा जाय तो हमारे विचार में भारत के प्रायः सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व इसमें हो जाता है। केवल एक वर्ग ऐसा है जिसका

प्रतिनिधित्व गोदान में नहीं हुआ। वह वर्ग है स्वराज्य आन्दोलन में भाग लेने वाले नेताओं और क्रान्तिकारियों का। यद्यपि इस वर्ग की संख्या सारे भारत में एक प्रतिशत तो क्या .१ प्रतिशत भी नहीं, फिर भी यह सोचने की बात है कि प्रेमचन्द जी गोदान लिखते समय इस वर्ग को कैसे भूले। यह भी आश्चर्य की बात है कि गान्धी, सुभाष, और पं० जवाहरलाल जैसे नेताओं तथा भक्तसिंह और आज़ाद जैसे क्रान्तिकारियों के युग में जन्म लेकर भी वे उन्हें भूल गये। इस पर हम आगे विचार करेंगे।

उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में अनेक तथ्य प्रस्तुत किए जा सकते हैं। सब से पहली बात तो यह है कि अपने पूर्ववर्ती उपन्यास में प्रेमचन्द जी ने नेता-गिरी का चित्रण इतना अधिक किया है कि कदाचित् वे अब उससे ऊब गए थे। उनके प्रेमाश्रम का प्रेमशंकर, रंगभूमि का सूरदास, कर्मभूमि का अमर कान्त, सेवासदन का गजाधर स्वामी आदि नेता वर्ग के ही प्रतिनिधि हैं जो कि उपन्यास के अन्य सभी पात्रों पर छाये रहते हैं। दूसरे, हमें यह भी याद रखना चाहिये कि गोदान के रचना काल के समय विभिन्न प्रान्तों में काँग्रेस के लोकप्रिय मन्त्रिमंडल बन चुके थे। अतः स्वराज्य की समस्या बहुत कुछ हल हो चुकी थी। तीसरा कारण यह हो सकता है कि अब प्रेमचन्द जी का तत्कालीन आन्दोलनों में विश्वास नहीं रहा। चौथे, गोदान के लेखक का उद्देश्य भारत को केवल राजनीति की स्वतन्त्रता दिलाना ही नहीं अपितु शोषित वर्ग को शोषक वर्ग की आर्थिक गुलामी से मुक्त करवाना है। प्रेमचन्द एक भविष्य-द्रष्टा लेखक थे। सम्भवतः उन्होंने यह भांप लिया था कि भारत की जनता केवल स्वराज्य से ही सुखी नहीं हो सकती। जब तक हमारे भारत के वर्तमान समाज के ढाँचे को बदल कर शोषक वर्ग का उन्मूलन न कर दिया जावे तब तक भारत की चिर शोषित जनता सुख वैभव और समृद्धि प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकती। अस्तु, इसमें कोई भी कारण प्रमुख रहा हो किन्तु इससे गोदान की व्यापकता को बहुत अधिक ठेस नहीं लगती। वैसे तो स्वयं वाजपेयी जी यह स्वीकार करते हैं कि भारत में इतनी अधिक संस्कृतियों का सम्मिलन है कि किसी एक उपन्यास में उन सबका चित्रण नहीं किया जा सकता। फिर भी गोदान के लेखक की यह महानता

है कि उसने अपने इस एक ग्रंथ में ही भारत की शत प्रतिशत नहीं तो ९९ प्रतिशत जनता का प्रतिनिधित्व प्रस्तुत कर दिया। यदि गोदान के क्षेत्र की व्यापकता देखनी हो तो उसे रवीन्द्र और शरत् के उपन्यासों की तुलना में रखा जा सकता है। जहाँ शरत् जैसे कलाकार, बंगाली को देशी और गैर बंगाली को 'हिन्दुस्तानी' लिखते हैं वहां प्रेमचन्द में प्रान्तीयता के स्थान पर सर्वत्र व्यापक राष्ट्रीयता का भाव दृष्टिगोचर होगा। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण इतना व्यापक है कि राष्ट्र के विभिन्न प्रान्तों की संकीर्ण सीमाएँ एवं स्थूल विभिन्नताएँ उनके लिए महत्त्वहीन थीं। उन्होंने इस विभिन्नता में से ही एकता का आधार ढूँढ कर, गोदान के पात्रों को इस रूप में प्रस्तुत किया कि जिससे वे समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधित्व कर सकें। गोदान का पाठक यह अनुभव ही नहीं करता कि वह किसी एक प्रान्त की कथा पढ़ रहा है अपितु उसे उसमें समस्त राष्ट्र की अनुभूति का समन्वित रूप उपलब्ध होता है। अतः भले ही राष्ट्र की स्थूल विभिन्नताओं का प्रदर्शन इसमें न हुआ हो, किन्तु भारतीय संस्कृति का एक ऐसा सामान्य रूप इसमें मिलता है, जिसके आधार पर इसे राष्ट्र का प्रतिनिधि उपन्यास कहा जा सकता है।

३४. 'गोदान' में समाजवाद या गांधीवाद ?

स्वर्गीय प्रेमचन्द जी की अन्तिम श्रेष्ठ रचना गोदान के सम्बन्ध में विभिन्न प्रश्नों को लेकर हिन्दी आलोचकों में परस्पर पर्याप्त वाद-विवाद हुआ है। इन प्रश्नों में एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि क्या गोदान समाजवादी रचना है ? जहाँ डा० रामविलास शर्मा इसके पक्ष में उत्तर देते हैं वहाँ श्री नन्ददुलारे वाजपेयी इसका विरोध भी करते हैं। अतः हमें इस प्रश्न पर निष्पक्ष रूप से विचार करना है।

कहा जाता है कि प्रत्येक रचना अपने युग और देश से प्रभावित होती है। यदि इस आधार पर निर्णय करें तो गोदान एक गांधीवादी रचना सिद्ध होगी, क्योंकि तत्कालीन युग में गांधी जी का प्रभाव ही सर्वप्रमुख था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द जी गांधीवाद से बहुत प्रभावित थे जिसका परिणाम उनके अनेक उपन्यासों में देखा जा सकता है। उनकी 'रङ्गभूमि' का सूरदास, उनकी 'कर्मभूमि' का अमरकान्त, 'प्रेमाश्रम' का प्रेमशङ्कर महात्मा गांधी के ही आदर्शों से अनुप्राणित है। यही नहीं, उपन्यासों में गांधी जी की सङ्घर्ष नीति, सत्याग्रह, अहिंसा और प्रेम का चित्रण भी विस्तार से हुआ है। किन्तु यह बात गोदान पर लागू नहीं होती। ऐसा प्रतीत होता है कि गोदान तक आते-आते प्रेमचन्द का विश्वास गांधीवाद से उठ गया था। यही कारण है कि इस उपन्यास के रङ्गमंच पर न तो कोई गांधी जी जैसा नायक ही है और न ही इसमें सत्याग्रह-आन्दोलनों का आयोजन होता है। जहाँ उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों में सुधारवादी पात्रों की भीड़ दिखाई देती है, वहाँ गोदान उनसे शून्य है। वैसे मि० मेहता अवश्य इसमें एक सुधारवादी व्यक्ति कहे जा सकते हैं किन्तु वे सक्रिय राजनीति में भाग नहीं लेते। अस्तु, इस उपन्यास में एक भी गांधीवादी पात्र का न होना यह सिद्ध करता है कि गोदान का लेखक गांधीवाद से दूर हट गया था।

गोदान में मुख्यतः उन्हीं पात्रों को स्थान दिया गया है जो शोषक और शोषित वर्ग का पूर्णतः प्रतिनिधित्व कर सकें। एक ओर जागीरदार रायसाहब, मिल मालिक मिस्टर खन्ना, सूदखोर झिंगुरीशाह, सरकारी कर्मचारी पटेश्वरी आदि हैं जो कि शोषक वर्ग से सम्बन्धित हैं तो दूसरी ओर किसान वर्ग के प्रतिनिधि होरी, हीरा और शोभा हैं। मजदूर वर्ग का प्रतिनिधि गोबर है जो कि शोषित वर्ग से सम्बन्धित है। लेखक ने दोनों वर्गों के पात्रों का चरित्र चित्रण इस ढङ्ग से किया है जिससे हमारे हृदय में समस्त शोषक वर्ग के प्रति घृणा जागृत हो जाती है तथा शोषित वर्ग के प्रति हमारे हृदय में सहानुभूति का उद्रेक होता है। यह तथ्य समाजवादी विचारधारा के अनुकूल है।

गोदान के लेखक ने स्थान-स्थान पर शोषक वर्ग के अत्याचारों का चित्रण विस्तार से किया है। कई स्थानों पर उन्होंने इस बात का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि जागीरदार और मिल मालिक किसान मजदूरों के पसीने की कमाई को खाकर जीवित रहते हैं। जब होरी कहता है कि राय साहब अपने भाग्य के बल परं ऐश करते हैं तो इसका खण्डन करता हुआ गोबर उत्तर देता है, "नहीं किसान मजदूरों के बल पर"। इसी प्रकार मिल मालिक खन्ना के सामने मजदूरों का पक्ष लेते हुए मेहता के मुंह से मजदूरों की दुर्दशा पर प्रकाश डलवाया गया है। वस्तुतः इस उपन्यास में किसान और मजदूरों के हितों का बार-बार समर्थन करना और उन्हें ही इस उपन्यास में नायक का स्थान प्रदान करना स्पष्टतः ही समाजवादी दृष्टिकोण का परिचायक है।

समाजवादी विचारधारा के अनुसार हमारे समाज का वर्तमान ढाँचा धार्मिक नीति, सदाचार आदि सभी दृष्टिकोणों से जर्जर हो गया है। इसी तथ्य की व्यंजना गोदान में हुई है। हमारा धर्म केवल ढोङ्ग में और हमारा सदाचार केवल छुआछूत में शेष रह गया है। इसका चित्रण स्पष्ट रूप से किया गया है। हमारा पारिवारिक जीवन भी किस प्रकार दुराचार से ग्रस्त हो गया है, इसके अनेक प्रमाण गोदान में हैं। हमारे जीवन में कितनी अनैतिकता और अनियमितता आ गई है, इसका प्रत्यक्ष रूप गोदान में दृष्टिगोचर होता है। दातादीन, मातादीन, पटेश्वरी, झिंगुरीशाह और

नोखेराम सभी के चरित्र के पीछे कोई न कोई कलङ्क गाथा जुड़ी हुई है। गोदान को पढ़ कर प्रतीत होता है कि क्या हमारा पारिवारिक जीवन और क्या सामाजिक जीवन, दोनों छिन्न-भिन्न और दूषित हो चुके हैं। क्या प्रेमचन्द जी इस समाज को सुधारने का कोई उपाय बताते हैं ? या गोदान का कोई पात्र उसे सुधारने का कोई प्रयत्न करता है ? इसका उत्तर होगा, 'नहीं'। क्यों नहीं, क्योंकि अब प्रेमचन्द गांधीवादी नहीं रहे। बिगड़े हुए समाज को सुधारना एक गांधीवादी का काम है जब कि एक समाजवादी पुराने मकान की मरम्मत करने के स्थान पर तहस-नहस करके उसके स्थान पर नई इमारत खड़ी करना अधिक उचित समझता है। यही कारण है कि प्रेमचन्द गोदान में हमारी इस समाज की पुरानी इमारत के केवल दोषों को ही दिखा कर रह जाते हैं, जिससे कि हम उसे उखाड़ फेंकने के लिए ही तैयार हो जावें।

समाज की वर्तमान समस्याओं को सुलझाने के लिए सत्याग्रह और हड़तालों का तरीका बताया जाता है, किन्तु गोदान के लेखक ने स्पष्ट रूप से बता दिया है कि यह तरीका लाभदायक नहीं है या सफलता का साधन नहीं है। मि० खन्ना की मिल के मजदूर हड़ताल करते हैं, सत्याग्रह करते हैं और गांधीवादी पद्धति से संघर्ष करते हैं किन्तु इससे क्या उन्हें सफलता प्राप्त हुई ? क्या मजदूरों की दुर्दशा को देख कर पूँजीपतियों का दिल पिघला ? अस्तु, मिल मालिक खन्ना और मजदूरों के संघर्ष की असफलता इस बात का प्रमाण है कि अब प्रेमचन्द जी को गान्धीवादी नीति की सफलता में विश्वास नहीं रहा।

गोदान का अन्त भी समाजवाद के अनुकूल है। जहां गांधीवादी ईश्वर के न्याय में विश्वास रखता है और अन्त में सत्य की विजय की आशा रखता है वहां समाजवादी विरोधी बात कहता है। होरी जीवन भर परिश्रम करता रहा, किन्तु ईश्वर ने उसकी एक दिन भी सहायता न की। वह गरीबी में ही जन्मा, गरीबी में पला, गरीबी में काम किया और अन्त में गरीबी में ही मर गया। क्यों नहीं प्रेमाश्रम के किसान की भांति होरी के जीवन में ही सुनहले दिनों और चांदनी रातों का प्रवेश होता ? वस्तुतः वह एक गान्धीवादी स्वप्न

था जो वास्तविकता की चट्टान से टकरा कर क्षत-विक्षत हो गया। होरी के जीवन की यह दुखद परिशांति इसी बात की सूचक है कि अब समाज में क्रान्ति आवश्यक है। ईश्वर, भाग्य, पाप, पुण्य, न्याय और अन्याय यह सब कुछ शोषक वर्ग का एक माया जाल है। जिसमें होरी जैसे भोले किसान फँसे हुए हैं। अतः यह संदेह रहित है कि गोदान आदि से अन्त तक समाजवादी दृष्टिकोण का समाधान करता है, किन्तु फिर भी इसमें कुछ बातें ऐसी भी मिलती हैं जो समाजवाद के प्रतिकूल हैं। एक तो समाजवादी उच्च वर्ग के समस्त लोगों से घृणा करता है, जब कि गोदान के लेखक की सहानुभूति मि० मेहता जैसे लोगो के प्रति भी है जो हजार रुपये से अधिक कमाते हैं। यह ठीक है कि मि० मेहता अपनी सारी आय गरीबों की सेवा में लगा देते हैं फिर भी एक पैसे वाले व्यक्ति को इतना उदार दिखा देना समाजवादी दृष्टि के प्रतिकूल है। समाजवादी पाप से नहीं परन्तु पापी से भी घृणा करता है। जबकि गोदान का लेखक पापियों के हृदय में भी पुण्य का अंश ढूँढता है। दूसरे, गोदान में मेहता के प्रभाव से मालती का हृदय परिवर्तन दिखाया गया है जो गांधीवादी विचारधारा के अनुकूल है। तीसरे, मि० मेहता के मुंह से नारी स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त करवाए गये हैं, वे भी समाजवाद के प्रतिकूल हैं। चौथे, इसमें सामाजिक क्रान्ति का उल्लेख भी स्पष्ट रूप से नहीं हुआ। अतः ऐसी स्थिति में हमारे सामने यह समस्या है कि गोदान को समाजवादी रचना मानें या नहीं ?

वस्तुतः गोदान में जो भी तत्त्व समाजवाद के प्रतिकूल आए हैं उनका सम्बन्ध मुख्यतः मि० मेहता से है। सम्भवतः मि० मेहता को गोदान में गांधीवाद का प्रतिनिधित्व करने के लिए ही स्थान दिया गया हो। उनका प्रभाव इतना अधिक नहीं है कि वे समाजवाद की भूमि पर गांधीवाद का रंग चढ़ा सकें। यह ठीक है कि वे अपनी आय से दस बीस गरीबों का हित कर देते हैं, पर इससे सारे समाज की दुर्दशा में कोई बड़ा सुधार नहीं होता। मालती जैसी सुकुमार बालाओं के हृदय को भी वे गहरे सम्पर्क के पश्चात् बदलने में सफल हो जाते हैं किन्तु राय साहब के हृदय की कठोरता और मिल मालिक खन्ना की कुटिलता पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे अपनी एड़ी से

चोटी तक का जोर लगा कर किसानों के लगान की माफी या मजदूरों की वेतन वृद्धि नहीं करवा पाते। अतः यह सिद्ध होता है कि पूँजीपतियों और जागीरदारों का हृदय परिवर्तन सम्भव नहीं। कदाचित् यही दिखाने के लिए प्रेमचन्द जी ने इस सुधारवादी पात्र की रचना की हो। वस्तुतः सामाजिक विषमता के इस खारे महासागर में इस सुधारवादी पात्र के क्रिया-कलापों का प्रभाव खांड की एक बोरी से अधिक नहीं पड़ता। अतः कहना चाहिए कि गोदान में सुधारवाद की सफलता की अपेक्षा असफलता ही अधिक दिखाई गई है।

अन्त में सभी पक्षों पर विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गोदान में सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण सर्वथा समाजवाद के अनुकूल हुआ है। हां, इतना अवश्य है कि भविष्य के लिए किसी प्रकार की कोई योजना इसमें वे नहीं दे सके। समाज की क्रान्ति के लिए कौन सा मार्ग अपनाया जावे, इस सम्बन्ध में लेखक मौन है। कहना चाहिए कि गोदान के लेखक ने समाज के रोग का ही निदान किया है जो कि समाजवाद के अनुकूल है किन्तु उसके लिए कौन सी औषधि का प्रयोग किया जाये, इसका निश्चय वे नहीं कर पाये।

---

३६. 'गोदान' में नारी सम्बन्धी विचार

प्रेमचन्द जी अपने युग के बहुत बड़े समाज सुधारक लेखक थे। उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुधारवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया। तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियाँ भी सुधारवाद से अनुप्राणित थीं। राजनीति में गांधी जी का सुधारवाद छाया हुआ था तो समाज और धर्म के क्षेत्र में ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज के सुधारवादी आन्दोलन चल रहे थे। साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदी जी का सुधारवादी दृष्टिकोण पनप रहा था। ऐसी स्थिति में प्रेमचन्द का भी सुधारवादी दृष्टिकोण अपनाना स्वाभाविक था। नारी के प्रति भी प्रेमचन्द जी ने सुधारवादी आदर्श को ही अपनाया।

यद्यपि प्रेमचन्द जी की अन्य रचनाओं से गोदान की विचारधारा में पर्याप्त अन्तर मिलता है किन्तु जहाँ तक नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण का प्रश्न है गोदान में विशेष अन्तर नहीं मिलता। वैसे गोदान में आकर प्रेमचन्द जी आदर्शवादी से यथार्थवादी और गांधीवादी से समाजवादी बन गये किन्तु जहाँ तक नारी सम्बन्धी विचारों का सम्बन्ध है, गोदान का लेखक भी आदर्शवादी है। उन्होंने गोदान के कई पात्रों के मुख से अपने नारी सम्बन्धी विचार व्यक्त किये हैं। इन पात्रों में मि० मेहता और गोबिन्दी उल्लेखनीय हैं।

प्रेमचन्द जी नारी को आदर्शवादी दृष्टिकोण से देखते हैं। वे उसे प्यार और बलिदान की मूर्ति समझते हैं। इतना ही नहीं, वे नारी को पुरुष से भी ऊँचा स्थान देने के लिए तैयार हैं। मि० मेहता अपनी नारी सम्बन्धी व्याख्या में कहते हैं, "स्त्री पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है, जितना प्रकाश अन्धेरे से। मनुष्य के लिए क्षमा, दया, प्यार, अहिंसा, जीव के उच्चतम आदर्श हैं। नारी इस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है। पुरुष उस लक्ष्य पर पहुँचने के लिए सदियों से जोर मार रहा है। परन्तु सफलता नहीं पा सका।" इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर मेहता के मुख से कहलवाया गया है, "मैं आपसे किन शब्दों में कहूँ कि स्त्री मेरी नजरों में क्या है। संसार में जो [illegible]

की प्रतिमा को मैं स्त्री कहता हूँ।" इस प्रकार प्रेमचन्द नारी के सद्गुण की व्याख्या बारम्बार करते हैं, उसकी प्रशंसा के पुल बाँधते हैं। किसलिए ? इस लिए कि पुरुष का अत्याचार और भी अधिक सहन कर सके। पुरुष तो बेचारा अभी असभ्य है। इसलिए यदि वह हिंसा और अत्याचार करता है तो उसका दोष ही क्या ? नारी इतनी सभ्य हो गई है कि वह प्यार, दया, क्षमा सब कुछ कर सकती है। तो इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से प्रेमचन्द पुरुषों के ही अत्याचार का समर्थन करते प्रतीत होते हैं। समर्थन न भी करें तो कम से कम वे पुरुष को निरपराधी अवश्य घोषित कर देते हैं। नारी ने त्याग करना सीख लिया है, पुरुष ने त्याग अभी सीखा नहीं। अतः यदि पुरुष त्याग नहीं कर पाता तो उस बेचारे का क्या दोष ! प्रेमचन्द जी की यह भावना एक अन्य स्थान पर स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाती है। नारी से उन्हें कितनी बड़ी-बड़ी आशाएं थीं, इसका एक उदाहरण देखिये, "मैं उससे यह आशा रखता हूँ कि मैं उसे मार भी डालूँ तो प्रतिहिंसा का भाव उसमें न आये। अगर मैं आँखों के सामने किसी स्त्री को प्यार करूँ तो भी उसकी ईर्ष्या न जागे। ऐसी नारी को पाकर मैं उसके चरणों पर गिर पड़ूँगा और उस पर अपने को अर्पण कर दूँगा।" हमारे विचार से ऐसी आशा किसी हाड़-मांस की नारी से पूरी होनी असम्भव है। हां, यदि कोई लकड़ी या पत्थर की मूर्ति हो तो दूसरी बात है। यदि सौभाग्य से कोई ऐसी नारी मिल भी गई तो उसे पुरुष से क्या मिलेगा ? मार डालने के पश्चात् उसके चरणों में गिर पड़ने की कृपा पुरुष करता है। शायद यह बहुत बड़ी बात है। किन्तु उस नारी की मृत लाश को अपने पति के समर्पण से भी क्या सुख मिल सकता है !

पत्नी कैसी होनी चाहिए ? इसका उत्तर प्रेमचन्द के साहित्य में यह मिलेगा, "मैं ऐसी बीवी नहीं चाहता जिससे मैं आइन्स्टीन के सिद्धांतों पर बहस कर सकूं। या जो मेरी रचनाओं के प्रूफ देखा करे। मैं ऐसी पत्नी चाहता हूँ जो मेरे जीवन को पवित्र और उज्ज्वल बना दे। अपने प्रेम और प्यार से।" कहने का तात्पर्य यह है कि उनकी दृष्टि में नारी पढ़ी लिखी

पड़ता। वे तो केवल उससे प्रेम और त्याग चाहते हैं। प्रश्न यह है कि प्रेमचन्द जी इस त्याग और प्रेम के लिये इतने चिंतित क्यों हैं ? जब पुरुष प्रेम करेगा तो नारी का प्रेम करना भी स्वाभाविक है। और भला कौन-सी ऐसी नारी होगी जो पुरुष के त्याग का बदला त्याग से न चुकायेगी। फिर भी प्रेम और त्याग की इतनी चिन्ता क्यों ? असली बात यह है कि प्रेम और त्याग के बदले प्रेम और त्याग मिल जाता है किन्तु प्रेमचन्द जी यह चाहते हैं कि पुरुष चाहे प्रेम और त्याग करे या न करे, नारी अवश्य करे। क्यों ? इस का उत्तर पीछे दिया जा चुका है। नारी ने त्याग करना सीख लिया है। पुरुष ने अभी सीखा नहीं।

आधुनिक सुशिक्षित नारी को प्रेमचन्द जी अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। वे उसकी बाहरी चमक-दमक को देखकर ही उसके प्रति शंका करने लगते हैं। उसके फैशन के प्रति उनकी घृणा है। मिस मालती के सम्बन्ध में वे अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं, "आप नवयुग की साक्षात् प्रतिमा हैं। गात कोमल, चपलता कूट-कूट कर भरी हुई, झिझक या संकोच का नाम नहीं, बला की हाजिर-जवाब, पुरुष मनोविज्ञान की अच्छी जानकार, आमोद प्रमोद को जीवन का तत्त्व समझने वाली, लुभाने और रिझाने की कला में निपुण। जहाँ आत्मा का स्थान है वहाँ हाव भाव हैं।" यह है प्रेमचन्द जी की धारणा पढ़ी लिखी स्त्रियों के सम्बन्ध में। इसमें कोई संदेह नहीं कि स्त्रियों का फैशन परस्त होना बुरा है किन्तु किसी के फैशन कर लेने पर ही उसे बुरा समझ लेना और भी बुरा है। फैशन का मतलब है, शृङ्गार या सजावट करना। राम के युग से लेकर २०वीं शताब्दी तक भारत की नारी बराबर शृङ्गार करती रही है। युग के अनुसार शृङ्गार के साधन बदलते रहे हैं। किन्तु शृङ्गार करना किसी भी युग में बंद नहीं हुआ। और तो और बाल्मीकि ने तो अपनी रामायण में अयोध्या नगरी का वर्णन करते हुए वहां के पुरुषों के भी शृङ्गार का वर्णन किया है। जैसे वे सब पुरुष सोने के कंगन पहनते हैं, सोने के ही कुंडल पहनते हैं आदि-आदि। भगवान राम ने भी उस वक्त के रिवाज के अनुसार सोने के कंगन और कुंडल पहने होंगे। तो, क्या हम इसी लिये राम को बुरा समझ लें ? फैशन शब्द का अर्थ है

चलन। जैसा युग में चलन होता है वैसा शृङ्गार किया जाता है। हमारे यहां नारी के लिये बत्तीस प्रकार के शृङ्गार आवश्यक माने गए हैं। अतः यदि आज की नारी भी शृङ्गार करती है तो उसको इसलिये अपराधिनी घोषित कर देना कहां तक उचित है ? हमें आधुनिक नारी को भी केवल बाहर से नहीं, उसकी अन्तरात्मा को देखना चाहिए। फिर न तो सभी अनपढ़ स्त्रियाँ एक जैसी होती हैं और न सभी पढ़ी लिखी। अस्तु, कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेमचन्द जी नारी को प्यार और त्याग का ही पाठ पढ़ाते हैं। स्वयं नारी के सुख-दुख और उसके उत्थान-पतन की चिंता उन्होंने नहीं की। परतन्त्रता की बेड़ी से निकलने के लिये नारी ने जब आन्दोलन किया तो उसको प्रेमचन्द जी ने सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देखा। उनकी दृष्टि में नारी का एक ही काम है। वह माता के रूप में बच्चों का उत्पादन करती रहे। इसीलिये वह केवल नारी को माता बनने में सारा संतोष और सुख प्राप्त कर लेने का मन्त्र देते हुए कहते हैं, "मैं समझता हूँ कि नारी केवल माता है और उसके उपरान्त वह जो कुछ है वह सब मातृत्व का उपक्रम मात्र है।"

इस प्रकार गोदान में नारी के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किए गए हैं वे प्रतिक्रियावादी अधिक हैं और प्रगतिशील कम। ये सारे विचार मि० मेहता के मुख से व्यक्त करवाए गए हैं। इसलिये हो सकता है कि ये विचार प्रेमचन्द जी के अपने न होकर मि० मेहता के व्यक्तित्व से ही सम्बन्धित हों। मि० मेहता जैसे अधिक पढ़े लिखे लोगों के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए शायद प्रेमचन्द ने ऐसे विचार व्यक्त किए हों। अतः हम अधिक से अधिक इन विचारों को गोदान में व्यक्त नारी सम्बन्धी विचार ही कह सकते हैं। प्रेमचन्द के अपने विचार कहने का दावा नहीं कर सकते। प्रेमचन्द जी अपने जीवन में बहुत प्रगतिशील रहे हैं। उन्होंने एक विधवा को अपनी जीवन-संगिनी बना कर अपनी प्रगतिशीलता का भी प्रमाण दिया था। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त प्रतिक्रियावादी विचारों को प्रेमचन्द के अपने विचार मानना न्याय-संगत नहीं होगा। इसके अतिरिक्त उनके अन्य उपन्यासों और कहानियों में भी प्रेमचन्द की नारी के प्रति पूरी सहानुभूति मिलती है। अतः गोदान के सभी विचार उनके अपने नहीं हो सकते।

३७. प्रेमचन्द जी की भाषा शैली

प्रेमचन्द जी का हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में आगमन उस समय हुआ जब कि हिन्दी गद्य अपने विकास की अनेक मंजिलें पार कर चुका था। इंशाअल्ला खाँ, सदासुखलाल, लल्लूलाल और सदल मिश्र ने खड़ी बोली में जिस गद्य की प्रतिष्ठा की वह भारतेन्दु युग के लेखकों के द्वारा सुस्थिर होकर द्विवेदी युगीन लेखकों के द्वारा पर्याप्त विकसित और परिष्कृत हो चुका था। महावीरप्रसाद ने एक ओर जहाँ व्याकरण की त्रुटियों का निराकरण करके हिन्दी गद्य को स्वच्छ और शुद्ध बनाया वहाँ उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का मिश्रण करके उसकी व्यंजना-शक्ति में भी अभिवृद्धि की। आगे चलकर प्रसाद जैसे साहित्यकारों ने संस्कृत की शब्दावली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग करके हिन्दी गद्य को एक अत्यन्त प्रौढ और गम्भीर रूप प्रदान किया। प्रेमचन्द जी का आगमन हिन्दी-साहित्य में प्रसाद के साथ-ही-साथ हुआ। दोनों को हिन्दी का विकसित रूप प्राप्त हुआ। किन्तु उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण से हिन्दी गद्य का विकास किया। प्रसाद ने गद्य को प्रौढता और गम्भीरता तो प्रदान की परन्तु इससे वह कृत्रिम भी बन गया। प्रसाद का गद्य केवल विद्वानों के ही पठन और पाठन के अधिक उपयुक्त है। उसमें ऐसी सरलता और स्वाभाविकता नहीं मिलती जिससे साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी उसका आनन्द ले सके। दूसरी ओर प्रेमचन्द जी ने अपने साहित्य में अत्यन्त सरल और स्वाभाविक गद्य-शैली का प्रयोग किया, जिससे उनका साहित्य जनता के हृदय की वस्तु बन गया। प्रेमचन्द जी उर्दू से हिन्दी में आये थे, इसलिए उनकी शैली पर उर्दू का प्रभाव था। यही कारण है कि प्रेमचन्द जी के उपन्यासों में भाषा का अत्यन्त ही सरल और स्वाभाविक रूप उपलब्ध होता है।

अँग्रेजी में एक कहावत है कि "Style is the man himself" अर्थात् शैली ही व्यक्तित्व है। व्यक्ति का व्यक्तित्व, उसकी विचारधारा और उसका स्वभाव उसके दृष्टिकोण से निर्मित होता है। इसीलिए प्रेमचन्द

की गद्य-शैली को समझने के लिए उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं को और उनकी विचारधारा को भी समझ लेना आवश्यक है। प्रेमचन्द जी स्वभाव से अत्यन्त सरल और उदार थे। उन्होंने कभी भी अपने आपको जनता से छिपा कर नहीं रखा। जहाँ प्रसाद ने बड़े-बड़े पत्रकारों को भी अपनी रहस्य-गाथा बताना अस्वीकर किया था वहाँ प्रेमचन्द ने किसी भी पत्र-लेखक को निराश नहीं किया। दूसरे प्रेमचन्द की विचारधारा सुधारवादी थी। उन्होंने अपने साहित्य की रचना केवल विद्वानों के चिन्तन और मनन के लिए ही नहीं की, अपितु वह उसके द्वारा जनता के हृदय में क्रान्ति का बीज बोना चाहते थे। ऐसी स्थिति में उनके साहित्य में सरल शैली का प्रयोग होना स्वाभाविक था और उनके व्यक्तित्व की सरलता ने उनकी शैली की सरलता को और भी अधिक सरल बना दिया।

प्रेमचन्द जी की गद्य-शैली का दूसरा प्रमुख गुण स्वाभाविकता है। किसी भी उपन्यास या नाटक में लेखक को अपनी योग्यता के अनुकूल भाषा-शैली का प्रयोग करना चाहिए या उस रचना के पात्रों के अनुकूल, इस सम्बन्ध में लेखकों में मतभेद है। कुछ लेखक सर्वत्र एक जैसी ही शैली का प्रयोग करना उचित समझते हैं; जैसे प्रसाद। जब कि कुछ अन्य लेखक पात्रों के अनुकूल भाषा का प्रयोग करते हैं; जैसे प्रेमचन्द। प्रसाद जी की मान्यता थी कि एक ही नाटक या उपन्यास में कई जातियों और कई देशों के लोग आ सकते हैं। अतः यदि उनकी भाषा अलग-अलग रखी गई तो उससे उस रचना में अनेक भाषाओं की खिचड़ी बन जायेगी जो उचित नहीं। परन्तु प्रेमचन्द जी ऐसा नहीं मानते। वे मुसलमान पात्रों के मुंह से उर्दूनुमा हिन्दी का प्रयोग करवाते हैं जबकि हिन्दू पात्रों के मुंह से उनकी योग्यतानुसार शुद्ध हिन्दी का। प्रेमचन्द का किसान जिस भाषा में बोलता है वह देहाती शब्दों से मिश्रित होती है जब कि किसी ब्राह्मण या पण्डित के मुंह से संस्कृत मिश्रित का प्रयोग कराते हैं। इससे उनकी शैली में स्वाभाविकता आ गई है। दूसरे उनका शब्दकोष भी व्यापक हो गया है।

उनके उपन्यासों में अनेक उर्दू, फारसी और अँग्रेजी के शब्द आ गये हैं जो कि पाठकों की समझ में सरलता पूर्वक आ सकते हैं। इसके अतिरिक्त

देहाती शब्दों के प्रयोग के कारण उनके द्वारा चित्रित ग्रामीण वातावरण में सजीवता आ गई है। जिस प्रकार प्रेमचन्द जी पात्रों के अनुसार भाषा में परिवर्तन करते हैं वैसे ही वे प्रसङ्ग के अनुकूल भी भाषा को बदल देते हैं। जब प्रकृति के सहज स्वाभाविक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति करना उनका लक्ष्य होता है तो उनकी भाषा में सहज ही काव्य का सा सौन्दर्य प्रस्फुटित हो उठता है। निराशा की घड़ियों में उनके वाक्य स्वत: ही शिथिल और छोटे हो जाते हैं। प्राय: प्रेम प्रसङ्गों के वर्णन में उन्होंने भावुकतापूर्ण शैली का प्रयोग किया है किन्तु नेताओं के व्याख्यानों में उनकी शैली तार्किकता से युक्त हो जाती है। जब साधारण बातचीत चल रही होती है तो उनकी वाक्य योजना संक्षिप्त होती है जब कि वाद-विवाद के प्रसङ्गों में वे लम्बे-लम्बे वाक्यों का प्रयोग करते हैं।

तात्पर्य यह है कि प्रेमचन्द जी को भाषा की कुछ ऐसी परख थी कि वह उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों को और उसकी सभी चेष्टाओं को भली प्रकार जानते थे। यही उनके उपन्यास-साहित्य के कला-पक्ष का सब से अधिक प्रभावशाली आधार है। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में लोक प्रचलित मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है। उनसे भी उनकी शैली की स्वाभाविकता में अभिवृद्धि हुई है। कहीं-कहीं चुटीले व्यङ्गों के कारण ही शैली का आकर्षण बढ़ गया है।

अत: प्रेमचन्द के साहित्य का विचार-पक्ष और भाव-पक्ष तो प्रौढ है ही, उनका शैली-पक्ष भी उतना ही सशक्त है। कुछ लेखकों के पास विचार होते हैं, भाव होते हैं, किन्तु उनके पास शैली का अभाव होता है। कुछ लेखक ऐसे हैं जिनके पास शैली का चमत्कार होता है फिर भी वे भाव और विचार की दृष्टि से दरिद्र होते हैं। कुछ विरले ही साहित्यकार ऐसे होते हैं जिनके पास भाव, विचार और शैली तीनों होते हैं। हिन्दी का यह सौभाग्य है कि उसे प्रेमचन्द के रूप में एक ऐसा कलाकार प्राप्त हुआ जिसके साहित्य में ये तीनों गुण उपलब्ध होते हैं।

---

३८. संन्यासी का कथानक : एक विश्लेषण

उपन्यास के लिए कथानक का होना अत्यन्त आवश्यक है। किसी भी उपन्यास में अन्य तत्त्वों की थोड़ी-बहुत उपेक्षा की जा सकती है किन्तु कथानक के अभाव में उपन्यास के ढांचे की कल्पना भी नहीं की जा सकती। साहित्य के अन्य किसी अंग में कविता, नाटक, निबन्ध आदि में कथानक की इतनी अपेक्षा नहीं होती जितनी उपन्यास में होती है। अतः यदि कथानक को उपन्यास का प्राण कहें तो अत्युक्ति न होगी। प्राचीन युग में उपन्यास के अन्तर्गत केवल कथानक को ही लिया जाता था। किन्तु आधुनिक युगीन रचनाओं में कथानक के साथ-साथ अन्य तत्त्वों का भी समन्वय किया गया है। परिणाम स्वरूप कथानक की उपेक्षा होने लगी। सामान्यतः उपन्यासों को दो भागों—घटना प्रधान, चरित्र प्रधान—में बांटते हैं। घटना प्रधान उपन्यासों में कथानक को अधिक महत्व प्राप्त होता है जबकि चरित्र प्रधान उपन्यासों में वह गौण हो जाता है। संन्यासी भी एक चरित्र प्रधान उपन्यास है। लेखक का मूल उद्देश्य पात्रों की सूक्ष्म मनोवृत्तियों का विश्लेषण करना रहा है। अतः कथानक के तंतुओं को उसने उसी सीमा तक फैलाया है जहां तक पात्रों को बांध रखने के लिए उसकी आवश्यकता थी। इसके कथानक में दो प्रमुख कहानियों और कुछ गौण कहानियों का समावेश किया गया है। प्रमुख कहानी का सम्बन्ध नन्दकिशोर से है। दो प्रमुख कहानियां, नन्दकिशोर और शांति तथा नन्दकिशोर और जयन्ती से सम्बन्धित हैं। वैसे देखा जावे तो शांति और जयन्ती एक दूसरी से परस्पर विच्छिन्न है। उनमें कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। दोनों पात्र अपनी-अपनी कहानी की प्रमुख नायिकाएँ हैं। एक जब रंगमंच से हटती है तो दूसरी वहाँ अवतरित होती है। कहा जा सकता है कि दो उपन्यासों को मिलाकर एक कर दिया गया है। इन दोनों कहानियों को मिलाने वाला नन्दकिशोर है। यह भी आश्चर्यपूर्ण है कि दोनों कहानियों का

आरम्भ, विकास और अन्त एक जैसा है। शान्ति और नन्दकिशोर के सुखपूर्ण जीवन के लिए बलदेव का आना अनिष्टकारी सिद्ध हुआ तो नन्दकिशोर और जयंती के जीवन में कैलाश का टपकना दुर्भाग्य सा सिद्ध हुआ। दोनों कहानियों में नंदकिशोर का संदेह विनाशकारी सिद्ध होता है। शांति यदि नंदकिशोर के मार्ग से हट कर दूर जाती है तो जयंती उससे भी अधिक दूर जाती है। अतः थोड़े से अन्तर के अतिरिक्त दोनों कहानियां एक दूसरी की आवृत्ति सी ही हैं। क्या लेखक के पास इतनी कल्पना नहीं थी कि दूसरी कहानी को दूसरे ढंग से बनाता ? यह भी आश्चर्य की बात है कि शान्ति को खोकर भी नन्दकिशोर अपने जीवन में कुछ न सीख सका। संदेह की जिस चट्टान से टकरा कर उसके स्वप्नों का सारा संसार छिन्न हो चुका था, उसी का आश्रय वह फिर लेता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस उपन्यास की रचना के समय जोशी जी की कल्पना शक्ति अपने बचपन में ही थी। केवल इन दो कहानियों में ही नहीं, अन्य प्रासंगिक कहानियों में भी एक ही बात को दोहराया गया है। चाहे शान्ति के भाई की प्रेयसी कीर्ति कुमारी हो, चाहे मास्टर की पत्नी, चाहे बलदेव की बहिन हो, चाहे जयन्ती, सब की आत्महत्या दिखाई गई है और वह भी आग में जल कर। ऐसा प्रतीत होता है कि जोशी की कल्पना में आत्महत्या का साधन एक मात्र आग में जलना ही था। एक तो ये आत्महत्याएँ ही चुभती हैं और फिर यदि आत्महत्याएँ ही करवानी थीं तो किसी को मकान की छत पर से गिरा सकते थे, किसी को विष या अफीम की गोलियां खिला सकते थे, किसी को गंगा या यमुना नदी की ठंडी धारा में शरण दे सकते थे। सचमुच घटनाओं की यह पुनरावृत्ति जोशी की कला पर एक कालिमा सी है।

इतना सब कुछ लिखने के बाद भी हम जोशी की एक विशेषता पर अवश्य प्रकाश डालेंगे। जयंती की कहानी में शांति के जीवन की पुनरावृत्ति है किन्तु फिर भी पाठक जयन्ती की कहानी को उतनी ही उत्सुकता से पढ़ता है जितनी उत्सुकता से उसने शान्ति की कहानी को पढ़ा था। क्या कारण है कि पुनरावृत्ति के पश्चात् भी उत्सुकता बनी रहती है। एक ही बात को पुनः प्रस्तुत करते हुए भी जोशी जी उसकी नवीनता को ज्यों का त्यों बनाए रखते

हैं। इसका रहस्य ढूंढना आवश्यक है। यहां उपन्यासकार की कला का जादू निहित है। ध्यान रहे उपन्यास के आरम्भ में हम सर्वप्रथम जयन्ती के ही तडित रूप की ज्योति का साक्षात्कार करते हैं। उसकी एक झलक नन्दकिशोर के हृदय में ही नहीं, पाठक के अन्तर की गहराई तक पहुँच जाती है। किन्तु एकाएक उपन्यासकार उसे रंगमंच से हटा कर उसके स्थान पर शान्ति को प्रस्तुत कर देता है। पाठक शांति से बातचीत करने में इस प्रकार उलझ जाता है कि थोड़ी देर के लिए वह जयन्ती को भूल जाता है। किन्तु जब शांति के अदृश्य हो जाने के अनन्तर एकाएक पुनः जयन्ती पर्दे पर आती है तो लगता है कि केवल नंदकिशोर को ही नहीं पाठक को भी, उसकी खोई वस्तु मिल गई है। पाठक फिर जयन्ती की ओर आकर्षित होता है और उत्सुकता से उसकी गाथा सुनता है। अतः प्रारम्भ में जयन्ती का थोड़ा परिचय देकर शान्ति की कहानी सुनाना, शान्ति के अदृश्य होने पर जयंती का हाजिर करना और जयन्ती की मृत्यु के अनन्तर शांति से साक्षात्कार करवाना, एक ऐसे मनोवैज्ञानिक क्रम से होता है कि पाठक यह अनुभव ही नहीं कर पाता कि वह दो भिन्न कहानियां पढ़ रहा है। यों कहना चाहिए कि जयन्ती और शान्ति में नाम का ही अन्तर है। सौन्दर्य, प्रेम और विरह की अनुभूतियां दोनों के ही सम्पर्क में समान रूप से अनुभूत होती हैं। यह कहना चाहिए कि वे दोनों एक ही नदी की दो धाराएँ हैं जो अलग होते हुए भी अन्त में एक ही सागर में विलीन होकर एकाकार हो जाती हैं।

अब लीजिए इस उपन्यास की अन्य प्रासङ्गिक कहानियों को। इनकी सूची इस प्रकार है—

१. शान्ति के भाई और कीर्तिकुमारी की।
२. नन्दकिशोर की बालसङ्गिनी मनोरमा की।
३. मास्टर की पत्नी की (श्रीमती त्रिपाठी द्वारा सुनाई हुई)।

ये तीनों कहानियाँ मूल कहानियों से किंचित् मात्र सम्बद्ध नहीं हैं। प्रासङ्गिक कहानियाँ प्रायः मूल कथानक की गति को आगे बढ़ाने के लिए आयोजित होती हैं। किन्तु ये कहानियाँ न तो कुल कथानक की गति को ही आगे बढ़ाती हैं और न ही इनके द्वारा दिशा-परिवर्तन होता है। तो फिर इन

का क्या उद्देश्य हो सकता है ? वस्तुतः इनकी आयोजना नायक या नायिका की भाव-दशा को उद्वेलित करने के लिए हुई है। यों कहना चाहिए कि इन घटनाओं का कोई स्थूल प्रभाव तो नहीं होता किन्तु इनके कारण मानसिक प्रतिक्रिया होती है। पर ये सब कहानियां भी क्या हैं ? केवल एक ही बात का वर्णन बार-बार है। सब में वैवाहिक जीवन की असफलता और नारी जीवन की दुःखमय परिणति का ही चित्रण किया गया है। कदाचित् लेखक यह सिद्ध करना चाहता था कि हमारे समाज के समस्त दाम्पत्य जीवन में गहरी विषमता और असङ्गति आ गई है तथा नारी पर ऐसा ही अत्याचार हो रहा है। किन्तु अधिक अच्छा यह होता कि इन छोटी-छोटी बिखरी हुई कहानियों को मूल कथानक से भली भाँति गुम्फित करके प्रस्तुत किया जाता। पर जोशी जी कथानक का ताना-बाना बुनने की कला में अपरिपक्व थे। अतः यह न हो सका।

संन्यासी का कथानक हमारे आधुनिक जीवन से भलो भाँति सम्बन्धित है। उसे सम्यक रूप से समझने के लिए न हमें अतीत काल के इतिहास के खण्डहरों में उतरना पड़ता है और न ही सुदूर भविष्य की कल्पनाओं में उड़ना पड़ता है। उसमें बहुत कुछ वही है जो आज सामने है। अतः उसके साथ विशेषतः उच्च शिक्षित पाठकों का तादात्म्य एकाएक हो जाता है। उसमें जिस मध्य वर्गीय परिवार और उसकी भीतरी अवस्था का जो चित्रण है वह अपने युग के अनुकूल है। यह उल्लेखनीय है कि जिस समय जोशी जी की कलम से संन्यासी की रचना हो रही थी, उसी युग में प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी की रचनाओं में असफल प्रणय की व्यथा का प्रकाशन हो रहा था। समाज की जिन परिस्थितियों ने छायावाद काव्य को प्रभावित किया लगभग उन्हीं परिस्थितियों का साक्षात्कार हमें संन्यासी में होता है। कामायनी के नायक की जो कहानी कविता में है उसी को संन्यासी के लेखक ने गद्य में लिखा है। मनु यदि श्रद्धा और इड़ा से सम्बन्ध स्थापित करने के अनन्तर भी अपनी अहंवादिता को तुष्ट नहीं कर पाता तो उसी प्रकार नन्दकिशोर शान्ति और जयन्ती से प्रेम करके भी असफल ही रहता है। कामायनी और संन्यासी दोनों में ही बाह्य इतिवृत्त और स्थूल घटनाओं की

अपेक्षा मानव मन की सूक्ष्म प्रवृत्तियों के विश्लेषण पर अधिक बल दिया गया है, किन्तु एक का माध्यम कविता होने के कारण उपन्यास की सी स्पष्टवादिता और यथार्थवादिता नहीं आ सकी। किन्तु छायावादी काव्य और संन्यासी दोनों का सन्देश यही है कि आधुनिक भारतीय समाज में विवाह पद्धति के अनेक रूढियों से ग्रस्त हो जाने के कारण हमारे युवक-युवतियों के प्रणय के स्वप्न अपरिपक्व अवस्था में ही छिन्न-भिन्न हो जाते हैं जिनके फलस्वरूप उनके जीवन में उस कुण्ठा का विकास होता है जो उन्हें अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने में अनुपयोगी बनाती है और अन्त में उन्हें संन्यास का आश्रय लेना पड़ता है। इसमें हमारे युग जी अनुभूतियों का मार्मिक रूप में चित्रण होने के कारण वह एकाएक हमारे हृदय को आन्दोलित करने में सफल होता है। इस उपन्यास के आधार पर हमारे समाज की अनेक भीतरी अवस्थाओं का विश्लेषण सफलता पूर्वक किया जा सकता है। जैसे शान्ति और नन्दकिशोर के प्रणय के कारण पर विचार करें। क्या उन दोनों का प्रणय इसलिए असफल रहा कि बलदेव के कारण उनमें भ्रान्ति उत्पन्न हो गई थी ? नहीं, हम यह नहीं मानते। यदि नन्दकिशोर के बड़े भाई दुर्भाग्य से वहाँ न उपस्थित होते तो यह भ्रान्ति आगे या पीछे दूर हो जाती। भ्रान्तियाँ किसके जीवन में नहीं होतीं। पिता और पुत्र, भाई-भाई, पति-पत्नी के मध्य न जाने कितनी बार झगड़े होते हैं किन्तु उनके सम्बन्ध का सूत्र इसी से सदा के लिए छिन्न-भिन्न नहीं हो जाता। यदि नन्दकिशोर और शान्ति के प्रणय सम्बन्ध पर हमारे समाज के संरक्षकों द्वारा विवाह की छाप लग जाती तो उनके स्वप्नों की दुनिया शीघ्र न मिटती। जिन तर्कों के आधार पर नन्दकिशोर के समझदार भाई शान्ति को घर छोड़कर जाने की प्रेरणा देते हैं वे तर्क सार-हीन और निम्न कोटि के हैं। यह तर्क नन्दकिशोर का भाई ही नहीं, आज के प्रत्येक हिन्दू युवक का भाई ऐसी परिस्थिति में प्रस्तुत करता है। वस्तुतः इन तर्कों के खोखलेपन में हिन्दू समाज का खोखलापन है। सम्भवतः लेखक का उद्देश्य भी इसी खोखलेपन की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना था।

संन्यासी की कहानी का विकास प्रायः मनोवैज्ञानिक आधार पर होता

है। फिर भी इसमें ऐसी गुत्थियाँ हैं जिन पर प्रकाश डालना आवश्यक है। नन्दकिशोर का प्रारम्भिक आकर्षण जयन्ती के प्रति था किन्तु कैसे वह एकाएक शान्ति के प्रणय चक्कर में उलझ गया ? दूसरे नन्दकिशोर के साथ उसके दूसरे मित्र भी कमला जी के यहाँ गये थे, किन्तु अकेले नन्दकिशोर के साथ ही ऐसा क्यों हुआ ? यह विचारणीय है। यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ नन्दकिशोर के दूसरे साथी नन्दकिशोर की अपेक्षा अधिक चरित्रहीन और दुष्ट थे। ध्यान रहे, पान वाली घटना के दिन उमापति का ही साहस था कि उसने दो महिलाओं का दूर तक पीछा किया। यह भी उल्लेखनीय है कि कमला और शान्ति के साथ परिचय बढ़ाने में उमापति ही आगे था। किन्तु कितने दुर्भाग्य की बात है कि समाज की दृष्टि के सामने उमापति निष्कलङ्क रहे, जब कि बेचारे नन्दकिशोर को कलङ्कित होना पड़ा। इन तथ्यों पर मनोविश्लेषण के आधार पर प्रकाश डाला जा सकता है। बात यह है कि जहाँ उमापति आदि बहिर्मुखी प्रवृत्ति के थे, वहाँ नन्दकिशोर अन्तर्मुखी स्वभाव का था। जहाँ बहिर्मुखी व्यक्ति अपनी छिछली चेष्टाओं द्वारा अपनी काम-वासना की तृप्ति सहज ही कर लेता है वहाँ अन्तर्मुखी ऐसा नहीं कर पाता। नन्दकिशोर का सारा ध्यान एक ही ओर केन्द्रित रहा। यह सन्देह रहित है कि नन्दकिशोर सच्चरित्र था। और यह सच्चरित्रता ही उसके प्रेम की गम्भीरता का कारण बनी। यदि यहाँ उमापति होता तो वह नन्दकिशोर की भाँति शान्ति के लिए इतना त्याग न करता। जयन्ती के आकर्षण के कारण नन्दकिशोर के मन में किसी नव किशोरी के प्रणय की आकांक्षा उद्दीप्त हो चुकी थी। उसका ध्यान पुस्तकों से हटकर दूसरी दुनिया में पहुँच चुका था। ऐसी मनःस्थिति में उसका शान्ति की ओर झुकना स्वाभाविक था। कदाचित् आगरे में नन्दकिशोर का जयन्ती से साक्षात्कार न हुआ होता तो वह शान्ति की ओर भी आकर्षित न होता। अतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपर्युक्त दोनों गुत्थियाँ स्वाभाविक हैं।

संन्यासी में कुछ घटनाएँ ऐसी भी ढूँढी जा सकती हैं जिनका ठीक प्रकार से समाधान नहीं किया जा सकता। एक तो इलाहाबाद में आने के अनन्तर शान्ति और नन्दकिशोर में जो अन्यमनस्कता का भाव आ जाता है वह

युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता। शृङ्गार-रस के अनुसार उस स्थिति को हम पूर्व राग की दशा कह सकते हैं। इस प्रकार मिलन से पूर्व ही उनकी प्रेम-भावना का मन्द पड़ना कुछ अस्वाभाविक प्रतीत होता है। दूसरे शान्ति के द्वारा नन्दकिशोर की भ्रान्ति को दूर करने के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न न करना भी शान्ति जैसी चतुर और व्यवहार-कुशल युवती के उपयुक्त नहीं था। एक बात आश्चर्य की है कि इलाहाबाद जाने के बाद काफी दिनों तक शान्ति और नन्दकिशोर अपनी आर्थिक दशा की ओर से निश्चिन्त रहते हैं। नन्दकिशोर तो अनुभवहीन कालेजिएट था, किन्तु शान्ति तो इस क्षेत्र में पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर चुकी थी। दोनों ने एक दिन भी साथ बैठ कर अपने भविष्य के सम्बन्ध में नहीं सोचा। कहा जा सकता है कि नन्दकिशोर के पास काफी पैसा था, इसलिए इसका प्रश्न ही नहीं था किन्तु शान्ति को तो इसका पता नहीं था। इस प्रकार दोनों का भविष्य के प्रति उदासीन रहना कुछ अस्वाभाविक-सा है। इसी प्रकार उपन्यास का अन्त भी ठीक प्रकार से नहीं किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने कहानी को अपने हाथ में लेकर बलपूर्वक उसे इस ओर मोड़ा जिस ओर उसका लक्ष्य नहीं था। शान्ति का अन्त में जो संयम और विराग दिखाया गया है वह अस्वाभाविक और अनावश्यक था। वह नन्दकिशोर को सज़ा दे सकती थी, किन्तु उस अबोध किशोर ने उसका क्या बिगाड़ा था? वह अपनी प्रणय-भावना का गला घोंट सकती थी, किन्तु उसका अपने वात्सल्य को भी ठुकरा देना अस्वाभाविक है। यह कहना कि उस बच्चे का प्यार अपनी कृत्रिम मौसी से अधिक हो गया था, केवल एक बहाना मात्र है। कोई माँ अपने अबोध बच्चे को इस प्रकार नहीं ठुकराती। शान्ति इतने कोमल हृदय की नारी थी, जो बलदेव और उसकी बहिन के सामान्य दुःख की कहानी को सुनकर ही अपना सर्वस्व लुटा बैठी थी। प्रतीत होता है कि लेखक ने प्रारम्भ से ही नन्दकिशोर को संन्यासी बनाने की प्रतिज्ञा कर ली थी। अतः जयन्ती और शान्ति का जीवन समाप्त करना आवश्यक था और यही लेखक ने किया। इन कुछ त्रुटियों के बावजूद इस उपन्यास का कथानक सामान्यतः रोचक कहा जा सकता है। वैसे तो इस में कथानक है ही नहीं, क्योंकि सारे उपन्यास में बहुत थोड़ी घटनाएँ आई हैं

किन्तु जितना भी है, उपन्यास के पात्रों को आपस में बाँधे रखने के लिए पर्याप्त है। वास्तव में यह उपन्यास कथा-प्रधान न होकर चरित्र-प्रधान है। अतः जोशी जी की कला कथानक के आयोजन की अपेक्षा पात्रों के मनोविश्लेषण में अधिक प्रकाशित हुई है, फिर भी 'संन्यासी' के कथानक को सन्तोषजनक कहा जा सकता है।

३६. संन्यासी में चरित्र-चित्रण

संन्यासी श्री इलाचन्द्र जोशी का एक श्रेष्ठ उपन्यास है। जोशी जी के उपन्यास प्रायः चरित्र प्रधान होते हैं। चरित्र प्रधान से तात्पर्य यह है कि उनमें घटनाओं के वर्णन की अपेक्षा पात्रों के चरित्र-चित्रण पर अधिक ध्यान दिया जाता है। जहाँ अन्य कोटि के उपन्यास में घटनाओं के प्रभाव से पात्रों के चरित्र का विकास दिखाया जाता है वहाँ जोशी जी के उपन्यासों में चारित्रिक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप घटनाएँ घटित होती हैं। उदाहरण के लिये संन्यासी में एक तो घटनाएँ हैं ही बहुत कम, दूसरे जितनी भी घटनाएँ हैं, वे सब विभिन्न पात्रों के मानसिक क्रिया-कलापों की प्रतिक्रिया स्वरूप घटित होती हैं। नन्दकिशोर यदि आगरे जाकर जयन्ती से प्रभावित न होता और उसके मस्तिष्क में यौन आकर्षण उद्दीप्त न होता तो कदाचित् वह अपने अध्ययन से विमुख न होता। जो पुस्तकें कभी उसके लिये सब से अधिक रोचक थीं वे ही आगरे से लौटने पर नीरस प्रतीत होने लगती हैं। इसी प्रकार शान्ति का नौकरी छोड़कर इलाहाबाद जाना और नन्दकिशोर की शिक्षा का क्रम सदा के लिये भंग हो जाना, उन दोनों के मानसिक जगत की प्रवृत्तियों पर ही अवलम्बित है। फिर शान्ति और नदकिशोर के सम्बंधों का बिगड़ना बाह्य जगत की घटनाओं का कम परिणाम है अपितु इसके मूल में शान्ति की बलदेव के पति सहानुभूति और तज्जन्य नंदकिशोर की ईर्ष्या का ही प्रभाव अधिक दृष्टिगोचर होता है। प्रायः लोग कहते हैं कि मौत बिना बुलाए ही आती है, परन्तु संन्यासी में ऐसा नहीं होता। कीर्ति कुमारी, शान्ति का भाई, मनोरमा, जयन्ती, मास्टर की पत्नी, बलदेव की बहिन और शांति, इन सब की मृत्यु या यों कहिए कि आत्म-हत्या उनकी अपनी ही विचारधारा या उनके अपने अंतर्द्वन्द्व के परिणामस्वरूप होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सारे उपन्यास में घटनाएँ अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखतीं अपितु पात्रों के अतंर्द्वन्द्व के परिणामस्वरूप ही घटनाएँ घटती हैं।

जोशी जी अपने उपन्यासों में बहुत कम पात्रों को स्थान देते हैं, किन्तु जितने पात्रों को वे लेते हैं, उनके व्यक्तित्व और चरित्र का वे पूरा विश्लेषण करते हैं। विशेषतया वे नायक और नायिकाओं के मनोविश्लेषण पर अधिक ध्यान देते हैं। हमारे कुछ विद्वानों ने भ्रान्तिवश यह माना है कि संन्यासी में भी सभी पात्रों का विश्लेषण समान रूप में हुआ है किन्तु हम उनसे सहमत नहीं। यह उपन्यास आत्मकथा के रूप में लिखा गया है। इसके नायक नंदकिशोर की कहानी उसी के मुख से सुनाई गई है। ऐसी स्थिति में नंदकिशोर का अतंर्द्वन्द्व तो भली प्रकार व्यक्त हुआ है किन्तु शेष पात्रों का विश्लेषण आंशिक रूप से ही व्यक्त हो सका है क्योंकि स्वयं लेखक इसमें नंदकिशोर के शब्दों के अतिरिक्त और कुछ बोल कर शेष पात्रों पर प्रकाश नही डाल सकता था। यही कारण है कि हम नंदकिशोर के मानसिक विकास को भली प्रकार समझ पाते हैं और हमारी सहानुभूति भी उसकी ओर हो जाती है किन्तु शेष पात्रों के मन की बात उनके मन में ही छिपी रह जाती है। बलदेव के प्रति नंदकिशोर की ईर्ष्या, शांति के प्रति उसका निष्ठुर व्यवहार, जयन्ती के साथ विवाह के सम्बंध में उसकी आनाकानी और विवाह के अनंतर कैलाश को देखकर उसका जलना, आदि तो हम समझ पाते हैं किन्तु शेष पात्रों की मानसिक गुत्थियों को सुलझाने में हम असफल रहते हैं। उदाहरण के लिये शांति का नंदकिशोर के प्रति दृष्टिकोण। उसके विचार विरोधी होते हुए भी वह क्यों आकर्षित हुई? वह कौन-सी भावना थी जिससे प्रेरित होकर उसने सराय में नन्दकिशोर से विवाह सम्बंधी चर्चा की? क्या कारण था कि वह कम्युनिस्ट विचारों के बलदेव के प्रति एकाएक इतनी सहानुभूतिशील हो उठी? नंदकिशोर के भाई साहब के व्याख्यान की उसके मन पर क्या प्रतिक्रिया हुई? जब वह इलाहाबाद में घर छोड़कर निकली तो उसे कैसी भावनाओं की अनुभूति हुई? नंदकिशोर के दुबारा मिलने पर वह विद्यादेवी और सुभद्रादेवी के माध्यम से क्यों बातें करती रही? स्वयं नंदकिशोर से क्यों बातें नहीं कीं? आदि समस्याओं पर इसमें प्रकाश नहीं डाला गया है। इसी प्रकार जयन्ती की अनुभूतियों का भी सम्यक् विश्लेषण इसमें नहीं हुआ। अतः हम यह कह सकते हैं कि संन्यासी केवल चरित्र प्रधान

उपन्यास ही नहीं, अपितु नायक प्रधान उपन्यास भी है।

प्राय: जोशी जी पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि वे अपने उपन्यास के लिये नायक के रूप में दुर्बल चरित्र वाले पात्र ही चुनते हैं। इस आक्षेप को स्वयं जोशी जी ने स्वीकार किया है। वे अपने प्रसिद्ध उपन्यास "जिप्सी" में एक स्थान पर लिखते हैं कि वीर और सबल व्यक्तित्व वाले नायकों से तो संसार का सारा साहित्य भरा पड़ा है। मेरी विशेषता यह है कि मैं दुर्बल चरित्र के पात्रों को ही अपने उपन्यास का नायक बनाता हूँ। यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि संन्यासी का नायक किस सीमा तक दुर्बल चरित्र का पात्र है। उपन्यास के आरम्भ में हम उसे उसके दूसरे साथी उमापति और विश्वनाथ की अपेक्षा अधिक दृढ़ पाते हैं। कदाचित् हमारी इस मान्यता के विरोध में कहा जाय कि जयन्ती से इन तीनों व्यक्तियों का साक्षात्कार होता है किन्तु आकर्षित केवल नन्दकिशोर ही होता है, अत: यह उसकी दुर्बलता है। हम इसे स्वीकार नहीं करते। एक तो उसके दोनों मित्र स्वभाव से ही इतने उद्धत थे कि नारी-सौन्दर्य जैसी सूक्ष्म वस्तु को परखने की दृष्टि ही उनके पास नहीं थी। दूसरे, यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जयन्ती की चेष्टाओं और बातचीत का केन्द्र सदैव नन्दकिशोर ही था। उन तीनों में से जयन्ती सबसे अधिक महत्व नन्दकिशोर को ही देती थी। कारण चाहे कोई हो। अत: ऐसी स्थिति में नन्दकिशोर का ही मुग्ध होना स्वाभाविक था। अपने शेष साथियों की अपेक्षा नन्दकिशोर कितना गम्भीर है, इसका परिचय पान वाली घटना में मिलता है। जहाँ उसके अन्य साथी दो संभ्रान्त महिलाओं का पीछा करते हैं वहाँ नन्दकिशोर इसकी कालिमा से अभिभूत होकर छात्रावास में चला जाता है। यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है कि कमल कुमारी और शान्ति से इन तीनों युवकों का परिचय एक साथ होता है किन्तु अकेले नन्दकिशोर का पतन क्यों होता है? क्या नन्दकिशोर अपने दोनों साथियों से अधिक गया बीता था? नहीं। बात तो यह थी कि कमलकुमारी तो अब उस अवस्था को पार कर गई थी जबकि मानव हृदय में प्रणय के स्वप्नों की कल्पनाएं जागृत होती हैं। रही शान्ति, वह तीनों व्यक्तियों में से नन्दकिशोर के प्रति ही आकर्षित हो सकी। कारण, नन्दकिशोर के व्यक्तित्व

में वे विशेषताएँ थीं जो उसके अन्य साथियों में न थीं। यदि शांति नंदकिशोर के स्थान पर उमापति से आकर्षित होती तो निश्चय ही उसमें नन्दकिशोर की अपेक्षा अधिक गिरावट आती। हो सकता है कि जहाँ नंदकिशोर का शांति के साथ संबन्ध पर्याप्त समय तक मानसिक मिलन पर आधारित रहा वह उपयुक्त समय पर ही स्थूल मिलन का रूप प्राप्त कर सका, वहाँ उमापति का सम्बंध प्रारम्भ में ही स्थूल रूप को प्राप्त करके छिन्न-भिन्न हो जाता।

नंदकिशोर की सच्चरित्रता के और भी कई प्रमाण मिलते हैं। सराय में वह सारी रात्रि शांति के साथ अकेला टिका रहा और उस समय शांति ने कुछ ऐसी चेष्टाएँ भी कीं जिनमें थोड़ी चंचलता टपकती थी, फिर भी नन्दकिशोर ने जिस संयम का परिचय दिया वह उसके चरित्र की महानता को प्रमाणित करता है। आगे चलकर इलाहाबाद के होटल के मैनेजर की गंदी बातों से और वहां के वातावरण से वह जिस प्रकार कुपित हुआ, वह उसकी सुरुचि का प्रमाण है। इलाहाबाद में शांति के साथ अकेले रहते हुए भी वह शांति की इच्छा के विपरीत किसी भी प्रकार की दुश्चेष्टाएँ नहीं करता। ये तथ्य प्रमाणित करते हैं कि भले ही जोशी के अन्य उपन्यासों के नायक दुर्बल चरित्र के रहे हों किन्तु नंदकिशोर को दुर्बल बताना उचित नहीं। उस बेचारे पर शांति और जयंती की आत्म-हत्या का आरोप लगाया जा सकता है किन्तु देखना यह है कि वह इन आत्महत्याओं के लिए कहाँ तक उत्तरदायी था। शांति की भावनाएँ कितनी ही पवित्र रही हों, किन्तु अकारण ही उसका आकर्षण बलदेव के प्रति जिस सीमा तक पहुँचा था, वह किसी भी सच्चे प्रेमी के लिए ईर्ष्या का कारण बन सकता है। फिर भी वह शाति के साथ संयत व्यवहार करता रहा। शांति के जीवन को अभिशाप बना देने का श्रेय नन्दकिशोर को नहीं अपितु उनके बड़े भाई साहब को है। जयंती की आत्म-हत्या के सम्बंध में भी नंदकिशोर का दोष कहाँ है ? कैलाश स्वयं बता चुका था कि वह शराबी है और न जाने कितनी लड़कियों के साथ गुप्त सम्बंध रखता है। भला ऐसे व्यक्ति के साथ एकांत में अपनी पत्नी को वार्तालाप करते देखकर कौन ऐसा होगा जो क्षणभर के लिए चंचल न हो उठे। कैलाश की सारी बातें और जयंती की सारी चेष्टाएँ पहले से ही नन्दकिशोर के

सन्देह को दृढ़ कर चुकी थीं, और इसके बाद दोनों के गुप्त मिलन ने सन्देह के लिए प्रमाण दे दिया। यह ठीक है कि उसने अपनी पत्नी के सामने ही कैलाश के साथ जो व्यवहार किया वह अशिष्ट था। किन्तु सारी परिस्थितियों को देखते हुए वह क्षम्य है। वस्तुतः नंदकिशोर दोषी नहीं अपितु अभागा था। शांति ने आकर उसके जीवन की शांति को नष्ट कर दिया और जयंती उसके जीवन की सबसे बड़ी पराजय सिद्ध हुई। वह चाहता तो अब भी अपने आपको विलासिता में डुबा सकता था, किन्तु फिर भी उसने अपने जीवन को त्याग, वैराग्य और संन्यास की पवित्र भावनाओं से ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया। अतः हमारी दृष्टि में नंदकिशोर एक सच्चा प्रेमी, सहनशील मित्र तथा उच्च चरित्र का व्यक्ति सिद्ध होता है।

श्री इलाचन्द जोशी ने एक स्थान पर लिखा है कि उनके उपन्यासों का उद्देश्य पुरुष के अहं पर करारी चोट करना रहा है। उनके इस लक्ष्य का प्रभाव संन्यासी के चरित्र चित्रण पर भी पड़ा है। अभागे नंदकिशोर के अहं पर बिना किसी आवश्यकता के ही इतनी अधिक चोटें की गई हैं कि वह बेचारा सद्गृहस्थी से संन्यासी बनने को विवश हो गया। कम से कम आखिरी चोट जो कि शांति द्वारा ठुकराए जाने की है, अन्यायपूर्ण है। इतने दीर्घ समय के बाद अपने प्यारे पुत्र किशोरकुमार वाजपेयी के पिता को प्राप्त करके भी उसे निष्ठुरतापूर्वक ठुकराना, शांति के हृदय की ऐसी कठोरता का प्रदर्शन करता है जो किसी नारी हृदय के लिए स्वाभाविक नहीं। यदि जोशी जी का लक्ष्य नायक के हृदय पर चोट करने का न होता तो अवश्य ही वे नंदकिशोर और शांति का मिलन दिखाकर फिर उनकी उजड़ी हुई गृहस्थी को बसा सकते थे। पर यह उन्होंने नहीं किया।

किसी भी उपन्यास के चरित्र चित्रण की सफलता का रहस्य केवल मनोविश्लेषण प्रस्तुत करने में ही नहीं है। अपितु उन पात्रों के व्यक्तित्व को सजीव रूप प्रदान करने में है। प्रस्तुत उपन्यास में नन्दकिशोर, शान्ति, नन्दकिशोर की भाभी, इन तीनों का व्यक्तित्व पूर्णतः सजीव बन सका है। शेष पात्रों के व्यक्तित्व पर आंशिक रूप से ही प्रकाश डाला जा सका है और वे आंशिक रूप से ही सजीव बन पाए हैं। जोशी जी के चरित्र चित्रण की

दो प्रमुख विशेषतायें और हैं। एक तो व्यक्तित्व वैचित्र्य, दूसरी विरोधी प्रवृत्तियों का संगठन। पुरानी विचारधारा के अनुसार सामान्य ढङ्ग के पात्रों का ही चित्रण होना चाहिए। किन्तु आधुनिक विचारक किसी सीमा तक व्यक्ति वैचित्र्य को भी महत्व देते हैं। व्यक्ति वैचित्र्य का अर्थ है—अनोखे-अनोखे ढङ्ग के व्यक्तियों का चित्रण करना। संन्यासी में बलदेव, रमाशङ्कर और कैलाश तीनों व्यक्ति वैचित्र्य के उदाहरण हैं। बलदेव, गांधी जी को गाली देने में अपनी महानता समझता है किन्तु दूसरे ही क्षण वह गांधी का श्रद्धालु बनता जाता है। रमाशङ्कर नन्दकिशोर को बलियाटिक बताता हुआ स्वयं बलियाटिक बन जाता है। वह सिद्ध तो यह करना चाहता है कि इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों का स्तर बनारस के विद्यार्थियों से ऊँचा होता है किन्तु प्रमाण यह देता है कि इलाहाबाद के हर विद्यार्थी के नाम होटल वालों के काफी पैसे चढ़े होते हैं। तात्पर्य यह है कि वह दूसरों को मूर्ख बनाने के स्थान पर स्वयं मूर्ख बन जाता है। इस उपन्यास का एक विचित्र पात्र कैलाश है। अपने विद्यार्थी जीवन में वह एक दुर्बल, अयोग्य और मंद विद्यार्थी रहा। किन्तु फिर भी अपनी छोटी-सी आयु में ऐसे-ऐसे कारनामे किए, जिन्हें देख कर उसके बड़े-बड़े साथी दङ्ग रह गये। वह व्यक्ति नहीं, मानो जादूगर है। दुनिया के सारे राजाओं को अपना मित्र बना सकता है। सभी रईसों और धनवानों को मूर्ख बना कर वह उनसे पैसा ऐंठ सकता है और अपने सम्पर्क में आने वाली सारी युवतियों को वह अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। कभी वह बीमे का एजेण्ट बन जाता है तो कभी वह कोई नई फिल्म कम्पनी खोलने की तैयारी में दिखाई देता है। न जाने कितनी लड़कियों के प्रेम-पत्र उसे मिलते हैं और न जाने कितनी कुमारी बालाओं का विवाह सम्बंध निश्चित करने का भार उस पर है। वह अद्भुत प्राणी है।

जोशी जी के चरित्र चित्रण की एक विशेषता यह है कि वे एक ही व्यक्ति में अनेक विरोधी प्रवृत्तियों का भी विकास दिखाते हैं। उदाहरण के लिये संन्यासी में शांति और नंदकिशोर को लीजिये। शांति कभी अतिशय उदार बन जाती है तो कभी वह अत्यन्त कठोर रूप में भी दिखाई पड़ती है। कहीं वह अत्यधिक डरपोक दीख पड़ती है तो कहीं हमें उसके समान कोई

साहसी व्यक्ति इस उपन्यास में दिखाई नहीं पड़ता। यही बात नंदकिशोर में भी है। कभी वह बलदेव के दुःख को देखकर अत्यंत सहानुभूतिशील हो उठता है तो कभी उसके हृदय में उसी के प्रति ईर्ष्या की चिनगारी प्रदीप्त हो उठती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चरित्र चित्रण के क्षेत्र में जोशी जी में अनेक विशेषताएँ हैं। हिन्दी के उपन्यासकारों में चरित्राङ्कन की ऐसी सूक्ष्मता जोशी जी की अपनी विशेषता है। इस क्षेत्र के वे सम्राट हैं। प्रेमचन्द में मानव वृत्तियों की व्यापकता अधिक है परन्तु जोशी जी के समान सूक्ष्म विश्लेषण उनमें कहाँ। अपने पात्रों की दूषित वृत्तियों को खोलकर नग्नरूप में प्रस्तुत कर देने की कला में उपन्यासकार जैनेन्द्र बढ़े-चढ़े हुए हैं, किन्तु जोशी जी जैसी स्वाभाविकता उनमें नहीं मिलती। अपने पात्रों की यौन वासनाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण करने की कला में अज्ञेय जी दक्ष हैं किन्तु साथ ही उनका यह मनोविश्लेषण इतना गम्भीर, इतना जटिल और इतना बोझिल बन जाता है कि उसे समझना पाठक के मस्तिष्क के लिए एक अच्छा व्यायाम बन जाता है। अस्तु, जोशी जी के मनोविश्लेषण में सरलता, स्वाभाविकता, सूक्ष्मता और रोचकता, ये चारों गुण मिलते हैं जो हिन्दी के अन्य उपन्यासकारों में दुष्प्राप्य हैं।

---

४०. संन्यासी के नारी पात्र

संन्यासी में चित्रित नारी जीवन का अध्ययन करने से पूर्व हमें उसके युग और समाज को समझ लेना चाहिए। साहित्य की दृष्टि से संन्यासी उस युग की देन है जबकि कविता में छायावाद था। हमारे विचार से जीवन और समाज के प्रति जो दृष्टिकोण छायावादी कवियों का था लगभग वही जोशी जी का रहा है। छायावादी कवि नारी को दिव्य रूप में पूजता रहा है। उसके विचार में नारी केवल श्रद्धा है और पुरुष उसके समक्ष नगण्य है। छायावादी कवियों की नारी यदि करुणा, त्याग और बलिदान की प्रतिमूर्ति थी तो पुरुष उसकी दृष्टि में क्रूरता, हिंसा और द्वेष का पुतला था। कामायनीकार ने भी अपनी रचना में जहाँ श्रद्धा को अत्यन्त सात्विक रूप प्रदान किया है वहाँ मनु को अत्यन्त ईर्ष्यालु व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है। यह आश्चर्य की बात है कि जिस नारी को हमारे मध्यकालीन कवियों ने इतनी घृणा की दृष्टि से देखा था कि उसे शूद्र और पशु की समता दी गई थी, वही छायावादी युग में आकर अत्यन्त पूजनीय बन गई। जोशी जी का भी दृष्टिकोण नारी और पुरुष के प्रति यही रहा है। उन्होंने एक स्थान पर स्पष्ट रूप में नारी की प्रशंसा की है और पुरुष को अहंकारी घोषित किया है। उन्होंने इस बात को भी स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि उनके उपन्यासों का लक्ष्य पुरुष के अहं पर चोट करना ही रहा है। जब कोई लेखक पहले से ही ऐसा लक्ष्य बना कर चलता है तो उसकी रचना में नारी की महानता का और पुरुष की नीचता का प्रतिपादन हो जाना स्वाभाविक है। संन्यासी में भी ऐसा ही हुआ है।

संन्यासी में कई नारी पात्र हैं। कुछ प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित होते हैं और कुछ अप्रत्यक्ष रूप में। प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित होने वाले नारी पात्रों में शान्ति और जयन्ती उल्लेखनीय हैं। शांति के चरित्र में हम अनेक विशेषताएँ पाते हैं। सर्वप्रथम हम उसे आर्यसमाजी सिद्धांतों की कट्टर अनुयायिनी के रूप में देखते हैं। आर्यसमाजी पुरुष भी होते हैं किन्तु कदाचित्

उनमें समाज के विचारों के प्रति वह सच्ची श्रद्धा नहीं मिलती जो शांति में है। यही कारण था कि जब नंदकिशोर ने आर्यसमाजी विचारों पर आक्षेप किया तो शांति तिलमिला उठी। किन्तु यह भी एक आश्चर्य की बात है कि वह आगे चलकर उसी नंदकिशोर के प्रति आकर्षित हुई। कदाचित् इसका एक कारण यह भी है कि नंदकिशोर ने यह स्वीकार किया था कि उसकी स्वामी जी के प्रति अश्रद्धा नहीं है।

शांति को साहस और त्याग की पुतली कहा गया है। जब एकाएक कमल कुमारी आती है तो पुराने नारी स्वभाव के अनुसार शांति को घबराना चाहिए था किन्तु यहां नंदकिशोर को घबराते देखते हैं। घर छोड़कर भागने का प्रस्ताव भी पुरुष की ओर से होना चाहिये था किन्तु इसमें भी शांति आगे बढ़कर अपने त्याग का परिचय देती है। एक अध्यापिका होते हुए भी उसे भविष्य की कोई चिंता नहीं। यदि वह अपने भाई से मिलने जा रही थी तो उसे अपनी छुट्टी का प्रार्थना-पत्र लिखना चाहिये था। यदि वह सदा के लिये बाहर जा रही थी, तो उसे त्याग-पत्र देना चाहिये था। किन्तु वह यह कुछ नहीं करती। अपितु वह नंदकिशोर की कायरता का बखान करके उसे भी उत्तेजित कर देती है। कदाचित् लेखक का लक्ष्य नारी को पुरुष से अधिक शक्तिशालिनी सिद्ध करने का रहा है। और हो सकता है कि इसमें थोड़ी सच्चाई भी रही हो किन्तु उन्होंने इस प्रसंग में नंदकिशोर को जैसा शिथिल और दुर्बल सा दिखाया है वह थोड़ा अस्वाभाविक बन गया है। किन्तु ध्यान रहे कि छायावादी कवि और लेखक शक्ति का स्रोत नारी में ही मानते रहे हैं। जब कामायनी का मनु भी सुस्त, उदास और शिथिल हो जाता है तो श्रद्धा का संदेश ही उसे नया जीवन, नयी प्रेरणा और नई शक्ति प्रदान करता है। अतः उस युग के दृष्टिकोण से जोशी जी का नारी को प्रेरक के रूप में दिखाना उचित ही है।

इलाहाबाद में पहुँच कर भी हम शान्ति के चरित्र में अनेक विशेषताओं का दर्शन करते हैं। वह इतनी सुरुचि-सम्पन्न है कि होटल में एक रात काटना भी उसके लिए कठिन हो जाता है। वह इतनी चरित्रवान् है कि होटल में किसी अभद्र व्यक्ति की एक दृष्टि से भयभीत हो उठती है। वह गृह कार्य

में इतनी चतुर है कि नन्दकिशोर की गृहस्थी का सारा प्रबन्ध कुछ ही समय में ठीक कर लेती है। वह इतनी मिलनसार है कि अपने मोहल्ले की सारी स्त्रियों को अपनी बातचीत से वशीभूत कर लेती है। वह इतनी लज्जालु है कि रमाशंकर के आ जाने पर काफी समय तक पीठ फेरे बैठी रहती है। वह इतनी दयालु है कि बलदेव की फीस न दे सकने की बात को सुन कर ही द्रवित हो उठती है। वह इतनी उदार है कि बलदेव की बहन को बिना देखे ही उसके लिए साड़ियाँ और सोने का हार लेकर चल पड़ती है। उसका हृदय इतना पवित्र है कि जब नन्दकिशोर उसके सामने थोड़े से भी संदेहपूर्ण शब्द कहता है तो वह मूर्च्छित हो जाती है और वह इतनी भली और त्यागिनी है कि नंदकिशोर के भाई के अनुरोध करने पर चुपचाप घर छोड़ कर चली जाती है। भला संसार का कौन सा गुण है जो जोशी जी की इस शांति में नहीं है। कहना चाहिए कि वह नारी नहीं, स्वर्गीय देवी थी। नारी से देवी बनाने में ही जोशी की कला की सबसे बड़ी अस्वाभाविकता है। उसके इसी देवतापन ने बेचारे नंदकिशोर के हृदय में कई संदेह, शंकाएँ और आशंकाएँ उत्पन्न कर दीं। क्या यह स्वाभाविक था कि किसी अनजान बहन के लिए अपनी वर्षों से संचित की हुई निधि 'सोने का हार' समर्पित कर दे ? और वह भी बलदेव की बहन को ही। क्या इतने बड़े बनारस और इतने बड़े इलाहाबाद में इससे पहले कोई गरीब व्यक्ति उसे मिला ही नहीं ? यदि वह इतनी उदार होती तो उसका वह हार ही किसी गरीब लड़की या किसी असहाय भिखमंगे की भेंट हो जाता। तो क्या यह समझें कि उसने यह सब बलदेव को आकर्षित करने के लिए किया ? या शांति को इससे पहले कोई ऐसा दरिद्र और दुखी मिला ही नहीं था जिसके प्रति वह सर्वस्व अर्पित कर देती ? हमारे विचार से इसका कारण स्वयं शांति भी न समझती थी। इतना स्पष्ट है कि शांति की बलदेव के प्रति सहानुभूति थी और इस सहानुभूति में आकर्षण भी था। कहा जा सकता है कि वह सीधे रूप में बलदेव की सहायता न कर सकती थी। इसलिए बलदेव की बहन की सहायता करके उसने अप्रत्यक्ष रूप में बलदेव की ही सहायता की थी। अपनी बहन को साड़ी लाकर देने की चिन्ता बलदेव की थी। इसी चिंता को, बलदेव की, दूर करने के लिए ही अपनी

साड़ी दी। साथ ही उसकी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए सोने का हार दिया। यदि वह सीधे बलदेव को यह भेंट देती तो वह जानती थी कि बलदेव इसे स्वीकार न करेगा। वास्तविकता तो यह है कि लेखक ने यहां नन्दकिशोर और पाठक दोनों को अनुचित रूप से संदेह में डाल दिया। उसने नारी होने के कारण ही शांति का पक्ष लिया और उसे गिरने से बचा लिया। अन्यथा इस स्थिति में शांति की चेष्टाओं को देखते हुए उसका गिर जाना स्वाभाविक था।

आगे चल कर जब देहरादून में पुनः शांति और नन्दकिशोर की भेंट होती है तो वहां शांति को अत्यंत रहस्यमयी नारी के रूप में चित्रित किया गया है। यह आश्चर्य की बात है कि वह अपनी भावनाओं को इतना नियन्त्रित कर लेती है कि वह नन्दकिशोर से प्रत्यक्ष रूप से बात नहीं करती। लेखक ने वहाँ शांति की अति संयमशीलता, उदासीनता और निष्ठुरता का परिचय दिया है। उसका अपने छोटे से नन्हे बच्चे को, उसके भाग्य पर छोड़ कर सदा के लिए अनन्त के गर्भ में विलीन हो जाना भी अस्वाभाविक प्रतीत होता है। उसने पत्नीत्व के साथ-साथ मातृत्व की भी उपेक्षा कर दी। जिस दिन नारी इतनी कठोर हो जायेगी तब वह नारी नारी न रह कर पाषाण मूर्ति बन जावेगी। यह व्यवहार नारी शांति का नहीं है अपितु इस उपन्यास के लेखक पुरुष जोशी का ही है। वे चाहते हैं कि नारी पुरुष के अहं को चोट पहुँचाने के लिए अपनी कठोरता का परिचय दे। इसी विचार से शांति को जान-बूझ कर कठोर बनाया गया है।

संन्यासी की दूसरी प्रमुख नारी जयन्ती है। इसको प्रारम्भ में एक सुन्दरी के रूप में चित्रित किया गया है। उसके रूप, सौन्दर्य और लावण्य की प्रथम चकाचौंध से ही नन्दकिशोर के नेत्र चकित हो जाते हैं। उस समय वह किशोरावस्था में ही थी। अतः लज्जा का संचार हो गया था। ध्यान रहे, जयन्ती इस अवसर पर पर्याप्त संयम का परिचय देती है। आगे चल कर जब वह शिमला जाती है तो वहां भी हम उसे संकोच में पाते हैं। विवाह के बाद भी वह नन्दकिशोर से कम बातें करती है। अतः कहना चाहिए कि संकोच की प्रवृत्ति उसमें बराबर रही है। जयन्ती की इसी संकोचशीलता के

कारण नन्दकिशोर उसे समझ नहीं पाता। वह जयन्ती के प्रेम के सम्बंध में कई बार उससे पूछता भी है। किन्तु जयन्ती उसके प्रश्नों का उत्तर भी अत्यंत अस्पष्ट शब्दों में देती है। जब नन्दकिशोर उससे पूछता है कि तुम मुझसे प्रेम करती हो कि नहीं तो वह कहती है, तुम जो चाहो समझो। प्रश्न है कि जयन्ती के अति संकोच तथा अति अस्पष्टता का क्या कारण था ? क्या यह उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी या इसका कोई और कारण था ? इस प्रवृत्ति को बिल्कुल स्वाभाविक तो हम नहीं मान सकते क्योंकि वह कैलाश से एकांत में बैठ कर पर्याप्त बातचीत करती है। सम्भवतः इसका कारण उसका कैलाश के प्रति असफल प्रेम ही था। उसका मूल आकर्षण तो कैलाश के प्रति ही था, किन्तु कैलाश के विवाह के लिए तैयार न होने के कारण उसे परिस्थितिवश नन्दकिशोर के साथ विवाह करना पड़ा। विवाह के बाद भी उस का मन पूरी तरह नन्दकिशोर के प्रति आकर्षित न हो पाया था। इसीलिए उसका एक ओर प्रयत्न था कि वह अपने मन को नन्दकिशोर की ओर मोड़ सके, दूसरी ओर वह मन की वास्तविकता को नन्दकिशोर से छिपाना चाहती थी। नन्दकिशोर ने सारी पिछली बातें जयन्ती को बता दी थीं, परन्तु जयन्ती ने उसे कैलाश के संबंध में कुछ भी नहीं बताया। उसे डर था कि यदि वह अपनी कैलाश से संबंधित अनुभूतियां नन्दकिशोर को बता देगी तो वह अप्रसन्न हो जावेगा। सम्भवतः इसी विचार से वह अपने मन के भीतर ही अपनी गुत्थियों को सुलझाने में लगी रहती थी।

जयन्ती के चरित्र की प्रवृत्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह मानसिक दृष्टि से पूर्णतः अस्वस्थ हो गई थी। उसे हिस्टीरिया के दौरे पड़ने लग गये थे। कुछ विशेष प्रकार की बातों को सुनकर वह कभी आवश्यकता से अधिक प्रसन्न हो जाती थी तो कभी एकाएक मूर्च्छित हो जाती थी। आधुनिक युग के मनोविश्लेषण शास्त्री फ्रायड आदि यह मानते हैं कि हिस्टीरिया की बीमारी वासनाओं के दमन से और यौन भावनाओं की अतृप्ति के कारण ही उत्पन्न होती है। जयन्ती के कैलाश के प्रति असफल प्रणय से इस रोग का उत्पन्न हो जाना मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल सिद्ध होता है। ऐसा भी प्रतीत होता है कि इसके पीछे कैलाश और

जयन्ती से सम्बंध रखने वाली कोई विशेष गुप्त घटना भी रही हो। यह आश्चर्य की बात है कि जब-जब जयन्ती भावावेश में आती है तब-तब वह एक खास गीत को ही दोहराती है। और उसी गीत को कैलाश भी जयन्ती के सम्मुख दोहराता है। हो सकता है कि वह गीत पहली बार जब गाया गया था तो उस दिन कैलाश और जयन्ती के जीवन में कोई विशेष घटना घटी हो। फ्रायड बताता है कि ऐसे रोगी जब तक अपने मन की सारी बात और अपनी सारी पिछली घटनाएँ किसी व्यक्ति के सामने बार-बार दिल खोलकर नहीं रख देते तब तक वे स्वस्थ नहीं हो पाते। जीवन की जिन अनुभूतियों का बोझ जयन्ती अपने मन पर लादे रहती थी, उसे वह यदि नन्दकिशोर को सुना कर हलका कर लेती तो कदाचित् उसकी मानसिक अवस्था सुधर सकती थी। परन्तु जयन्ती ने ऐसा नहीं किया। वह इस बोझ से इतनी दुःखी हुई कि अन्त में उसने आत्महत्या कर ली। सम्भवतः कुछ लोग जयंती की आत्महत्या का उत्तरदायी नंदकिशोर को समझें किन्तु वास्तविकता यह नहीं थी। उसके असफल प्रणय और मानसिक अस्वस्थता ने ही उसे इस जीवन से मुक्ति पाने की प्रेरणा दी थी। अपने पत्र में भी वह स्पष्ट करती है कि उसका नंदकिशोर के प्रति कोई विशेष उपालम्भ नहीं है।

जयंती के चरित्र में एक विशेषता यह है कि वह नंदकिशोर के मुंह से शांति की कहानी सुन करके भी शांति के प्रति ईर्ष्यालु नहीं होती। जबकि शांति उसी के पति की पूर्व पत्नी होने के कारण उसके प्रति जयंती का ईर्ष्यालु हो जाना स्वाभाविक था। कदाचित् लेखक यहाँ भी पुरुष की अपेक्षा नारी की महानता ही सिद्ध करना चाहता है। एक ओर नंदकिशोर है जो अपनी पत्नी के पहले प्रेमी को धक्का देकर घर से निकाल देता है। दूसरी ओर जयंती है जो कि अपने पति की पहली प्रेमिका के प्रति घोर श्रद्धा और प्रेम का परिचय देती है। जो सम्बंध नंदकिशोर का कैलाश से था वही जयंती का शान्ति से था, किन्तु फिर भी एक ने ऐसा बुरा व्यवहार किया जब कि दूसरे ने इतना अच्छा। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि जयंती की प्रतिद्वन्द्विनी उसकी अपनी दुनिया से दूर थी, किसी अज्ञात लोक में थी, जिसके अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं था। जबकि नंदकिशोर का प्रतिद्वन्द्वी

उसकी आँखों के सामने था। दूसरे, शांति के पुनः उपस्थित होकर जयंती के जीवन में व्याघात उपस्थित करने की कोई सम्भावना न थी। जब कि कैलाश नंदकिशोर की आँखों के सामने आकर उसकी बसी हुई दुनिया को उजाड़ने लगा था। मृत व्यक्ति यदि हमारा शत्रु भी हो तो उसके प्रति हमारी सहानुभूति होती है। और नंदकिशोर के विचार से शांति अभी तक जीवित न थी। अतः शांति को मृत समझ कर जयंती के हृदय में सहानुभूति उत्पन्न होना स्वाभाविक था। साथ ही यह न भूलना चाहिए कि शांति को घर छोड़ने के लिए मजबूर किया गया था। वह पवित्र आत्मा थी। जबकि कैलाश उच्छृङ्खल और दुराचारी था। तथा उसने जानबूझ कर जयंती के प्रेम को ठुकरा दिया था। अतः इन परिस्थितियों के अंतर को देखते हुए और दोनों के चरित्र के भेद समझते हुए जिस सहानुभूति की पात्र शांति थी वह कैलाश के प्रति उत्पन्न होनी सम्भव न थी। यदि शांति के स्थान पर कोई वेश्या होती तो क्या जयंती की उसके प्रति वैसी ही सहानुभूति होती जैसी शांति के प्रति हुई ? नहीं। अनेक लड़कियों से सम्बंध रखने वाला कैलाश "वेश्या" से कम न था। उसके प्रति नंदकिशोर की सहानुभूति कैसे उत्पन्न हो सकती थी। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जयंती का शांति सम्बंधी प्रेम के लिए नंदकिशोर को क्षमा कर देना, या नंदकिशोर के द्वारा कैलाश का अपमान विशेष महत्व का नहीं। दोनों इसी योग्य थे।

उपर्युक्त नारी पात्रों से यह स्पष्ट है कि लेखक ने नारी को पुरुष से ऊँचा उठाने का प्रयास किया है किन्तु उसे पूरी सफलता नहीं मिली। शांति के चरित्र में जो महानता दिखाई गई है, उसके कारण थोड़ी अस्वाभाविकता भी आ गई है। जबकि जयंती के रुग्ण मन में हमें महानता की कोई बात ही नहीं दीखती। फिर भी लेखक की इस धारणा ने कि आज के समाज में पुरुष ही अहंवादी है और उसी के अहं के कारण नारी का जीवन दुःखपूर्ण बन रहा है, अतः उपन्यासों में नारी के चरित्र को ऊपर उठा कर पुरुष के चरित्र को चोट पहुँचानी चाहिए, इसी ने उपन्यास को अस्वाभाविक बना दिया है। शांति का मातृत्व को ठुकरा कर चला जाना इसी अस्वाभाविकता का प्रमाण है।

---

४१. संन्यासी में नारी समस्या और उसका समाधान

संन्यासी की मूल समस्या नारी की समस्या है। अर्थात् नारी जीवन को सुखी बनाने की समस्या है। इस सारे उपन्यास में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अनेक नारी पात्र उपस्थित हुए हैं किन्तु उन सभी के जीवन का अंत दुःखमय होता है। प्रायः सभी नारी पात्र आत्महत्या करने को विवश होते हैं। इससे स्पष्ट है कि जोशी जी के दृष्टिकोण से आधुनिक नारी का जीवन इतना अधिक कष्टपूर्ण है कि वह जीवन की अपेक्षा मृत्यु को अधिक पसंद करती है। प्रश्न है कि इस कष्ट का मूल कारण क्या है ? उसके जीवन को इतना अधिक दुःखपूर्ण बनाने का उत्तरदायित्व किस पर है ? इस प्रश्न का उत्तर अपने एक लेख में इलाचन्द्र जोशी ने दिया है। उनके विचारानुसार नारी के समस्त दुःखों का कारण पुरुष की अहं भावना है। पुरुष अपनी अहं भावना की तृप्ति के लिये ही नारी के साथ मैत्री, प्रेम तथा विवाह के सम्बंध स्थापित करता है। किन्तु जब कभी नारी उसकी अहं भावना की तुष्टि का साधन बनना अस्वीकार कर देती है तो उस स्थिति में पुरुष की दशा एक चोट खाये सर्प की सी हो जाती है। परिणामस्वरूप वह नारी के जीवन को और भी दुःखी बना देता है। 'संन्यासी' में भी लेखक ने शांति और जयन्ती के जीवन की इति-श्री सम्भवतः नंदकिशोर के अहं के परिणामस्वरूप दिखाई है। मास्टर की पत्नी की आत्महत्या का कारण भी उसके पति का ही अहं बताया गया है। प्रत्यक्ष रूप में इन तीनों की ही आत्म-हत्या के मूल में हम अहं को न देखकर उनके पति का वहम या संदेह ही देखते हैं। क्या नंदकिशोर, क्या वह मास्टर, दोनों ही अपनी पत्नियों के चरित्र पर संदेह करते थे। जोशी जी के विचार से यह संदेह पुरुष की वृत्ति से ही सम्बन्धित है। पुरुष का अहं यह स्वीकार नहीं करता कि उसकी पत्नी अपने तन और

मन का किंचित् अंश भी किसी और पुरुष को दे। इसीलिए उसके हृदय में संदेह और शंका होती है। जोशी जी का यह विश्लेषण किसी सीमा तक ठीक तो है किन्तु एकांगी है। क्या अहं केवल पुरुष में ही पाया जाता है, नारी में नहीं ? क्या अपने पति या प्रेमी को किसी अन्य स्त्री में अनुरक्त देखकर नारी के अहं को चोट नहीं पहुँचती ? क्या हमारे समाज के दैनिक जीवन और पुराने इतिहास में इस बात के पर्याप्त उदाहरण नहीं मिलते जब कि एक नारी अपनी सहेली के प्रति ईर्ष्यालु होकर उसे मरवाने तक का प्रयत्न करती है ? हमारे अथर्व वेद में अनेक ऐसे मंत्र हैं जिनका प्रयोग नारियां अपनी सपत्नो के विरुद्ध करती थीं। एक मंत्र में तो एक नारी देवताओं से यह प्रार्थना करती है कि वह उसके पति को इतना पागल बनादे कि जिससे वह उस प्रेयसी को भूलकर उसके वशीभूत रहे। कहा जा सकता है कि पुरानी नारी यह करती थी आधुनिक नहीं। पर वास्तविकता यह नहीं है। पुराने युग में तो फिर भी पुरुष एक से अधिक विवाह करता था। उसे पत्नियां सहन भी करती थीं। आधुनिक नारी इसकी कल्पना को भी सहन नहीं कर सकती। कदाचित् जोशी जी ने जयंती की सहानुभूति और श्रद्धा शांति के प्रति दिखा कर नारी हृदय को उदार दिखाने का प्रयत्न किया है किन्तु जैसा कि पहले कहा गया है कि जयंती की शांति के प्रति सहानुभूति जाग्रत होने के कई और कारण थे। एक तो वह प्रत्यक्ष उपस्थित नहीं थी। दूसरे, उसके लौट कर आने की आशा न थी। तीसरे, वह स्वयं नंदकिशोर को छोड़कर जा चुकी थी। यदि शांति जयन्ती की प्रतिद्वन्द्विनी के रूप में प्रत्यक्ष उपस्थित होती तो वह उसे कभी सहन न कर पाती। और फिर जयन्ती ने आत्महत्या क्यों की ? इसीलिये कि उसका अहं कैलाश के अपमान को सहन नहीं कर सका। शांति भी जीवन में दो बार चुपचाप नंदकिशोर को ठुकराकर चली गई। क्या यह उसका अहं नहीं था ? शांति ने बनारस में कमल कुमार से अपमानित होने के बाद उसने तुरन्त ही अपना मकान छोड़ने का निर्णय कर लिया। क्यों ? इसीलिये कि उसका अहं और अधिक अपमान सहन करने को तैयार न था। अतः हम जोशी जी की इस धारणा से असहमत हैं कि पुरुष में अहं है, नारी में नहीं। इसके अतिरिक्त हमें यह न भूलना चाहिये

कि जिसका जिसके प्रति अधिक प्रेम होगा वह उस पर उतना ही अधिक अधिकार चाहेगा। प्रेम का मनोविज्ञान यही बताता है। कबीर जैसे भक्त भी प्रेम के क्षेत्र में अपने प्रियतम पर पूरा अधिकार चाहते हैं। देखिये :

नयना अन्तर आव तूं, नयन ढाँपि तोहि लेउं।
ना मैं देखूं और को, ना तोहि देखन देउं॥

हमारे पुराने आचार्यों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है। भोजराज ने शृङ्गार का मूल अहं को माना है किन्तु वे अहं की स्थिति अकेले पुरुष में ही नहीं मानते। दोनों में मानते हैं। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि प्रत्येक प्रेम के मूल में अहं का होना आवश्यक है। बिना अहं के प्रेम नहीं किया जा सकता। अतः चाहे पुरुष हो, या नारी प्रत्येक में अहं का होना आवश्यक है।

प्रश्न है, इस समस्या का वास्तविक कारण क्या है? हमारे विचार से इसमें जो समस्या चित्रित की गई है वह वास्तविक समस्या नहीं है। समस्या को बढ़ा-चढ़ा कर दिखलाया गया है। संन्यासी के सारे नारी पात्र आत्म-हत्या कर लेते हैं। वास्तविकता यह है कि आत्म-हत्या करके प्राण त्यागने वाली नारियों की औसत १ प्रतिशत भी नहीं है। हजारों में केवल एक ही होगी जो संन्यासी के नारी पात्रों का अनुगमन करती हो। यदि कोई विदेशी संन्यासी को पढ़कर भारत की नारियों की स्थिति समझना चाहे तो वह इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि भारत की ८० प्रतिशत नारियाँ जलकर मरती हैं, १० प्रतिशत नदी में डूबकर और शेष क्षय रोग से ग्रस्त होकर। आश्चर्य की बात यह है कि संन्यासी की एक नारी भी अपनी मौत नहीं मरती। जहाँ समस्या को ही अतिरंजित रूप में लिया गया है वहाँ उसका वास्तविक समाधान खोजना व्यर्थ है। हाँ, इतना हम अवश्य स्वीकार करते हैं कि भारतीय समाज में विशेषतः विवाह के सम्बंध में अनेक रूढ़ियाँ हैं जिनके कारण हमारा दाम्पत्य जीवन सुखमय नहीं बन पाता। जाति-पाँति, भेद-भाव, लेन-देन और दहेज तथा लड़के-लड़कियों की इच्छा के विरुद्ध विवाह करने की रूढ़ियों के कारण हमारे अनेक विवाह सफल नहीं हो पाते। नंदकिशोर का विवाह शान्ति से हो जाना चाहिए था किंतु उनकी जाति और

गोत्र न मिलने के कारण नंदकिशोर के बड़े भाई ने उनके विवाह को अस्वीकार कर दिया। जयन्ती का विवाह कैलाश से होना चाहिए था किंतु सामाजिक स्थिति की विषमता के कारण यह न हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि नंदकिशोर और जयंती के विवाह के पूर्व नंदकिशोर की इच्छा को जानने का तो प्रयत्न किया जाता है, किंतु जयंती की इच्छा को नहीं जाना जाता। यह कितने आश्चर्य की बात है कि हमारे इस समाज में अधिकांश माता-पिता अपनी लड़कियों से उनके विवाह से पूर्व कोई सम्मति नहीं लेते। इतना ही नहीं, इस सम्बंध में वह अपनी पसंद, अपनी मान-मर्यादा और अपनी रूढ़ियों को बलात् अपनी संतान पर थोपते हैं। संन्यासी में एक स्थान पर नंदकिशोर स्वयं इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि दाम्पत्य जीवन की सफलता के लिए उसमें दो बातें आवश्यक हैं। एक तो विवाह समाज से सम्मत हो, दूसरे लड़के और लड़की की मनोवृत्तियाँ ऐसी हों कि वे एक दूसरे से समझौता कर सकें। इसके लिए दोनों में विरोधी गुण हों। उसके विचार से यदि कलाकार का विवाह कलाकार से हुआ तो वह असफल होगा। एक कलाकार हो तो दूसरा वैज्ञानिक। तभी आकर्षण रहेगा। अस्तु, यह विवाह सम्बंधी उपर्युक्त नियम कहाँ तक ठीक है, हम कुछ नहीं कहते। हम तो केवल इतना ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि शांति और नन्दकिशोर के विवाह की असफलता का कारण नन्दकिशोर न होकर हिन्दू-समाज ही है। समाज की बुराइयों के लिए एक व्यक्ति या एक वर्ग को उत्तरदायी समझना अन्याय है। यह न समझें कि विवाहित जीवन की असफलता के कारण नारी दुःखी होगी है, पुरुष नहीं। दोनों ही दुःखी होते हैं। नंदकिशोर को कौन-सा सुख मिला ? उसे भी तो अंत में संन्यासी बनना पड़ा। अन्तर यह है कि नारी दुर्बल होती है। अतः वह आत्म-हत्या करके जीवन के दुःखों से छुटकारा पा लेती है जबकि पुरुष अपने धैर्य और कष्ट-सहिष्णुता के गुण के कारण संन्यासी बनकर जीवन के दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

---

४२. संन्यासी में लेखक का उद्देश्य

साहित्य के क्षेत्र में प्रत्येक रचयिता का कोई-न-कोई उद्देश्य माना जाता है। उद्देश्य की दृष्टि से साहित्यकारों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम वे जो कला का उद्देश्य कला मानते हुए अपनी रचना में केवल ऐसे ही विषयों का वर्णन कहते हैं जोकि उसकी सौन्दर्य-वृद्धि में सहायक सिद्ध हों। दूसरे वे कलाकार हैं जोकि अपनी कला का उद्देश्य जीवन मानते हुए अपनी रचनाओं में उपदेशात्मक तत्त्वों को समन्वित करते हैं। इन दोनों वर्गों में से किस वर्ग को अधिक महत्त्व दिया जाय, यह एक विवादास्पद विषय है। हमारा प्रयोजन यहाँ इस विवाद में उलझने का नहीं है, किन्तु संक्षेप में हम कह सकते हैं कि दोनों वर्गों के कलाकारों को अतिवादिता से बचना चाहिए। कला कला के लिए के नाम पर विनाशक तत्वों का समन्वय करना उतना ही बुरा है जितना कि कला जीवन के लिए की आड़ में कला को शुष्क नीति-शास्त्र का रूप दे देना। अस्तु, कला में सौन्दर्य तो है ही, साथ में यदि वह जीवन के लिए उपयोगी भी सिद्ध हो सके तो यह इसका अतिरिक्त गुण माना जावेगा। इन दोनों वर्गों में से संन्यासी के रचयिता जोशी प्रथम वर्ग में आते हैं। उन्होंने अपने कुछ लेखों में यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि वे कला को कला के लिए मानते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने उन विद्वानों का विरोध भी किया है जोकि कला में नैतिकता और उपयोगिता का होना आवश्यक मानते हैं। यही कारण है कि जोशी जी के उपन्यासों में समाज की समस्याओं का वैसा विस्तृत रूप में चित्रण नहीं मिलता जैसा कि प्रेमचन्द जी जैसे लेखकों की रचनाओं में है। फिर भी साहित्य समाज का प्रतिनिधि होता है। अतः उसमें समाज की कुछ समस्याओं का चित्रण बिना किसी प्रयत्न के ही स्वाभाविक रूप में हो जाता है। ऐसा जोशी के उपन्यासों में भी हुआ है।

यद्यपि जोशी जी अपनी रचनाओं के द्वारा पाठकों को कोई शिक्षा या नीति की कोई बात सिखाने का प्रयत्न नहीं करते, किन्तु फिर भी उन्होंने यह स्पष्ट

रूप में स्वीकार किया है कि उनका उद्देश्य व्यक्ति की अहं भावना पर निर्मम प्रहार करना रहा है। उनके विचार से पुरुष वर्ग में सदा से अहं भावना की प्रमुखता रही है। व्यक्ति में अहं होना चाहिए, किन्तु इतना नहीं कि वह अपने अहं के सम्मुख दूसरे व्यक्ति के अहं की उपेक्षा कर दे। जोशी जी के विचार से पुरुष वर्ग में इसी प्रकार का एकाङ्गी अहं रहा है, जिसके फलस्वरूप वह नारी की इच्छाओं और उसकी भावनाओं पर सदा से कुठाराघात करता रहा है। अपने अहं की तुष्टि के लिए पुरुष नारी पर कितना अत्याचार कर सकता है इसी का स्पष्टीकरण करना जोशी का लक्ष्य रहा है। प्रस्तुत उपन्यास में भी लेखक की यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इसका सकेत इसमें स्थान-स्थान पर है। जयन्ती के द्वारा कई स्थानों पर पुरुष के अहं का विश्लेषण स्पष्ट रूप से करवाया गया है। विभिन्न आलोचकों ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।

संन्यासी में पुरुष वर्ग का सबसे बड़ा प्रतिनिधि नन्दकिशोर है। कहा गया है कि नन्दकिशोर में इतना अधिक अहं है कि वह उसकी तुष्टि के लिए दो-दो अबला युवतियों के प्राण लेता है, परन्तु फिर भी उसे जीवन में शान्ति उपलब्ध नहीं होती। यह आक्षेप न केवल आलोचकों द्वारा लगाया गया है, लेखक स्वयं भी इसे स्वीकार करता है। जयन्ती और शान्ति के पत्रों में इस तथ्य का उल्लेख स्पष्ट रूप में कर दिया गया है। इतना ही नहीं, स्वयं जयन्ती के मुंह से एक बार नन्दकिशोर को स्पष्ट रूप से कहलवाया गया है कि वह अभिमानी तथा वहमी है।

संन्यासी के घटनाचक्र के द्वारा भी यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि नारी की अपेक्षा पुरुष में कितना अधिक अहं है। उदाहरण के लिए जयन्ती नन्दकिशोर को शान्ति सम्बन्धी प्रसङ्ग के लिए क्षमा कर देती है, किन्तु नन्दकिशोर जयन्ती के पूर्व प्रेम को सदैव शङ्का और घृणा की दृष्टि से देखता है। जहाँ जयन्ती के हृदय में अपने पति की पूर्व प्रेमिका के लिए श्रद्धा के शत-शत भाव आन्दोलित हो उठते हैं, वहां नन्दकिशोर के हृदय में अपनी पत्नी के पूर्व प्रेमी के लिए घृणा का विस्फोट असह्य रूप में हो जाता है। इसी प्रकार शान्ति और नन्दकिशोर के जीवन की तुलना के द्वारा भी पुरुष में

अहं की अधिकता दिखाने का प्रयत्न किया गया है। कहां शान्ति का उदार हृदय कि वह बलदेव की बहन की गरीबी का हाल सुनकर उसके लिए सर्वस्व समर्पित करने को तैयार होती है और कहाँ नन्दकिशोर के हृदय की सङ्कीर्णता कि वह उसके हृदय को शङ्का की दृष्टि से देखता है।

सन्यासी की प्रासङ्गिक कहानियों के द्वारा भी इसी तथ्य को प्रमाणित किया गया है। न जाने कितनी नारियाँ अपने पति के अहं की शिकार होकर आग में जल मरती हैं। यदि संन्यासी के आधार पर निष्कर्ष निकालें तो सिद्ध होगा कि भारत की ८० प्रतिशत स्त्रियाँ आग में जल कर आत्महत्या करती हैं, कारण है पुरुष की अहंवादिता। किन्तु हमारे विचार से जोशी जी पुरुष के अहं पर चोट करते-करते अपनी कला को भी निर्जीव बना बैठे। जब कोई लेखक पहले से ही किसी विचार को पूर्वाग्रह के रूप में स्वीकार करके चलता है तो वह अपनी रचना के साथ न्याय नहीं कर पाता। जिन तथ्यों के लिए जोशी जी की इतनी प्रशंसा की जाती है, यदि सूक्ष्म दृष्टि से उन पर विचार करें तो उनमें जोशी की कला की अनेक अस्वाभाविकताएँ प्रकट होंगी। छायावादी कवियों की भाँति वे भी नारी के व्यक्तित्व की काल्पनिक महत्ता के सम्मुख इस प्रकार नत-मस्तक हो जाते हैं कि उनकी नारी इस धरती की नारी न रह कर स्वर्ग की देवी बन जाती है। कहाँ तो हम सुनते हैं कि आभूषणों के लिए नारी अपने कुल की शान्ति नष्ट कर देती है और कहाँ यह शान्ति कि वह किसी अनजान बालिका के लिए अपना वह हार समर्पित कर देती है जो कि वह वर्षों से छिपाए हुए थी। आश्चर्य यह है कि शान्ति में यह उदारता इलाहाबाद में आकर ही उमड़ पड़ी और वह भी बलदेव की बहन पर। क्या पाठशाला में पढ़ाते समय या उसके पास-पड़ोस में एक भी बालिका शान्ति को ऐसी न मिली कि जिसकी सहायता में वह अपना हार पहले ही दे बैठती ? हमारे विचार से या तो शान्ति के उस समर्पण के पीछे कोई ऐसी ही अप्रत्यक्ष या अस्पष्ट वृत्ति कार्य कर रही थी, जिसे हम फ्रायड की वासना से सम्बन्धित कर सकते हैं। अन्यथा उसका यह दान अस्वाभाविक है। वास्तव में वह इस रूप में बलदेव की ही सहायता कर रही थी।

४५. क्या मृगनयनी रोमानी उपन्यास है ?

पाश्चात्य साहित्य में जीवट और प्रेम से पूर्ण उपन्यासों को रोमांस का नाम दिया गया है। यद्यपि रोमांस शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से की है किन्तु यह लगभग निश्चित है कि रोमांस में कल्पना का एक स्वच्छन्द वेग होता है, उसका नायक साहस और प्रेम का जीवित पुतला होता है, विभिन्न कठिन परिस्थितियों का सामना करता हुआ तथा अपने शौर्य का परिचय देता हुआ वह जीवन-पथ पर आगे बढ़ता है, किन्तु इस शौर्य में एक निष्ठुर क्रूर की सी कठोरता नहीं होती, उसके नीचे छिपा हुआ होता है एक कोमल हृदय जो प्रेम रस में सराबोर होता है। नायक अपने इन गुणों के कारण पाठक की सहज सहानुभूति को बरबस ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। इस प्रकार के नायक को लेकर हिन्दी में लिखे गये विशुद्ध रोमांस कम ही हैं।

रोमांस की दृष्टि से मृगनयनी की व्याख्या करने से पूर्व यह विचार कर लेना आवश्यक होगा कि मृगनयनी क्या वास्तव में रोमांस है अथवा कितने अंशों में रोमांस है ? हिन्दी के विभिन्न आलोचकों ने इसमें रोमानी उपन्यासों के तत्त्वों का निदर्शन किया है। डा० सत्येन्द्र जी ने 'मृगनयनी में कला और कृतित्व' में इसे ऐतिहासिक रोमांस स्वीकार किया है। उपन्यास की भूमिका को देखने से भी यह सिद्ध होता है कि लेखक का भी ध्यान इसे ऐतिहासिक रोमांस बनाने का अवश्य था, क्योंकि उनके अनुसार उनकी 'एक सम्मानित पाठिका ने उनसे मृगनयनी और मानसिंह के ऐतिहासिक रूमानी कथानक पर उपन्यास लिखने का अनुरोध किया था'। अतः इस उपन्यास में रूमानी उपन्यास के तत्त्वों के होने की बहुत सम्भावना है।

मृगनयनी उपन्यास का नायक मानसिंह है, वह आठ रानियों से विवाह के पश्चात् मृगनयनी से विवाह करता है। इस विवाह के लिए भी उसे विशेष

कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, उसके विचार मात्र से प्रेमपूर्ण व्यवहार चलता है, विभिन्न कलाओं की साधना होती है, गयासुद्दीन व सिकन्दर लोदी के आक्रमणों के कारण बीच-बीच में उसकी यह साधना भंग भी हो जाती है, एक-दो बार आक्रमणकारियों को पराजित भी कर देता है, उसका सामन्त अपनी राजभक्ति के जोश में सिकन्दर से जाकर टक्कर लेता है। उसका सिर काट लिया जाता है। किन्तु यह सब कुछ देख कर भी हमारे नायक की कला-साधना भंग नहीं होती। तुर्कों के आक्रमण के समय उन्हें धन देकर संतुष्ट करने की बात भी सूझती है। आगे चल कर वह नरवर का किला भी हार जाता है, अपने राजकुमारों में से राजगद्दी किसको दी जाय—इस समस्या के सामने भी वह परास्त सा दिखाई पड़ता है। (वस्तुतः सब कुछ मिलाकर देखें तो मानसिंह तोमर में प्रेम और शौर्य की वह चरम परिणति नहीं मिलती जिसके आधार पर उसे रोमांस का नायक कहा जा सके। आठ रानियों के पश्चात् जिस सरलता से उसका मृगनयनी से सम्बन्ध जुड़ता है वह एक रोमांस के लिये यथेष्ट नहीं, राजमहल की चार दीवारियों के भीतर चलने वाला उसका प्रणय भी बहुत गहरा नहीं कहा जा सकता, उसके शौर्य में भी विपत्तियों के सामने जाकर टकराने की प्रेरणा नहीं है, मानसिंह का शौर्य आई हुई विपत्तियों को किसी प्रकार टालने में ही व्यंजित हुआ है, और उन्हें भी वह पूर्णतः टाल नहीं सका। सांसारिक दृष्टि से मानसिंह को एक व्यवहार कुशल शासक कह सकते हैं, किन्तु रूमानी उपन्यास का नायक नहीं।

शौर्य की व्यंजना वस्तुतः इस उपन्यास में जैसी मृगनयनी और लाखी के द्वारा हुई है वैसी अन्य पात्रों के द्वारा नहीं। यद्यपि वे नारी हैं किन्तु नाहर और तेन्दुए का शिकार एक ही बाण में कर देने में समर्थ हैं। दुर्गम वनों में प्रवेश करते हुए घनी झाड़ियों और गहरी घाटियों को पार करते हुए भी वे नहीं घबरातीं। वे दो होकर भी चार सुसज्जित घुड़सवारों का सामना कर सकती हैं। वस्तुतः उनमें आई हुई विपत्ति का निराकरण करने की ही हिम्मत नहीं, अपितु विपत्ति के सामने दौड़ कर उससे टक्कर लेने का साहस भी उनमें है जो रोमांस में अनिवार्यतः होता है।

राजा के रनिवास में जाकर भी मृगनयनी की शौर्य भावना का वेग कम

नहीं पड़ता । वह कलाओं में पारङ्गत होती है किन्तु उससे उसकी कर्तव्य भावना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । जब मानसिंह आक्रमणकारी तुर्कों को धन देकर शान्त करने की सोचता है तो मृगनयनी जो उत्तर देती है वह दोनों के चरित्र के अन्तर को स्पष्ट कर देता है—'कलाओं की बहुत अधिक पूजा ने ही क्या आपके ध्यान को राजनीति के दाम वाले अङ्क पर अधिक जा बिठलाया । दण्ड की बात आप क्यों नहीं सोच रहे हैं ।'

वस्तुतः मृगनयनी में जिस शौर्य भावना का परिचय मिलता है, उसकी ऊँचाई तक मानसिंह नहीं पहुँच पाता । किन्तु राजभवन में पहुँच जाने के बाद मृगनयनी की परिस्थितियों ने उसे कोई ऐसा अवसर प्रदान नहीं किया जिससे वह क्रियात्मक रूप में अपनी शौर्य भावना का प्रदर्शन कर सकती । इसके विपरीत लाखी को अवसर अधिक मिले ।

सबसे पूर्व यदि लाखी और अटल का प्रेम सम्बन्ध लें तो वह भी उनके साहस का परिचायक है । मृगनयनी और मानसिंह का प्रणय सम्बन्ध तो बिना किसी विरोध के कुछ घड़ियों में ही स्थिर हो गया और अन्त तक निर्बाध गति से चलता रहा । किन्तु लाखी और अटल की परिस्थितियाँ विषम थीं । उनका विवाह सम्बन्ध एक सरल कार्य नहीं था, उसके लिये उन्हें समाज और जाति से लोहा लेना पड़ा, एक शहर से दूसरे शहर मारे-मारे फिरते रहे । वस्तुतः विवाह उनके जीवन में एक खिला हुआ फूल बन कर नहीं आया अपितु एक जलता हुआ अङ्गारा बन कर आया, जिसकी आँच से वे जहाँ भी गये, झुलसते रहे । चाहे राई गाँव के अहीरों की बस्ती में हो, चाहे नरवर के मन्दिर में बैठे हों, सर्वत्र जाति-भेद का अङ्गारा उन्हें जलाता रहा, जिसकी जलन को लाखी अपनी मृत्यु के समय तक नहीं भूल सकी और भिक्षा के रूप में अटल से मांगना पड़ा, 'अपनी जाति में विवाह कर लेना ।'

अटल और लाखी में प्रेम और शौर्य की मिश्रित भावनाओं का विकास आरम्भ से अन्त तक होता गया है । समाज और जाति से लोहा लेना उनकी क्रान्तिकारी भावनाओं का परिचय देता है, ग्वालियर राज्य में शरण न ले कर नटों के साथ किसी अज्ञात प्रदेश के लिये प्रस्थान कर देना उनकी साहसिक भावनाओं का परिचय देता है, नटों के घेरे में से निकलना उनकी

बुद्धिमत्ता का सूचक है, और अन्त में राईगढ़ की रक्षा में दोनों का एक ही रात्रि में प्राणों की आहुति दे देना, दोनों के अक्षुण्ण गौरव का ज्वलंत प्रमाण है। इनके जीवन की विषमता के सामने मृगनयनी और मानसिंह की जीवन लीला बहुत कुछ समता पर चलती दिखाई देती है। जहां लाखी और अटल के जीवन में विद्रोह है, कठिनाइयाँ हैं, दौड़-धूप है, त्याग है और बलिदान है वहाँ मृगनयनी और मानसिंह के जीवन में शान्ति है, प्रेम है, राग है, रङ्ग है, नृत्य है, संगीत है और है जीवन की सुखमय परिणति। अतः हम कहेंगे कि लाखी और अटल की शौर्य और प्रेम पूर्ण कहानी में एक रोमानी नायक और नायिका की कहानी चित्रित हुई है, यद्यपि यह कहानी मुख्य कहानी नहीं है, मुख्य कहानी के समानान्तर चलती है, किन्तु फिर भी इसका महत्त्व कम नहीं है।

अस्तु, हम कह सकते हैं कि मृगनयनी में रोमानी उपन्यासों के तत्त्व कुछ मात्रा में आ गए हैं, किन्तु उनका सम्बन्ध मूल कथानक से नहीं, लाखी और अटल के प्रासंगिक आख्यान से है। वस्तुतः इतिहास का अंकुश होने के कारण मानसिंह और मृगनयनी के निर्माण में लेखक की कलम पूर्ण स्वच्छन्दता से आगे नहीं बढ़ सकी, यही कारण है कि कई स्थलों पर उसे नायिका नायक के रोमानी स्वप्नों को वास्तविकता की कैंची से काट देना पड़ा।